माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालायाः

३८. अष्टत्रिंशत्तमो ग्रन्थः ।

स्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य अलङ्कारभूतः

न्यायकुमुदचन्द्रः

[प्रथमो भागः]



स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी जे० पी० बंबई.

संपादकः—

पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्री.

स्या० वि० काशी ।

[मूल्यं रूप्यकाष्टकम् ८).]

B. H. U. Press, Benares.

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

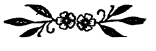
स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्या य कु मु द च न्द्रः

[प्रथमो भागः]



स चायम्

काशीस्थश्रीस्याद्वादमहाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्रिणा
पाठान्तर-तुलनात्मकटिप्पणी-अवतरणनिर्देशादिभिः संस्कृत्य
संशोधितः, संपादितश्च ।



प्रकाशक :—

मन्त्री—श्री नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

वीरनिर्वाणाब्दाः २४६४.

विक्रमाब्दाः १९९५.] प्रथमावृत्ति ६०० प्रति. [क्रिस्ताब्दाः १९३८.

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण-आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका
जैनग्रन्थावलिः ।

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-**स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र** जे. पी.
महाशयानां स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।



अवै० मन्त्री— **श्री पं० नाथूरामः प्रेमी,** बम्बई ।
श्री प्रो० हीरालालः M. A. LL. B. अमरावती ।

कोषाध्यक्षः— **श्री ठाकुरदास-भगवान्दासः जवेरी** बंबई ।

ग्रन्थांकः—३८.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग
पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४.



स्थापनाब्दाः] सर्वेऽधिकाराः संरक्षिताः [वि० सं० १९७२.

NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

VOL. 1.

A commentary on Bhaṭṭâkalankadêvas' Laghîyastrya.

EDITED WITH :—*EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF JAIN, BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES, AND THE VARIANT READINGS ETC.*

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYA SHASTRI

JAIN & PRÂCHÎN NYÂYÂTÎRTHA.

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG. JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

KASHI.

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES.

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY, 4.

E. 1995] *First Edition, 600 Copies.* [1938 A. D.

MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL, HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAIN LITERATURE IN PRÂKRITA, SAṂSKṚIT AND APABHRAṂŚA.

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

Late, Dânvîr, Seth Mânik Chandra Hira Ch.

JUSTICE OF PEACE. BOMBAY.

NUMBER 38

HON. SECRETARIES :—

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER :—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay.*

PUBLISHED BY

Secy. MÂNIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded] *All rights reserved.* [1915 A.D.

न्यायकुमुदचन्द्र-प्रथमभाग की विषयसूची

विषय	पृष्ठ
निवेदन	vii-viii
प्राक्कथन	ix-xiii
सम्पादकीयं किञ्चित्	xiv-xx
(सम्पादनगाथा, संस्करणपरिचय, प्रतिपरिचय, आभारप्रदर्शन आदि)	
प्रस्तावना	१–१२६
ग्रन्थ परिचय	१–४
लघीयस्त्रय	१
विवृति	४
न्यायकुमुदचन्द्र	४
ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार	४–१२
लघीयस्त्रय सविवृति	४–७
प्रकरणग्रन्थ	४
रचनाशैली	५
लघीयस्त्रय और विवृति में आगत विशेष नाम आदि	६
न्यायकुमुदचन्द्र	७–१२
नाम	७
रचना शैली	८
न्यायकुमुदचन्द्र की इतर दर्शनों से तुलना	९–११
न्यायदर्शन	९
प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त	१०
वैशेषिकदर्शन	१०
सांख्ययोग	,,
वेदान्तदर्शन	१०
मीमांसादर्शन	,,
बौद्धदर्शन	११
वैयाकरणदर्शन	,,
जैनाचार्य	,,
विषय परिचय	१२–२२
प्रथम परिच्छेद	१२–१४
द्वितीय परिच्छेद	१४
तृतीय परिच्छेद	१४–१६
चतुर्थ परिच्छेद	१६–१७
पञ्चम परिच्छेद	१७–१९
षष्ठ परिच्छेद	१९–२१
सप्तम परिच्छेद	२१–२२
लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तव्य	२२–२४
श्रीमद्भट्टाकलङ्क	२४–११४
प्राक्कथन	२४–२५
अकलंक नाम के अन्य विद्वान्	२५–२६
जन्म भूमि और पितृकुल	२६–२७
बाल्यकाल और शिक्षा	२७–३०
विद्यार्थीजीवन और संकट	३०–३२
निष्कलंक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं	३२–३४
हंस परमहंस की कथा	३४–३५
शास्त्रार्थी अकलंक	३५–४१
ग्रन्थकार अकलंक	४१–५८
तत्त्वार्थराजवार्तिक	४३–४४
अष्टशती	४५–४६
लघीयस्त्रय	४६
स्वोपज्ञ विवृति	४६
न्यायविनिश्चय	४७–४८
न्यायविनिश्चयवृत्ति	४८–४९
सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)	५०–५२
प्रमाणसंग्रह	५२–५३
वृहत्त्रय	५३–५४
न्यायचूलिका	५४
स्वरूपसम्बोधन	५४–५५
अकलंकस्तोत्र	५५–५७
अकलंक प्रतिष्ठापाठ	५७
अकलंक प्रायश्चित्त	५७
अकलंक का व्यक्तित्व	५८–६०
जैनन्यायके प्रस्थापक अकलंक	६०–६९
अकलंकके पूर्व जैन न्यायकी रूपरेखा	६१–६४
अकलंक और जैनाचार्य	७०–८४

विषय	पृष्ठ
कुन्दकुन्द और अकलंक	७०
उमास्वाति और अकलंक	७०
भाष्यकार और अकलंक	७१
समन्तभद्र और अकलंक	७१–७२
सिद्धसेनदिवाकर और अकलंक	७२–७३
श्रीदत्त और अकलंक	७३
पूज्यपाद और अकलंक	७३
पात्रकेसरी और अकलंक	७३–७६
मल्लवादि और अकलंक	७६
जिनभद्रगणि और अकलंक	७६–७८
हरिभद्र और अकलंक	७८
सिद्धसेनगणि और अकलंक	७८
विद्यानन्द और अकलंक	७९
माणिक्यनन्दि और अकलंक	७९–८१
वार्तिककार और अकलंक	८१–८२
वादिराज और अकलंक	८२
अभयदेव और अकलंक	८३
हेमचन्द्र और अकलंक	८३
वादिदेव और अकलंक	८३
विमलदास और अकलंक	८४
धर्मभूषण और अकलंक	८४
यशोविजय और अकलंक	८४
अकलंक और जैनेतर ग्रन्थकार	**८४–९८**
पतञ्जलि और अकलंक	८४
वसुबन्धु और अकलंक	८४
दिङ्नाग और अकलंक	८५
धर्मकीर्ति और अकलंक	८५–८८
भर्तृहरि और अकलंक	८८–८९
कुमारिल और अकलंक	८९–९३
शान्तभद्र और अकलंक	९३
धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर और अकलंक	९३–९७
अर्चट और अकलंक	९७
शंकराचार्य और अकलंक	९८
वाचस्पति और अकलंक	९८
अकलंक देव का समय	**९८–११०**
समकालीन विद्वान	**१११**
पुष्यषेण और वादीभसिंह	१११–११४
कुमारसेन और कुमारनन्दि	११३
वीरसेन	११३
परवादि मल्लदेव	११३
श्रीपाल	११३
माणिक्यनन्दि	११३
विद्यानन्द	११३
अनन्तवीर्य	११४
प्रभाचन्द्र	११४
न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र	**११४–११७**
प्रभाचन्द्र का समय	**११७–२३**
प्रभाचन्द्र का बहुश्रुतत्व	**१२३**
प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ	**१२४**
प्रमेयकमलमार्तण्ड	१२४
न्यायकुमुदचन्द्र	१२४
तत्त्वार्थवृत्ति	१२४–१२५
शाकटायनन्यास	१२५
आत्मनिवेदन, आभार प्रदर्शन	१२५-२६
प्रस्तावनोपयुक्तग्रन्थसूची	**१–२**
ग्रन्थसंकेतविवरण	1–8
मूलग्रन्थका विषयानुक्रम	9–38
न्यायकुमुदचन्द्र (मूलग्रन्थ)	**१–४०२**
श्र० प्रति के पाठान्तर	**४०३–४०८**
शुद्धिपत्र	**४०८**

निवेदन

माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला का यह ३८ वाँ ग्रन्थ पाठकों के सामने उपस्थित किया जा रहा है। इस माला को प्रारंभ हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके। शुरू से ही मैं इसकी यथाशक्य सेवा कर रहा हूँ। इसके लिए समाज से अब तक लगभग १५-१६ हजार रुपये मिले होंगे जो स्टॉक के रूप में अब भी सुरक्षित हैं; मूलधन में कोई घाटा नहीं है; यदि स्टॉक के मूल्य को मूलधन समझा जाय तो।

जिस समय ग्रन्थ माला का आरंभ हुआ उस समय ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करना बहुत कठिन था और उससे भी अधिक कठिन था सम्पादन संशोधन करने वाले योग्य विद्वानों को पा लेना। आधुनिक सम्पादन पद्धति के जानकार परिश्रमी और बहुश्रुत विद्वानों का तो एक तरह से अभाव ही था। इस कारण अब तक प्रकाशन का कार्य बहुत मन्द गति से हुआ और जो कुछ हुआ उससे केवल इतना ही सन्तोष किया जा सकता है कि किसी तरह इतने ग्रन्थ प्रकाश में आ गये, एक समय जो दुर्लभ थे वे सुलभ हो गये, भले ही उनके संस्करण विशेष उत्तम और उपयोगी न हों।

परन्तु अब हस्तलिखित प्रतियाँ प्रयत्न करने से उपलब्ध होने लगी हैं और सुहृद्वर प्रो० हीरालाल जी जैन, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० एल० वैद्य, पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, आदि ग्रन्थ-सम्पादन-कार्यदक्ष विद्वानों का भी सहयोग मिलने लगा है, जिससे ग्रन्थ प्रकाशन कार्य खूब तेज़ी से किया जा सकता है, करने का उत्साह भी है। परन्तु इधर बीच में ही आर्थिक प्रश्न आकर खड़ा हो गया है, **"द्राक्षाप्रपाकसमये मुखपाको भवति"** वाली बात हो गई है, ग्रन्थ माला का फण्ड समाप्तप्राय है और जो कुछ रुपया शेष है, उससे मुश्किल से न्यायकुमुदचन्द्र का द्वितीय खण्ड ही प्रकाशित हो सकेगा। महापुराण के उत्तर खण्ड (उत्तर पुराण) का काम तो बन्द ही कर देना पड़ा है। यद्यपि मागधी और अपभ्रंश भाषाओं के दिग्गज विद्वान् डॉ० पी० एल० वैद्य महोदय ने अतिशय परिश्रम से उसकी प्रेस-कापी तैयार कर रक्खी है।

पिछले २२ वर्षों में मैंने कभी यह महसूस ही नहीं किया था कि कभी रुपयों के अभाव में प्रकाशन-कार्य को रोक देना पड़ेगा। क्योंकि-वर्ष में जितना रुपया खर्च होता था, लगभग उतनी बिक्री हो जाती थी और सौ दो सौ रुपया ऊपर से सहायता भी मिल जाती थी। परन्तु इधर **हरिवंशपुराण, पद्मचरित, महापुराण, न्यायकुमुदचन्द्र** आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में अनुमान से अधिक रुपया लग गया, बिक्री कुछ बढ़ी नहीं और सहायता भी इस समय जितनी मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। ऐसी दशा में तब तक के लिए कार्य स्थगित कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है जब तक कि ग्रन्थों की बिक्री से अथवा धनियों की सहायता से काम चलाऊ धन एकत्र न हो जाय।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की मंजूरी ग्रन्थमाला की प्रबन्धकारिणी कमेटी से अब से लगभग १६ वर्ष पहले ली जा चुकी थी और उसी समय कुछ प्रेस-कापी भी करा ली गई थी; प्रबल इच्छा थी कि यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय; परन्तु यथेष्ट मूल प्रतियों के प्राप्त न हो सकने और सुयोग्य सम्पादक के न मिलने से काम रुक गया और अब इतने लम्बे समय के बाद वह इच्छा पूर्ण हो रही है और जिस रूप में हो रही है उसे देखकर कम से कम मुझे तो यथेष्ट सन्तोष है। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी के शब्दों में सचमुच ही इस ग्रन्थ के द्वारा दिगम्बरीय साहित्य में प्रकाशन कार्य का एक नया युग प्रारम्भ होता है। अब तक हमारा एक भी ग्रन्थ इस ढंग से सुसम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है।

जैनसमाज के असाधारण विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को इस रूपमें सम्पादित करने के लिए सम्पादकद्वय को उत्साहित किया, अमूल्य सूचनायें दीं, साधन-सामग्री जुटाने में हर तरह से सहायता दी और इस ग्रन्थ के लिए प्राक्कथन के रूप में हमारे सम्प्रदाय और उसके साहित्य के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार उपस्थित किये।

इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है और प्रयत्न किया जा रहा है कि वह यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित हो जाय।

ग्रन्थों के मूल्य के सम्बन्ध में कुछ शुभचिन्तकों ने शिकायत की है कि वह पहले की अपेक्षा ज्यादा रक्खा गया है। इसे हम स्वीकार करते हैं; परन्तु इसका कारण एक तो यह है कि पिछले ग्रन्थों के सम्पादन संशोधन और साधन-सामग्री जुटाने में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खर्च हुआ है, दूसरे संख्या में भी ये पांच-छह सौ से अधिक नहीं छपाये गये हैं, तीसरे अब सौ रुपया या इससे अधिक देने वाले सहायकों को प्रत्येक ग्रन्थ की एक एक प्रति बिना मूल्य देने का नियम बन गया है जिससे प्रत्येक ग्रन्थ की लगभग सौ प्रतियाँ यों ही चली जाती हैं। इसके सिवाय दूकानदारों को कमीशन भी देना पड़ता है। ऐसी दशा में लागत बढ़ जाना अनिवार्य है और इससे मूल्य अधिक रखना पड़ता है।

पाठकों को विश्वास रखना चाहिए कि ग्रन्थमाला का उद्देश्य प्राचीन साहित्य का उद्धार करना है, कमाई करना नहीं; फिर भी यदि ग्रन्थमाला के फण्ड में इस बढ़े हुए मूल्य से कुछ अधिक धन आ जायगा तो वह ग्रन्थोद्धार के कार्य में ही लगेगा।

हीराबाग, बम्बई
३–७–३८

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी
मन्त्री

प्राक्कथन

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने गिने दिगम्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचार वाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक दृष्टिवाले तथा सच्ची लगन से दिगम्बरीय साहित्य का उत्कर्ष चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्यायकुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा सम्बन्ध न होता, तो मैं इस वक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिगम्बर-परम्परा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही, सम्बन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लंबे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध सा नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्य प्रवृत्ति देखिये और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिये। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलङ्क आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे वनवासी रहे हों, या नगरवासी; फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्राहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल प्रतिकूल समालोचना-योग्य गंभीर चिंतन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस पास ऐसे पुस्तक संग्रह किये, कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण छोटे बड़े सभी ग्रन्थों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से भी संतुष्ट न रहते थे, पर उनके अध्ययन अध्यापन कार्य को अपना जीवन-क्रम बनाये हुए थे। इसके बिना उनके उपलभ्य ग्रन्थों में देखा जाने वाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशाल-राशि तत्कालीन भारतीय-साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को बिना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय, वेदान्त, मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर-परम्परा इससे बिलकुल अछूत-सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर साहित्य का उससे बिलकुल अछूत रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सुबूत है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बरपरम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता।

कारण कुछ भी हो पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पिछले भट्टारकों और पंडितों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परंपरा पर पड़ा जो अब तक स्पष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलभ्य प्रायः सभी भाण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन अध्यापन प्रणाली और पंडित-मंडली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगम्बर-भाण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेताम्बर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्त्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगम्बर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन चिंतन होता हो। या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिसमें यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की भाँति नहीं तो उनके शतांश या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परम्परा में पाई जानेवाली उदात्त शास्त्रभक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्य क्षेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है कि हो सके उतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके विना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान संभाल सकेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाय तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासत लभ्य है जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमान युगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझ को दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(१) समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जायँ जिससे उन्हें पढ़ने वाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परम्परा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्यसा हो जाय।

(२) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जायँ, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन किन उपादानों के आधारपर उन्होंने अपनी कृतियाँ रचीं थीं तथा उनकी कृतियों में सन्निविष्ट विचार-परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(३) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एक मात्र साधन जो सर्वसंग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठन प्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रक्खा था कि अपनी ओर से बिना कुछ किये औरों को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आप्तमीमांसा का अनुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच में सन्मतितर्क के संपादन काल में कुछ अपूर्व दिगम्बरीय ग्रन्थरत्न मुझे मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय टीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवत्तर हो गई। उधर प्रेमीजी का तकाज़ा कि मदद मैं यथा संभव करूँगा पर इसका सन्मति जैसा तो संस्करण निकालो ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिम्मे न लेने की निजी मनोवृत्ति। इस द्वंद्व में दश वर्ष बीत गये। मैंने इस बीच दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिगम्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परम्परा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग अलग से, दो दिगंबर पंडितों को भी, शायद सन् १९२६-२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाबी नहीं हुई, वह प्रयत्न उस समय वहीं रहा, पर प्रेमीजी के तकाज़े और निजी संकल्प के वश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १९३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही मुझे दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परीचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् कुमुद का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्य साधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फल स्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कह कर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गई हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिस जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संग्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जायँ ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की प्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सके कि अमुक मत या उसको पोषक परम्परा किन मूलग्रन्थों पर अवलंबित है और उसका असली भाव क्या है? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी या पंडित प्रभाचन्द्रवर्णित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतन्त्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणिओं के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिगम्बर श्वेताम्बर न्याय प्रमाण ग्रन्थों के वास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं; बल्कि बौद्ध ब्राह्मण-परम्परा के दार्शनिक साहित्य की अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में भी काम देंगी। उदाहरणार्थ—

'धर्म' पर की टिप्पणियों को लीजिये। इससे यह विदित हो जायगा कि ग्रन्थकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या क्या हैं। इसके साथ साथ यह भी मालूम पड़ जायगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्देश व खण्डन किया है वे हर एक मतान्तर किस किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारी एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आनखशिख इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्त्व पूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे बड़े टिप्पणों के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह आगे के साहित्य-प्रकाशन में पथ प्रदर्शक भी हो सकता है। राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उत्कृष्टतर ग्रन्थों का जो अपकृष्टतर प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में आगे अब कैसा होना चाहिए, इसका नह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पण्डितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पण्डित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण-योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य को विशिष्ट और महती आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उन्हें जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं कहीं ऐसी बात आ गई है जो तटस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ 'प्रमाण' पर के अवतरण-संग्रह को लीजिये इसके शुरु में लिख तो यह दिया गया है कि क्रम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर फिर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रम विकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तटस्थ विचारक को ऐसा देख कर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतरणों का संग्रह सम्प्रदायबार जमाना इष्ट था तब वहाँ क्रम-विकास शब्द के प्रयोग की जरूरत क्या थी ?

ऊपर की सूचना मैं इसलिए करता हूँ कि आयंदा अगर ऐतिहासिक दृष्टि से और क्रम विकास दृष्टि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्त्व की और विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्त्व कम नहीं होता।

अंत में दिगम्बर परम्परा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लग कर सर्व संग्राह्य हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जायँ और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र के संस्करण को भी भुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगम्बर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्यायकुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार यहाँ लिखे हैं। यद्यपि जैन-परम्परा के स्थानक वासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव उतार के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण-परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुदे जुदे रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिगम्बर-परम्परा को ही लक्ष्य में रख कर लिखा है। क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राक्कथन में अधिक चर्चा की गुंजाइश भी नहीं।

हिन्दू विश्वविद्यालय
२६-४-३८

—सुखलाल संघवी
[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय काशी।
भूतपूर्वाचार्य गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद।]



सम्पादकीयं किञ्चित्

सम्पादन गाथा—सन् १९३३ के मार्च की बात है, ग्रन्थमाला के मन्त्री पं० नाथूरामजी प्रेमी की कुछ ग्रन्थों के अन्वेषणार्थ एक सूचना निकली। उसका उत्तर देना ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का श्री गणेश है।

प्रेमीजी की इच्छा रही कि इसका सम्पादन सन्मतितर्क सरीखा महत्त्वपूर्ण एवं सामग्री-सम्पन्न हो। सौभाग्य से सन्मतितर्क के सम्पादक पं० सुखलाल जी सा० काशी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन के अध्यापक होकर आए और वे ही अपने हाथ से प्रेमी जी का वह पत्र लाए जिसमें न्यायकुमुदचन्द्र के सुसम्पादन की खास प्रेरणा थी। मैंने पं० कैलाशचन्द्र जी से सम्पादन में यथाशक्ति सहायता का वचन मिलने पर सम्पादन-कार्य शुरू किया।

पं० सुखलाल जी के नित्योत्साह तथा सुनिश्चित कार्यपद्धति के अनुसार इसका कार्य चालू किया गया। इसी बीच पंडितजी के साथ तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रमाणमीमांसा, जैनतर्कभाषा तथा ज्ञानबिन्दु के सम्पादन में कार्य करने का अवसर मिला। इन ग्रन्थों के सम्पादन निमित्त देखी गई प्रचुर जैन-जैनेतर ग्रन्थ राशि का न्यायकुमुदचन्द्र में, तथा न्यायकुमुदचन्द्र के लिए देखे गए ग्रन्थसमुदाय का उक्तग्रन्थों में खूब उपयोग हुआ। करीब २२५ ग्रन्थों का तो इसी ग्रन्थ की टिप्पणी सङ्कलित करने में उपयोग किया है। जिसमें प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चयटीका, नयचक्र-वृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दुटीका जैसे अलभ्य लिखितग्रंथ तथा प्रमाणवार्त्तिक, वार्तिकालंकार, वादन्याय जैसी दुर्लभ प्रूफ पुस्तकें भी शामिल हैं।

ब० और ज० प्रति में शक्तिनिरूपण के बाद करीब २२ पत्र का पाठ छूटा है। ये पत्र आ० प्रति में अर्ध त्रुटित थे। इस पाठ की पूर्ति के लिए हमने उत्तर प्रान्तकी आरा, व्यावर, खुरजा, इन्दौर, ललितपुर आदि स्थानों की प्रतियों की जांच कराई तो मालूम हुआ कि सभी प्रतियों में उक्त पाठ छूटा ही हुआ है। अन्ततो गत्वा भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मन्दिर पूना की ताड़पत्रवाली प्रति से उक्त पाठ की पूर्ति करने की आशा से पूना गया। और वहां १ माह रहकर एक कनड़ी जानकार की सहायता से वह २२ पत्र का टूटा हुआ पाठ पूरा करके ग्रन्थ को अखंड किया। पीछे से श्रवणबेलगोला से भट्टारक श्री चारुकीर्ति द्वारा भेजी गई ताड़पत्र की प्रति मिल जाने से उसके पाठान्तर भी ग्रन्थ के इस भाग के अन्त में दे दिए हैं। इस तरह लगातार पाँच वर्ष के सतत और कठिन परिश्रम के बाद प्रस्तुत भाग को संभव-सामग्री-संपन्न बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण और उसकी विशेषताएँ—इस संस्करण में मुद्रित मूलग्रन्थ और उसकी व्याख्या साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है उनका संपादन भी उतनी ही तत्परता और संलग्नता से किया गया है और आज कल की सुविदित सम्पादन प्रणालियों पर दृष्टि रखते हुए संस्करण को अधिक से अधिक उपादेय और उपयोगी बनाने की चेष्टा में अपनी दृष्टि से कोई कमी नहीं की गई है। दिगम्बर साहित्य के अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थों की पिछड़ी हुई दशा को देखकर तथा दूसरे दूसरे अच्छे अच्छे संस्करणों की अग्रगामिता को ध्यान में रखते हुए हमने इस बात का यह लघुप्रयत्न किया है कि प्रकाशन तथा सम्पादनक्षेत्र में कुछ

प्रगति हो तथा उसकी समग्रता का मापदण्ड कुछ ऊँचा हो। तथा प्रचलित अध्ययन क्रम में परिवर्तन होकर कुछ विशाल दृष्टि उत्पन्न हो। इसकी सफलता की जांच तो पाठक ही कर सकेंगे। इस संस्करण की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

पाठान्तर—इसके सम्पादन में अति प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया गया है और मौलिक पाठान्तर नीचे टिप्पण में दे दिये गये हैं। पाठान्तर देते समय हमारे सामने प्रधानतया दो दृष्टियाँ रहीं हैं—एक अर्थ विषयक और दूसरी लिपिविषयक। अर्थ की दृष्टि से जो पाठ विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए उन्हें मूल में दिया है और शेष को टिप्पण में। लिपि-विषयक पाठान्तर पाठकों को यह बतलाने के लिये दिये हैं कि किस तरह लिपिसाम्य से लेखकगण कुछ का कुछ समझ लेते हैं और उनकी यह भूल अर्थ का अनर्थ तो करती ही है; किन्तु पाठान्तरों की भी सृष्टि कर डालती है। उदाहरण के लिये, 'तद्धि स्वकारण' का लिपि-दोष से 'तद्विश्व-कारण' समझ लिया गया। पाठान्तर को ठीक २ समझने के लिये जिस शैली का अनुसरण किया है उसे जान लेना भी आवश्यक है। पाठान्तर जिस वर्ण से प्रारम्भ होता है ऊपर उस वर्ण पर ही अंक दिया है। यदि पाठान्तर किसी शब्द का अंश है और उसके प्रारम्भ के, अंत के या दोनों ओर के कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं, तो उनको बतलाने के लिये नीचे टिप्पण में पाठांतर के आगे, पीछे या दोनों ओर डैश लगा दिये गये हैं। यथा 'तद्धिस्वकारण' का पाठांतर 'तद्विश्वकारण' है तो 'तद्धि' के 'त' के ऊपर अंक देकर, नीचे टिप्पण में 'तद्विश्वका-' इस रूप में पाठान्तर दिया है। 'का' के आगे का डैश बतलाता है कि कुछ वर्ण छोड़ दिये गये है जो मूल पाठ के ही सदृश हैं।

टिप्पणी—इस संस्करण का सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया भाग इसकी टिप्पणी (Foot note) है। इसके लिये जैन बौद्ध और वैदिक दर्शन के उपलब्ध प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का यथासंभव उपयोग किया गया है। संस्कृत वाङ्मय के पठन-पाठन में आजकल हम लोगों ने एक दृष्टि को बिल्कुल ही भुला दिया है। दार्शनिक प्रबन्धों में भी न केवल ऐतिहासिक घटनाओं के बीज निक्षिप्त रहते हैं, किन्तु उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक युक्ति और प्रत्येक सिद्धान्त अपने उदर में अपनी कहानी छिपाये हुए है। यह बात इतनी सत्य है कि विद्वत्समाज उसे स्वीकार किये बिना न रहेगा। प्राचीन साहित्य के किसी भी ग्रंथ का अध्ययन करते समय अध्येता को यह स्मरण रखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की रचना में तत्कालीन परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। और यदि उसके पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थों के साथ उसे तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ा जाये तो ऐसे ऐसे रहस्यों का उद्घाटन होता है जिनकी कल्पना कर सकना भी संभव नहीं है। साहित्य चाहे वह दार्शनिक हो या धार्मिक, सामाजिक हो या राजनैतिक, पौराणिक हो या व्याख्यात्मक, अपने समय के द्वन्द्वों का प्रतिबिम्ब होता है। जिस साहित्य में केवल वस्तु विवेचन हो, वह भी इस द्वन्द्व से अछूता नहीं रह सकता तब जिसमें वस्तुविवेचन के साथ साथ उस समय के प्रचलित मत-मतान्तरों की आलोचना की गई हो, वह साहित्य अपने रचनाकाल के प्रभाव से कैसे अछूता रह सकता है ? लघीयस्त्रय तथा उसकी स्वोपज्ञ विवृति उस समय रचे गये हैं जब भारत की अन्तर्मुखी दार्शनिक परिस्थिति में यूरुप की बहिर्मुखी आधुनिक परिस्थिति से भी अधिक उथल पुथल हो रही थी और भारतवर्ष के दार्शनिक क्षेत्र में धर्मकीर्ति और कुमारिल सरीखे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् अपनी

लेखनी और वाक्शक्ति के द्वारा अपने विरोधी को परास्त करके अपनी विजयवैजयन्ती फहराने में संलग्न थे। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र की रचना भी ऐसे ही द्वन्द्वकाल में ही हुई है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का समय भारत के दार्शनिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस समय में परस्पर के संघर्ष से दर्शन शास्त्र का खूब विकास हुआ, प्रबल प्रतिवादियों के आक्रमणों से आत्मरक्षा करने के लिये नये नये सिद्धान्तों का सर्जन और पुरानों का संवर्द्धन हुआ। कई एक नूतन मत आविर्भूत हुए और कई एक पुरातन सिद्धान्त अपने पदचिह्न छोड़कर अस्त हो गए। शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव और बौद्धधर्म का मध्याह्न तथा उसके पतन का श्री गणेश इसी काल में हुआ। इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थ भी लगभग इसी द्वन्द्व काल की रचनाएँ हैं और उनके निर्माता भट्टाकलङ्क और प्रभाचंद्र ने अपने समय के समर्थ तार्किकों के मत की आलोचना उनके ग्रन्थों से अवतरण देकर की है। अतः उनकी आलोचनाओं का रहस्य तथा उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर उनका प्रभाव जानने के लिये यह आवश्यक है कि अध्येता पूर्वकालीन तत्कालीन और उत्तरकालीन दार्शनिक मन्तव्यों से परिचित हो। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर शब्दसाम्य, अर्थसाम्य और भावसाम्य की दृष्टि से प्रत्येक सिद्धान्त और युक्ति का प्रादुर्भाव और विकास बतलाने के लिये पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को टिप्पणी में ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। सङ्कलन करते समय ऐतिहासिक क्रम की रक्षा का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा कुछ टिप्पणियां ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने के लिये तथा कुछ पाठ-शुद्धि के लिये भी दी गई हैं। प्रत्येक विषय के अन्त में उसकी चर्चा के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष सम्बन्धी ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची दी है। जिससे उस विषय के और भी पर्यालोचन के लिए यह सूची निर्देशिका का कार्य देगी।

अवतरणनिर्देश—ग्रन्थ में उद्धृत जिन पद्यों तथा वाक्यों के निर्देशस्थल खोजे जा सके उनके आगे कोष्ठक में उनके मूलस्थल दे दिये गये हैं और इस प्रकार के तथा अन्य उद्धृत पद्यों को जिन जिन ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है टिप्पण में उन ग्रन्थों का भी निर्देश कर दिया है। इससे ग्रन्थकारों का समय निर्णय करने में काफी सहायता मिल सकेगी।

सङ्केतविवरण—टिप्पणी तथा मूलग्रन्थ में अनेक स्थान में सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है। उस का पूरा विवरण दे दिया है; जिससे उन ग्रन्थों का यथावत् उपयोग हो सके।

विषयानुक्रमणिका—इस में प्रत्येक विषय के पूर्वपक्ष की खास खास युक्तियां तथा उत्तर पक्ष के खास खास प्रमाण तथा विचारों का क्रम से विस्तृत संग्रह किया है। जिससे ग्रन्थ के पाठी विद्यार्थियों को विषय याद करने में बहुत सहायता मिलेगी।

परिशिष्ट—इस भाग में 'लघीयस्त्रय' के शब्दों की सूची, लघीयस्त्रय की कारिकाओं की अकारादिक्रम से सूची, विवृति के शब्दों की सूची, न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों की सूची, लक्षणवाक्यों की सूची, उद्धृतपदों की सूची, ग्रन्थ में आगत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नामों की सूची, टिप्पणी सूची, ग्रन्थ के सम्पादन में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, भूमिका में आये नामों की सूची, भूमिका लिखने में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, आदि अनेक परिशिष्ट रहेंगे। यह भाग इस संस्करण के द्वितीय भाग के अन्त में रहेगा। ये परिशिष्ट अन्वेषकों के बड़े काम के सिद्ध होंगे। इनके द्वारा ग्रन्थ का कोई भी विषय सरलता से देखा जा सकता है।

भूमिका—इस भाग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक तथा दार्शनिक मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ विभाग में ग्रन्थ का तुलनात्मक परिचय तथा विशद विषय परिचय दिया गया है। ग्रन्थकार विभाग में अकलङ्क देव का इतिहास निबद्ध किया है और अकलङ्क के साथ प्रायः मुख्य मुख्य सभी जैन तथा जैनेतर ग्रन्थकारों की तुलना करते हुए बहुत सी बातों का रहस्य उद्घाटित किया है। इस भाग को यदि जैनतर्क युगके इतिहास की रूपरेखा कही जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि अकलङ्क देव को जैन न्याय के प्रस्थापक होने का श्रेयः प्राप्त हैं। यदि जैनदर्शन के कोषागार से उनके ग्रन्थरत्नों को अलग कर दिया जाये या जैनन्याय रूपी आकाश से इस जाज्वल्यमान नक्षत्र का अस्तित्व मिटा दिया जाए तो वे सूने और निष्प्रभ हो जायेंगे। अतः इस महापुरुष की जीवनगाथा और जैनन्याय के विकास की आत्मकथा दोनों परस्पर में सम्बद्ध हैं, एक के जीवन का अनुशीलन दूसरे पर प्रकाश डालने के लिये प्रदीप का काम देता है। अतः इस भाग में प्रकृतग्रन्थोंकी तुलनात्मक विवेचना के साथ साथ अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के समय और ग्रन्थों की विवेचना, अकलङ्क से पहले जैनन्याय की रूपरेखा, जैनन्याय को उनकी देन, आदि सभी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है। अकलङ्क के समयनिर्णय के प्रकाश में अन्य भी कई जैनेतर ग्रन्थकारों के प्रचलित समय के बारे में भी ऊहापोह किया गया है, इस लिये ऐतिहासिकों के लिये भी यह प्रस्तावना उपयोगी होगी।

छपाई आदि—मूल, विवृति, व्याख्यान, टिप्पण और पाठान्तर के लिये उपयुक्त टाईप का उपयोग किया है। उद्धरणवाक्य इटालिक में दिये गये हैं जिससे उनके पहचानने में भ्रम न हो। पाठान्तर और टिप्पण में भेदसूचन करने के लिये पाठान्तर को मोटे और शेष टिप्पण को पतले टाईप में दिया है। प्रत्येक पत्र पर पंक्तिसंख्या भी दी गई है जिससे अन्वेषकों को अनेक सहूलियतें रहेंगी। प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर प्रवेश, परिच्छेद, कारिका की संख्या और विषय का निर्देश कर दिया है इससे किसी भी विषय को सरलता से खोजा जा सकेगा।

लिखित प्रतियों में विरामचिह्नों का उपयोग मात्र '।' ऐसी खड़ी पाई का होता है। वह भी लेखक एक पत्र या पंक्ति में शोभा के लिए इतनी पाइयां लगानी चाहिए ऐसा सोचकर जहां मन में आता है वहां लगा देते हैं। हमने इसमें अल्पविराम, अर्धविराम, विराम, आश्चर्य-सूचक, प्रश्नसूचक आदि चिह्नों का उपयोग किया है। किसी खास बात को या पूर्वपक्ष के शब्दों को ' ' इस तरह सिंगल इनवर्टेड कामा में रखा है। अवतरणों को " " डबल इनवर्टेड कामा में रखा है। प्रकरणों का तथा अवान्तर चर्चाओं का वर्गीकरण करके उन्हें भिन्न भिन्न पैरोग्राफ में रखा है। जहाँ प्रकरण शुरू होता है वहाँ बगल में हेडिंग इटालिक टाइप में दे दिया है। इस तरह पाठकों की सुविधा के लिए प्रायः समुचितप्रणालियों पर ध्यान रखके इसका मुद्रण कराया गया है। ग्रन्थ में जो शब्द सभी प्रतियों में अशुद्ध है तथा हमें उन शब्दों की जगह दूसरा पाठ प्रतीत हुआ उसे ( ) इस ब्रेकिट में दिया है। जिससे ग्रन्थ की मौलिकता सुरक्षित रह सके। विशेष व्यक्तियों के नाम या वादों के नामों के नीचे ~~~~ ऐसी लाइन दे दी है। संक्षेप में यही इस संस्करण का सिंहावलोकन है।

संशोधन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय

(१) 'आ०' संज्ञक, ईडरभंडार की जोर्णशीर्ण कीटदष्ट प्रति। इस प्रति में कुल ४११ पत्र हैं। अन्तिम दो पत्र एक एक बाजू पर ही लिखे गए हैं। इसके शुरू के ११ पत्र सदृश लेखक के द्वारा लिखी गई लघीयस्त्रय की स्वविवृति की प्रति से बदल गए हैं, अर्थात् विवृति

के ११ पत्र इसमें लग गए तथा इसके ११ पत्र संभवतः विवृतिकी प्रति में या और कहीं बंध गए होंगे। पर इस विनिमय से हमें विवृति के उद्धार में बहुत सहायता मिली है।

पत्रों की लंबाई चौड़ाई १०$\frac{1}{2}$×४$\frac{1}{2}$ इंच है। एक पृष्ठ में १३ पंक्ति तथा प्रत्येक पंक्ति में ४९–५० अक्षर हैं। इसके प्रारम्भ के १०८ पत्र तथा २१३ और २१४ वें पत्र आधे आधे गल गए हैं। इनको अति सावधानी से उठाने पर भी प्रतिक्षण इसके परमाणु विशीर्ण होते जाते हैं। अन्तिमपत्र तो इतने घिस गए हैं कि आईग्लास की मदद लेने पर भी कठिनता से ही वांचे जा सकते हैं। इसके अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है–'इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मिति ॥ छ ॥ ग्रंथाग्रं १६०००॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतुः ॥···॥ श्री ॥ इसके अन्त में १५२० का अङ्क देने से तथा प्रति की अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि यह प्रति संभवतः संवत् १५२० में लिखी गई हो। इसके ३०८ से ३१३ तक के पत्र किसी दूसरे लेखक के लिखे मालूम होते हैं। कहीं कहीं छूटा हुआ पाठ हाँसिया में दिया गया है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रति लिखी जाने पर फिर से मिलाई गई है। अक्षर पृष्ठमात्रा वाले सुवाच्य हैं। प्रति शुद्ध है। हांसियां में कहीं कहीं अर्थबोधक टिप्पणियां भी दी गई हैं। प्रकरण की समाप्ति स्थल में कुछ शब्द गेरुआ रङ्ग से रङ्ग दिए गए हैं। अन्यप्रतियों की अपेक्षा हमें यह प्रति शुद्ध मालूम हुई इस लिए हमने इसे आदर्शप्रति मानकर प्रेस कापी की थी। इसमें आखिरी के १५० पत्रों में शब्दसादृश्य के कारण एक एक दो दो पंक्ति के पाठ छूट गए हैं। मालुम होता है लेखक लिखते लिखते ऊब गया था। मिलान करने वालों ने भी शुरू के पत्रों का मिलान करके प्रति को साधारणतया शुद्ध पाकर मालुम होता आगे का पाठ नहीं मिलाया।

(२) 'ब०' संज्ञक, बनारस के श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय के अकलंक सरस्वती भवन की प्रति है। यह प्रति आरा के जैनसिद्धान्त-भवन की प्रति पर से की गई है। अत्यन्त अशुद्ध है। इस में शक्ति-निरूपण से करीब २२ पत्र का पाठ बिलकुल छूट गया है। इस २२ पत्र के पाठ की भूल न केवल आरा और बनारस की प्रतियों में हैं; किन्तु खुरजा, ब्यावर, इन्दौर, ललितपुर, जयपुर आदि के भंडारों की प्रतियों में भी है। इसका एक ही कारण मालुम होता है कि उत्तर प्रान्त की समस्त प्रतियां किसी ऐसे आदर्श से की गई हैं जिसमें उक्त पाठ न होगा, या लेखक ने सदृश शब्द आने से प्रथमप्रति में छोड़ दिया होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रति में १–२ पेज का पाठ भी दो जगह छूटा है। २।४ पंक्तियों के पाठ का छूट जाना तो साधारण सी बात है। पत्र की लंबाई चौड़ाई १४$\frac{1}{2}$×७$\frac{1}{2}$ इंच है। पत्र संख्या २७९, एक पेज में १५ पंक्ति, एक पंक्ति में ५०–५१ अक्षर हैं। चैत्र शुद्ध ३ सं० १९६४ की लिखी हुई है। अक्षर जितने सुवाच्य हैं उतनी ही अशुद्ध लिखी गई है। मार्जिन में विषय का नाम तथा टिप्पणी आदि कुछ नहीं है।

(३) 'ज०' संज्ञक, जयपुर के एक भंडार को प्रति है। इसका आदर्श भी कोई उत्तर प्रान्त की प्रति ही मालूम होती है। इसमें भी ब० प्रति की तरह २२ पत्र का पाठ छूटा है। ब० और ज० दोनों प्रतियों का आदर्श प्रायः एक ही मालुम होता है। पत्र संख्या ५८८ है। पत्र की लंबाई चौड़ाई १५×५ इञ्च है। एक पेज में ७ पंक्ति, एक पंक्ति में ४६-४७ अक्षर हैं।

नकल करने का समय आसोज सुदी १५ सं १९३७ दिया गया है। टिप्पणी कहीं कहीं ही है। ब० प्रति की तरह सदृशशब्द आने पर पेज के पेज पाठ छोड़ दिए गए हैं। एक एक दो दो पंक्तियां तो बीसों जगह छूटी होंगी। प्रति का लेख सुवाच्य है। प्रति अशुद्ध है।

(४) 'भां०' संज्ञक, भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर की 5066 of 1937-38 नं० वाली ताड़पत्र की प्रति है। इसके पाठान्तर लेने को मैं स्वयं पूना गया था। कनड़ी वाचक की

सहायता से इसके पाठान्तर संगृहीत किए गए हैं। इसके और ब० ज० प्रति के पाठ बहुत कुछ मिलते हैं। पर इसमें वह २२ पत्र वाला पाठ छूटा नहीं है। पत्र संख्या २६०, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २०½ × २½ इञ्च है। प्रत्येक पत्र में ७ से १० लाइन तथा प्रत्येक लाइन में ११५-१२० तक अक्षर है। इसकी लिपि तैलगू है। हांसिया में टिप्पणी नहीं हैं; हाँ प्रकरण शुरू होते ही विषय का निर्देश सूक्ष्मरूप में हांसिया में कर दिया है। कुछ पत्र तीन हिस्से करके लिखे गए हैं तथा कुछ पत्र दो हिस्सों में। प्रति अशुद्ध है। थ और द में कोई अन्तर नहीं मालुम होता।

प्रति के अन्त में—'श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलम [ल] कलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालंकारः कृतः इति मंगलम्। श्री शालिवाहनशकवर्ष १७६५ शुभकृत संवत्सर चैत्रशुद्ध पंचदश यान्ते' लिखा है। इससे इस प्रति के लिखने का समय चैत्र शुद्ध १५ शक १७६५ स्पष्ट है।

(५) 'श्र०' संज्ञक, श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य जी के भंडार की है। यह प्रति पुरानी कनड़ी लिपि में ताड़पत्र पर लिखी गई है। इसके पाठान्तर भी कनड़ी वाचक की सहायता से लिए गए हैं। इसका आदर्श भी भां० प्रति की ही तरह है। अशुद्ध भी उतनी ही है। पत्र संख्या २३७, पत्रों की लंबाई चौड़ाई २५ × १½ इञ्च है। एक पेज में ८-९ लाइन हैं। प्रत्येक पेज तीन कालम में विभाजित है। पहिले कालम में २९ अक्षर, दूसरे में ४८ तथा तीसरे में ८९ इस तरह १०६-१०७ अक्षर हर एक पंक्ति में है। टिप्पणी कहीं नहीं है। हां, भां० प्रति की तरह प्रकरण शुरू होते ही उसका निर्देश सूक्ष्माक्षरों में मार्जिन में किया है। इस प्रति की एक विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में प्रत्येक पत्र की विस्तृत विषय सूची सरल संस्कृत भाषा में लिखी हुई है जो किसी दूसरी प्रति में नहीं देखी गई। इसके अन्त में भी भा० प्रति की तरह ही 'श्री जयसिंह देवराज्ये' इत्यादि पुष्पिका लेख है।

स्वविवृति की संकलना तो आ० प्रति के प्रारम्भ में लगे हुए विवृति के ११ त्रुटित पत्रों के आधार से न्यायकुमुद का समग्रवाचन करके की गई है। पर इसकी यथावत् पूर्णता जयपुर से प्राप्त स्वविवृति की प्रति से ही हो सकी है।

आभार प्रदर्शन—यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा यह प्रथमप्रयास है, परन्तु विशिष्टसहायकों के कारण हमें विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी जैसे दर्शनशास्त्र के अधिकारी, अनुभवी विद्वान् के समयोचित परामर्श से तथा इनके द्वारा संपादित सन्मतितर्क का संस्करण सामने रहने से हमें अपने कार्य की तथा संपादनप्रणाली की रूप-रेखा बनाने में जरा भी अड़चन नहीं हुई। इन्हीं के द्वारा हमें अनेकों ग्रन्थ जिनमें सिद्धिविनिश्चयटीका, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दुटीका, प्रमाणसंग्रह आदि अलभ्य लिखित ग्रन्थ शामिल हैं, प्राप्त हो सके। यद्यपि सन्मतितर्क के हम इस संपादन में ऋणी हैं पर सन्मतितर्क के द्वितीय संस्करण के संपादक इस ऋण को न्यायकुमुदचन्द्र के इस संस्करण से निश्चित रूप से व्याज सहित पा सकेंगे।

संपादन में प्रेसकापी से लेकर प्रस्तावनान्त सभी कार्य हम और हमारे ज्येष्ठ-सहचर पं० कैलाशचन्द्रजी संयुक्तभाव से करते रहे हैं। हाँ, संपादनांश की जिम्मेवारी हमारे ऊपर तथा प्रस्तावनांश की जिम्मेवारी उनपर रही, अतः सहयोगित्व के नाते उन्हें जो सामग्री संपादनांश में उपयोगी मालुम हुई मुझे बताई, हमें जो सामग्री प्रस्तावना के योग्य प्रतीत हुई, उन्हें बताई। इस तरह पारस्परिक सहयोग से संपादनांश तथा प्रस्तावनांश की पूर्ति एक दूसरे से होती रही। पर जिम्मेवारी आदि कारणों से हमारे ज्येष्ठसहयोगी पं० कैलाशचन्द्रजी की यह प्रबल इच्छा रही कि—'प्रस्तावना में मात्र उन्हीं का तथा संपादन में मात्र मेरा नाम रहे।' यद्यपि संपादन में

उनका नाम न होना मुझे खटकता है; फिर भी उनकी इच्छा का समादर करके हमने उनके इस पृथक्-नामकरण के प्रस्ताव को मान लिया है। पं० जी ने प्रेसकापी-आदि-प्रूफ-अन्त सभी कार्यों में हमें बड़े परिश्रम से सहायता पहुंचाई है, तथा प्रस्तावना की जिम्मेवारी उठाकर तो उन्होंने हमारा बोझ बहुत कुछ हलका कर दिया है। ऐसे विशिष्ट सहयोगी के मिलने से हम इस भाग में ५ साल जैसा लंबा समय धैर्य के साथ लगा सके हैं।

विद्यामूर्ति पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी का हमारा संपादनक्रम देखकर चिरसंचित सहज विद्यानुराग उमड़ पड़ा। उन्होंने हमें बहुत प्रोत्साहन दिया। तथा हमारी प्रार्थना से अपना बहुमूल्य दार्शनिक ग्रन्थसंग्रह स्याद्वाद विद्यालय की लाइब्रेरी को भेंट किया। इतना ही नहीं, अपना सर्वस्व ४३००) रु० भी पुस्तकालय के ध्रौव्यकोश में इस लिए प्रदान किये कि-इसके व्याज से प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-पाली आदि भाषाओं के दार्शनिक ग्रन्थ ही मँगाए जाँय। आप के इस विद्यानुरागमूलक औदार्य से हमें सम्पादनोपयोगी दार्शनिकग्रन्थ अनायास ही मिल सके। ऐसे उद्वेल विद्यारस के दर्शन दूसरी जगह कठिनता से ही होते हैं।

पं० सुखलालजी के शब्दों में 'वृद्धयुवक' श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी ने, जो इस ग्रन्थमाला के मन्त्री हैं, हमें पूरे उत्साह तथा आर्थिक औदार्य के साथ साधन जुटाने में कोई कमी नहीं की। ग्रन्थमाला के द्वितीय मंत्री प्रो० हीरालाल जी तथा कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास-भगवान्-दास जी जवेरी ने भी बड़े सौजन्य से हमारे कार्य में आवश्यक सहायता पहुँचाई।

बौद्धविद्वान् भिक्षु राहुलसांकृत्यायन जी ने बड़ी कठिनता एवं साहस से तिब्बत से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, वार्त्तिकालंकार आदि दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ देकर असाधारण सहायता पहुँचाई। पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार सरसावा ने संपादन के लिए उद्धृत न्यायविनिश्चय की कारिकाओं का मिलान कराया। भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मंदिर पूना के प्रबन्धकों ने अपने यहाँ की ताड़पत्र की प्रति से पाठान्तर लेने में सुविधा की। भट्टारक श्री चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य श्रवणबेलगोला ने अपने यहां की ताड़पत्र वाली प्रति भेजी। मास्टर मोतीलाल जी संघी तथा कविरत्न पं० चैनसुखदास जी सा० जयपुर ने न्यायकुमुदचन्द्र तथा स्वविवृति की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्या० ती० ने छपाई-आदि के बाबत उचित परामर्श दिया। प्रिय भाई खुशालचन्द्र जी बी० ए०, शास्त्री ने कुछ प्रूफ देखने में सहायता पहुँचाई। हम उक्त सभी सहायक महानुभावों का आभार मानते हैं।

ग्रन्थ-सम्पादन-काल में सदाशय प्रेमी जी का यह सदुपालम्भ कि-'यथेष्ट पारिश्रमिक देने पर भी जैनपंडित जिम्मेदारी से कार्य नहीं करते' हमेशा ध्यान में रहता था। इसी के कारण-हमने उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह प्रारम्भिक लघुप्रयत्न किया है। यदि इससे प्रेमी जी थोड़ी भी सन्तोष की सांस ले सके तो हम अपने प्रयत्न को कुछ सफल समझेंगे। इस भाग की छपाई टिप्पणी संकलन आदि में काफी सावधानी से कार्य किया है, पर मनुष्य की शक्ति तथा सामग्री का विचार करके स्खलन होना संभव है। आशा है पाठकगण इसे सद्भाव से देखेंगे।

एक दुःखदप्रसंग—मैंने संपादन काल में जात अपने ज्येष्ठपुत्र का नाम संपादन की स्मृति-निमित्त 'कुमुदचन्द्र' रखा था। काल की गति विचित्र है। अब तो यह सम्पादित-ग्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक हो गया है। मैं तो इसे अपने साहित्य-यज्ञ की आहुति ही मानता हूँ।

वीरशासन-दिवस, श्रावण कृष्ण १, वीर सं० २४६४
स्याद्वाद विद्यालय, काशी.

सम्पादक—
—महेन्द्रकुमार

प्रस्तावना

आज हम अपने पाठकों के सन्मुख जिस ग्रन्थरत्न की प्रस्तावना उपस्थित करते हैं उसका नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। यह ग्रन्थ एक स्वतंत्र रचना न होकर लघीयस्त्रय और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। यद्यपि आज से कई वर्ष पहले मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय अभयचन्द्रसूरि-रचित तात्पर्यवृत्ति के साथ इसी ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उसकी विवृति और व्याख्यान अभी तक अप्रकाशित ही था। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियाँ तो कुछ ग्रन्थभण्डारों में पाई भी जाती थीं किन्तु स्वोपज्ञविवृति के अस्तित्व का पता तो सबसे पहले पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने ही लगाया था। आज दोनों ग्रन्थरत्न अपने अनुरूप संपादन और मुद्रण के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।

अपनी इस प्रस्तावना को हमने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है और दूसरा ग्रन्थकारों से। ग्रन्थविभाग में, ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सका उसे बतलाने का प्रयत्न किया है और ग्रन्थकार विभाग में ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में आवश्यक सभी बातें निर्दिष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

१. ग्रन्थपरिचय

लघीयस्त्रय—जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यह ग्रन्थ छोटे २ तीन प्रकरणों का संग्रह है। प्रकरणों का नाम क्रमशः प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश है। प्रथम प्रवेश में चार परिच्छेद हैं, दूसरे में एक और तीसरे में दो। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल सात परिच्छेद हैं। ग्रन्थ का प्रवेशों और परिच्छेदों में विभाजन स्वयं ग्रन्थकार का ही किया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी स्वोपज्ञविवृति की जो प्रतियाँ हमारे देखने में आईं, उनमें भी विषयविभाजन का यही क्रम है, तथा न्यायकुमुदचन्द्र की हस्तलिखित प्रतियों में और मुद्रित तात्पर्यवृत्ति में भी उक्त क्रम ही पाया जाता है, उसमें कोई व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु यहाँ पर एक शंका उत्पन्न हो सकती है। कहा जा सकता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की विभिन्न प्रतियों में विषयविभाजन का एक ही क्रम देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह विभाजन मूलकार का किया हुआ है क्योंकि विभिन्न प्रतियों में पाठभेद हो सकता है किन्तु विषयविभाजन में तो अन्तर पड़ने का कोई कारण ही नहीं है। तथा अभयचन्द्र ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति न्यायकुमुदचन्द्र को सामने रखकर ही बनाई है, जैसा कि उसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में दत्त 'अकलंकप्रभा' शब्द से व्यक्त होता है। अतः उन्होंने भी वही क्रम अपनाया होगा जो प्रभाचन्द्र ने अपनाया था। रह जाती हैं स्वोपज्ञविवृति की प्रतियाँ, किन्तु उनमें भी प्रथम परिच्छेद की सन्धि में 'इति न्यायकुमुदचन्द्रे' आदि लिखा है,

---

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३५। २ अन्तिम प्रवचनप्रवेश का दो परिच्छेदों में विभाजन स्वविवृति की मूल प्रतियों में नहीं पाया जाता।

जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियाँ भी न्यायकुमुदचन्द्र के आधार पर ही की गई हैं। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर तो लघीयस्त्रय का विभाजन मूलकार का किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ का तीन प्रकरणों में विभाजित होना तो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। रह जाता है प्रत्येक प्रकरण का अवान्तर परिच्छेदों में विभाजन, सो कारिकाओं की स्वोपज्ञविवृति का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से उसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है क्योंकि प्रत्येक परिच्छेद की अन्तिम कारिका की विवृति उपसंहारात्मक प्रतीत होती है। तथा, मूलकार के अन्य ग्रन्थों के देखने से भी विषय के अनुरूप ग्रन्थ का विभाजन करने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। स्वोपज्ञविवृति की प्रतियों में जो 'न्यायकुमुदचन्द्रे' या 'श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे' लिखा है वह लेखकों की भूल का परिणाम है और उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की रचना के बाद यह प्रतियाँ की गई हैं। यदि उनका आधार न्यायकुमुदचन्द्र होता तो दोनों की सन्धियों में मौलिक अन्तर न होता। तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में चौथे पांचवें तथा सातवें परिच्छेद के अन्त में दुहरे सन्धिवाक्य पाये जाते हैं, जिनमें से एक परिच्छेद का अन्त सूचक है और दूसरा प्रवेश का। यथा—"इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः।" "एवं प्रक्रान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयः।" इससे भी उक्त बात का समर्थन होता है।

लघीयस्त्रय का अन्तःपरीक्षण करने से एक शंका पुनः हृदय में उठ खड़ी होती है। हम लिख आये हैं कि यह ग्रन्थ छोटे छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। आस्तिकों के नियमानुसार इसके आरम्भ में तो मङ्गलगान किया ही गया है किन्तु मध्य में, तीसरे प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में भी मङ्गलगान किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता इसे मध्य मङ्गल बतलाते हैं क्योंकि शास्त्रकार ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल का विधान करते हैं। किन्तु अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में हम मध्य मङ्गल नहीं पाते। इसके सिवाय, उनके न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ में—जिसके तीन प्रस्ताव बृहत्त्रय कहे जाने के योग्य हैं—प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित छन्द पाये जाते हैं, जो परिच्छेद या प्रकरण की समाप्ति का सूचन करते हैं। लघीयस्त्रय में इस तरह के पद्य नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के अन्त में पाये जाते हैं। तथा तीसरे प्रवेश के आदिश्लोक में मङ्गलगान के साथ ही साथ प्रमाण नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और प्रमाण और नय का वर्णन करते हुए प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में प्रतिपादित कुछ बातों की पुनरुक्ति भी की गई है। तथा स्वविवृति की प्रतियों में द्वितीयप्रवेश के अन्त में समाप्तिसूचक 'कृतिरियं भट्टाकलङ्कस्य' आदि लिखा हुआ है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ, तीन नहीं, अपि तु दो प्रकरणों का एक संग्रह है। यदि नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश की तरह, प्रमाणप्रवेश के अन्त में भी समाप्तिसूचक पद्य होता तो तीनों प्रवेशों के स्वतंत्र प्रकरण होने में सन्देह को स्थान न रहता।

यह आशंका साधार है और हृदय को लगती भी है किन्तु ग्रन्थ का नाम लघीयस्त्रय होते हुए भी एक ही ग्रन्थ के रूप में हमें उसकी समीक्षा करनी चाहिए, न कि तीन स्वतंत्र

१ परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमनेकान्तनयेन द्रव्यस्थापनं नाम द्वितीयपरिच्छेदः। परपरिकल्पितानुमानादिखण्डने स्वमतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयपरिच्छेदः। ज० विवृवि।

प्रकरणों के एक संग्रह के रूप में, और उस दृष्टि से उसके त्रयत्व में विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। अकलंकदेव के अन्य प्रकरणों के देखने से ज्ञात होता है कि वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद कण्टकशुद्धि आदि के उद्देश्य से एक पद्य देते हैं। इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही क्रम पाया जाता है, मंगलगान के पश्चात् 'सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक' आदि पद्य के द्वारा इसमें भी कण्टकशुद्धि की गई है। प्रमाण और नयप्रवेश की कुछ बातें यद्यपि प्रवचन-प्रवेश में दुहराई गई हैं तथापि उनमें दृष्टिभेद है और उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। रह जाती है प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में मङ्गलगान की बात, सो न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने मध्य-मङ्गल बतलाकर उसका समाधान कर ही दिया है। क्योंकि ग्रन्थ का नाम उसके तीन प्रवेश और प्रवेशों के अवान्तर परिच्छेदों के रहते हुए कोई भी विचारक उसे मध्य मङ्गल के सिवाय अन्य बतला ही क्या सकता था। फिर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के पञ्चम-परिच्छेदान्तभाग को पृथक् बनाया गया है और प्रवचनप्रवेश को पृथक्, और बाद में दोनों को सङ्कलित करके लघीयस्त्रय नाम दे दिया गया है। प्रारम्भ के चार परिच्छेदों में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का वर्णन होने के कारण उन्हें प्रमाणप्रवेश नाम दिया गया, पाँचवें परिच्छेद में केवल नयों का वर्णन होने के कारण उसे नयप्रवेश संज्ञा दी गई और छठवें तथा सातवें परिच्छेद में प्रमाण नय और निक्षेप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके भी श्रुत और उसके भेद प्रभेदों का प्रधानतया वर्णन होने के कारण उन्हें प्रवचनप्रवेश नाम से व्यवहृत किया।

अकलंक के प्रकरणों पर बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का बड़ा प्रभाव है। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणविनिश्चय और न्यायबिन्दु में तीन तीन ही परिच्छेद रक्खे हैं। अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद रक्खे हैं, अतः संभव है कि इसी का अनुसरण करके लघीयस्त्रय नाम की और उसके तीन प्रवेशों की कल्पना की गई हो। अस्तु,

पहले परिच्छेद में साढ़े छ कारिकाएँ हैं, दूसरे में तीन, तीसरे में साढ़े ग्यारह, चतुर्थ में आठ, पाँचवे में इक्कीस, छठवें में बाईस और सातवें में छ। मुद्रित लघीयस्त्रय के पाँचवे परिच्छेद में केवल बीस कारिकाएँ हैं किन्तु स्वोपज्ञविवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में 'लक्षणं क्षणिकैकान्ते' आदि कारिका अधिक पाई जाती है। विवृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में कारिकाओं पर क्रमसंख्या नहीं दी गई है किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रय में क्रमसंख्या दी है। पता नहीं, यह क्रमसंख्या हस्तलिखित प्रति के आधार पर दी गई है या संपादक ने अपनी ओर से देदी है।

विवृति की प्रतियों में प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में निम्न पद्य अधिक पाया जाता है—

मोहेनैव परोपि कर्मभिरिह प्रेत्याभिबन्धः पुनः ,
भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः ।
कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते ,
किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः ॥ १ ॥

रचनाशैली आदि से तो यह पद्य अकलंकदेव का ही जान पड़ता है किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की किसी भी प्रति में इसका सङ्केत तक भी नहीं है। अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में भी यह नहीं पाया जाता। पता नहीं, विवृति की प्रतियों में यह कहाँ से आकर घुस गया है?

विवृति—यह विवृति लघीयस्त्रयकार की ही कृति है जैसा कि हम आगे प्रमाणित करेंगे। प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ के दो श्लोकों पर, पञ्चम परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर, षष्ठ परिच्छेद के आदि श्लोक पर तथा सातवें परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर विवृति नहीं है, शेष पर है।

न्यायकुमुदचन्द्र—उक्त दोनों ग्रन्थों के व्याख्यान का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। सन्धियों में इसे लघीयस्त्रयालङ्कार विशेषण से अभिहित किया है। विवृति की किसी २ प्रति की सन्धियों में "भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे" लिखा है और पुष्पदन्तकृत आदिपुराण के टिप्पण में भी किसी टिप्पणकार ने अकलंक को न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। किन्तु यह केवल भ्रान्ति है जो लेखकों की कृपा का फल है अतः मूल ग्रन्थ का नाम लघीयस्त्रय और व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही जानना चाहिए। प्रारम्भ के दो परिच्छेदों पर खूब विस्तृत व्याख्यान किया है और अन्य दर्शनों में अभिमत प्रमाण और प्रमेय की चर्चा का मण्डनपूर्वक खण्डन करने के कारण इन दो परिच्छेदों की व्याख्या का परिमाण शेष पाँच परिच्छेदों की व्याख्या के लगभग बराबर बैठ जाता है। इसी से इस खण्ड में केवल दो ही परिच्छेद दिये गये हैं। अवशिष्ट पाँच परिच्छेद दूसरे खण्ड में रहेंगे। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के व्याख्यान के अन्त में समाप्तिसूचक पद्य दिये हैं और ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति भी दी है। मूलग्रन्थ से व्याख्यान का परिमाण लगभग पन्द्रहगुना है।

२. ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार

लघीयस्त्रय सविवृति

प्रकरणग्रन्थ—ग्रन्थपरिचय में हम लिख आये हैं कि लघीयस्त्रय एक प्रकरण है। जो शास्त्र के एकदेश से सम्बन्ध रखता हो, तथा जिसमें, शास्त्र में अप्रतिपादित विषयों पर भी प्रकाश डाला गया हो उसे प्रकरण[1] कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार लघीयस्त्रय शास्त्र अर्थात् मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के एक देश से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में मुख्यतया जीवादि तत्त्वों का निरूपण है किन्तु प्रथम अध्याय में प्रमाण, नय और निक्षेप की भी चर्चा की गई है। परन्तु लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और निक्षेप की ही विस्तृत चर्चा की गई है, तथा कुछ ऐसे विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नहीं हैं, अतः वह प्रकरण कहा जाता है। यद्यपि गौतम ने न्यायसूत्र की रचना करके वस्तुपरीक्षा में उपयोगी प्रमाण, वाद आदि साधनों पर क्रमबद्ध ग्रन्थ रचने की प्रणाली को प्रचलित किया और उसके बाद नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, वसुबन्धु आदि बौद्धनैयायिकों ने उन पर अनेक ग्रन्थ रचे, किन्तु इस ढंग के सुसम्बद्ध प्रकरणग्रन्थ रचने का सर्वप्रथम श्रेय बौद्धदर्शन में आचार्य दिङ्नाग को और जैनदर्शन में आचार्य सिद्धसेन को ही प्राप्त है। यद्यपि सिद्धसेन से पहले आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया और सूत्रकार उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय की चर्चा की, किन्तु आचार्य

१ "शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥" सप्तपदार्थी।

सिद्धसेन ने प्रमाण और नय का निरूपण करने के लिये ही न्यायावतार नाम का स्वतंत्र प्रकरण रचा। जैनवाङ्मय में न्याय का अवतार करनेवाले श्री सिद्धसेन ही हैं।

दिङ्नाग को बौद्धदर्शन का पिता कहा जाता है। उनका प्रमाणसमुच्चय मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। दिङ्नाग के ग्रन्थों का अवलम्बन लेकर ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक प्रमाणविनिश्चय आदि ग्रन्थरत्नों की रचना की थी। सिद्धसेन, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणविषयक प्रकरणों ने लघीयस्त्रय की रचना में योगदान किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। मध्यकालीन भारतीयन्याय के निर्माता जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों के प्रमाणविषयक इन प्रकरणों के सम्बन्ध में डा० विद्याभूषण ने लिखा है–

"The prakaranas (Manuals) are in fact remarkable for their occuracy and liccidity as well as for their direct handling of various topics in their serial orders. Definitions of terms are broad and accurate and not full of niceties." Indian logic. P. 356.

अर्थात्—ये प्रकरण अपनी सुगमता और यथार्थता के लिये उल्लेखनीय हैं। साथ ही साथ विभिन्न विषयों पर क्रमबद्धरूप में ये साक्षात् प्रकाश डालते हैं। इनमें दत्त परिभाषाएँ स्पष्ट और यथार्थ होती हैं।

रचनाशैली—ग्रन्थकार ने अपने सभी प्रकरणों में प्रायः एक ही शैली का अनुसरण किया है। प्रारम्भ में वे मंगलाचरण करते हैं, उसके बाद एक पद्य के द्वारा कण्टकशुद्धि आदि करके प्रकृत विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। प्रकृत ग्रन्थ, न्यायविनिश्चय तथा सिद्धिविनिश्चय में यही क्रम अपनाया गया है। वे अपने प्रकरणों को केवल कारिकाओं में ही रचकर समाप्त नहीं करते, किन्तु उन पर वृत्ति भी रचते हैं। अब तक उनका एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं मिला, जिसपर उन्होंने वृत्ति न रची हो। वृत्ति रचने का उनका उद्देश्य केवल कारिकाओं का व्याख्यान करना ही नहीं होता किन्तु उसके द्वारा वे कारिका में प्रतिपादित विषय से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों का विवेचन और आलोचन भी करते हैं। किसी किसी कारिका की वृत्ति तो कारिका के आशय पर प्रकाश न डालकर नूतन बात का ही चित्रण करती है। अकलंकदेव की अन्य रचनाओं की अपेक्षा लघीयस्त्रय और उसकी विवृति कुछ सुगम प्रतीति होती है, न तो न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के जितनी उसकी कारिकाएँ ही दुरूह हैं और न अष्टशती के जितनी वृत्ति ही गहन है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें अकलंकदेव की प्रखर तर्कणा और गहन रचना की छाप नहीं है। वास्तव में अकलंकदेव के वाक्य अतिगम्भीर अर्थबहुल सूत्र जैसे होते हैं और उनका पूर्वापरसबन्ध जोड़ने के लिये स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे प्रतिभासंपन्न विद्वानों की आवश्यकता होती है। लघीयस्त्रय और उसकी विवृति को बाँचने से विद्वान् उनकी गहनता का अनुमान कर सकेंगे। लघीयस्त्रय की कारिकाएँ, उनकी विवृति, परिच्छेद, प्रमाणविषयक चर्चा और रचनाशैली दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्वोपज्ञविवृति का स्मरण कराती हैं। तथा, उसके तीन प्रकरणों का प्रवेश नाम दिङ्नाग के न्यायप्रवेश का ऋणी प्रतीत होता है।

१ "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि ? संशयिते।" न्यायभाष्य १।१।१।

लघी० और विवृति में आगत विशेष स्थल, नाम आदि—लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका के अन्त में 'प्रमाण इति संग्रह' पद आता है। ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ प्रमाणसंग्रह और न्यायविनिश्चय में भी यह पद आता है। यह पद सूत्रकार उमास्वाति के 'तत्प्रमाणे' (१।१०) सूत्र की ओर सङ्केत करता है। उमास्वाति ने ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग करके उन्हें प्रमाण कहा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों का 'प्रमाणे' पद में संग्रह करते हैं। तीसरी कारिका की विवृति में अकलंकदेव ने 'अपर' शब्द से किसी वादी के मत का उल्लेख किया है, व्याख्याकार प्रभाचन्द्र उसे दिङ्नाग का मत बतलाते हैं। चतुर्थ कारिका की विवृति में 'जैमिनि' का नाम आया है। बीसवीं कारिका की विवृति में 'ग्रामधानक' शब्द आता है, प्रभाचन्द्र उसे किसी ग्राम का नाम बताते हैं।

इनके सिवा विवृति में कुछ ऐसे अंश भी पाये जाते हैं, जो ग्रन्थान्तरों से लिये गये हैं। उनमें से कुछ अंश तो ऐसे हैं जो उद्धरणवाक्यों के तौर पर लिये गये हैं। किन्तु कुछ अंश विवृति के ही अङ्ग बन गये हैं और इस प्रकार विवृतिकार के ही रचित प्रतीत होते हैं। दूसरों के वचनों को इस प्रकार मूल में सम्मिलित कर लेने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। गौतम के न्यायसूत्र, वात्स्यायन के भाष्य, तथा कुमारिल के श्लोकवार्तिक में इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, और विद्यानन्द के तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में तो इतर ग्रन्थकारों की ऐसी अनेकों कारिकाएँ हैं जो प्रमाणरूप में या पूर्वपक्ष के रूप में मूल में सम्मिलित कर ली गई हैं।

आठवीं कारिका की विवृति में "अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत् इत्यङ्गीकृत्य" ऐसा लेख है, यह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की कारिका का ही अंश है। तेईसवीं कारिका की विवृति "सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं" इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होती है। यह वाक्य भी प्रमाणवार्तिक की कारिका (३–१२४) का अविकल रूप है। २८ वीं कारिका की विवृति में आये 'वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति नार्थम्' इस मत को प्रभाचन्द्र धर्मकीर्ति का मत बतलाते हैं। ४१ वीं कारिका की विवृति में निम्नलिखित कारिका उद्धृत है—

---

१ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः ॥ २ ॥ २ प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम्। प्रकीर्ण प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाण इति संग्रह ॥ ३-८३ ॥ ३ 'न हि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्' इत्यपरः।

४ "There are in it passages which were quoted almost verbatim from the Lankavatar sutra, Madhyamik sutra and other Buddhist works which were composed about the third or fourth century A. D." "न सन् नासन्न सदसत् सतो वैधर्म्यात्।" न्या० सू० ४।१।४८. "न सन् नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा।" मा० सू० परि० ७। "मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद् वा" न्या० सू० ४।२।३२। "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा"। मा० सू०, परि० ७. Indian logic (S. C. Vidyabhushan) ५ "दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः।" ५।२।१०। यह पातञ्जलमहाभाष्य १।१।३ का वाक्य है। ६ "पारार्थ्यं चक्षुरादीनां संघाताच्छयनादिवत् ॥ १०५ ॥" अनु० परी०। यह दिङ्नाग के न्यायप्रवेश के "परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत्।" का ही रूप है। ७ "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्।"

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सतुच्छकम् ॥

भामतीकार वाचस्पति मिश्र इसे वार्षगण्य की बतलाते हैं। योगसूत्र की भास्वती आदि टीकाओं में भी इसे 'षष्ठितंत्र' नामक ग्रन्थ की बतलाया है। ५४ वीं कारिका की विवृति में आगत 'तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादि' धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु (१–६) का ही अंश है। कारिका ६६–६७ की विवृति के अन्त में "ततः तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ" आदि वाक्य आता है। यह आचार्य सिद्धसेन के सन्मतितर्क की तृतीय गाथा की संस्कृत छाया है।

इस प्रकार विवृति में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेन के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश लिये गये हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र

नाम—लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है, जैसा कि उसके सन्धिवाक्यों में निर्देश किया गया है। किन्तु डा० विद्याभूषण, पाठक तथा प्रेमीजी आदि अन्वेषकों ने 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' नाम से उसका उल्लेख किया है। कुछ शिलालेखों में भी न्यायकुमुदचन्द्रोदय ही नाम लिखा है। पुष्पदन्त के महापुराण का जो प्रथम भाग इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उसकी टिप्पणी में भी अकलंक का परिचय देते हुए उन्हें न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। इससे पता चलता है कि इस नाम की परम्परा बहुत प्राचीन है। किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की श्र० प्रति के अन्तिम वाक्य को छोड़कर अन्यत्र किसी भी प्रति में उदयान्त नाम नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना में उदयान्त नाम देकर भी 'अनेकान्त' में प्रकाशित अपने एक लेख में न्यायकुमुदचन्द्र नाम ही लिखा है।

चन्द्र के स्थान में चन्द्रोदय नाम प्रचलित होने का कारण संभवतः आदिपुराण का वह श्लोक है, जिसमें चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि की स्तुति की गई है। किन्तु चन्द्रोदय और उसके कर्ता प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, इसका निर्णय हम समयविचार में करेंगे। अतः उसके आधार पर ग्रन्थ का नाम चन्द्रोदय प्रमाणित नहीं होता। तथा प्रभाचन्द्र के दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम की ही पुष्टि होती है। क्योंकि वह प्रमेयरूपी कमलों का विकास करने के लिये मार्तण्ड है तो यह न्यायरूपी कुमुद का विकास करने के लिये चन्द्रमा है। जब मार्तण्ड के साथ ही उदय पद नहीं है तो चन्द्र के ही साथ कैसे हो सकता है? अतः प्रकृत टीकाग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही होना चाहिए।

---

१ "अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयितुमाह स्म भगवान् वार्षगण्यः—गुणानाम्···" इत्यादि। २ "तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी"। ३ हिस्टरी आफ़ दी मिडीवल स्कूल ऑफ़ इन्डियन लाजिक, पृ० ३३। ४ 'अकलंक का समय' शीर्षक आदि लेख। ५ जैनहितैषी, भाग ११, पे० ४२९। ६ "सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।" शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके का शि० ले० न० ४६। ७ पृ० ५८। ८ पृ० १३०। ९ चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

रचनाशैली—न्यायकुमुदचन्द्र की भाषा ललित और उसका प्रवाह निर्बाध है। उसका आशय न समझ सकनेवाला व्यक्ति भी उसकी धाराप्रवाह गद्य को पढ़ने में आनन्द का अनुभव कर सकता है। क्या भाषासौष्ठव और क्या दार्शनिकशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र ने अपने पूर्वज और अकलंकसाहित्य के व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु तुलना करने पर विद्यानन्द की शैली की अपेक्षा अनन्तवीर्य की शैली की छाप हम उनपर अधिक पाते हैं। विद्यानन्द की लेखनी अधिक प्रौढ़ है, अष्टशती की व्याख्या अष्टसहस्री का परिशीलन करने में विद्वानों को भी कष्टसहस्री का अनुभवन करना पड़ता है। विद्यानन्द ने अष्टशती की व्याख्या उस रीति से नहीं की, जिस रीति से साधारणतया व्याख्या की जाती है। उन्होंने पदों के समास तोड़कर उनके पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अष्टशती का व्याख्यान नहीं किया, किन्तु उसके साकांक्ष पदों के आदि, मध्य तथा अन्त में आवश्यकतानुसार उन वाक्य, वाक्यांश, शब्द तथा विस्तृत चर्चाओं को स्थान दिया, जिनकी उपस्थिति, उनके गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त कर सकती थी। किन्तु प्रभाचन्द्र की भाषा में न तो उस श्रेणी की प्रौढ़ता ही है और न उन्होंने व्याख्या की उस दुरूह और कष्टसाध्य पद्धति को ही अपनाया है। वे अनन्तवीर्य की तरह कारिका का व्याख्यान करके विवृति का व्याख्यानमात्र कर देते हैं। किन्तु इस शैली में भी उनकी अपनी एक विशेषता है। वे कारिका का रहस्योद्घाटन करने के बाद ही विवृति का व्याख्यान नहीं कर डालते किन्तु कारिका और विवृति में प्रतिपादित मन्तव्यों को लेकर विपक्षियों के मन्तव्य की आलोचना करते हैं। किसी विषय की आलोचना करने से पहले वे उस विषय के समर्थक साहित्य के आधार पर उसका प्रामाणिक पूर्वपक्ष देते हैं, फिर उसकी एक एक युक्ति को लेकर विकल्पों के कोटिक्रम से उसकी धज्जियाँ उड़ा देते हैं। व्याख्याकार का पाण्डित्य उनके इन पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में निबद्ध निबन्धों में ही झलकता है। प्रतिवादी को विकल्पजाल में फाँसकर जब वे उसका निरसन करते हैं तो उनकी तर्कणाशक्ति की प्रशंसा करते ही बनती है। यथार्थ में प्रभाचन्द्र टीकाकार की दृष्टि से उतने सफल नहीं हुए हैं जितने विभिन्न शास्त्रीय चर्चाओं की आलोचना और प्रत्यालोचना में सफल हुए हैं। व्याख्याकार की दृष्टि से तो अकलंक के अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा उनका दर्जा सबसे लघु है। न्यायकुमुदचन्द्र के अन्त में जब वे अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—

बोधो मे न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः।
साहाय्यञ्च न कस्याचिद्वचनतोऽप्यास्ति प्रबन्धोदये॥

अर्थात् "न तो मुझे वैसा ज्ञान ही है और न सरस्वती ने ही कोई वरदान दिया है। तथा प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण में किसी से वाचनिक सहायता तक भी नहीं मिल सकी है।" तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी असामर्थ्य का अनुभव करते हैं। क्योंकि अपने दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की लघुता प्रकट नहीं की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र में अत्यन्त पूज्य बुद्धि रखते हुए अपने मत के समर्थन में हम उनके एक भ्रम का उल्लेख करने के लिये श्रद्धालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं। लघीयस्त्रय के तीसरे परिच्छेद की आरम्भिक कारिका निम्नप्रकार है—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् ।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥

इसका सीधा अर्थ है कि—"मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान, नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्दयोजना होने पर श्रुत अत एव परोक्ष हैं।" आचार्य विद्यानंद और अभयदेवसूरि[1] ने इसका यही अर्थ किया है। किन्तु प्रभाचन्द्र ने कारिका की वृत्ति को दृष्टि में रखकर 'आद्य' शब्द का अर्थ 'कारण' किया है। विवृति में लिखा है कि धारणा स्मृति का कारण है, स्मृति संज्ञा का, संज्ञा चिन्ता का, आदि आदि। इसी को दृष्टि में रखकर प्रभाचन्द्र उक्त कारिका का अर्थ करते हुए लिखते हैं—"शब्दयोजना से जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुत कहते हैं। तथा शब्दयोजना से पहले शब्दोन्मुख ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान श्रुत हैं और उनका कारण मतिज्ञान है।"[2] प्रभाचन्द्रजी के इस भ्रम का एक कारण तो विवृति ही जान पड़ती है। दूसरा कारण, कारिका से स्पष्टतया स्वतः प्रकट होनेवाले अर्थ का आगम और परम्परा के विरुद्ध होना हो सकता है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञानों को किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं माना है। किन्तु अकलंकदेव ने ६१ वीं कारिका की विवृति में स्मृति आदि ज्ञानों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद बतलाया है और वही बात इस कारिका में भी कही गई है। अतः यथार्थ में प्रभाचन्द्र दार्शनिक होने की अपेक्षा तार्किक अधिक प्रतीत होते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में, जो कि उनके आरम्भिक काल की रचना है, उनकी तर्कशैली खूब विकसित हुई है।

जैनेतर ग्रन्थों में से जिन ग्रन्थों का न्यायकुमुदचन्द्र की शैली पर विशेष प्रभाव पड़ा है, वे हैं तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत पञ्जिका और जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी। क्या भाषासौष्ठव और क्या प्रतिपादनशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र कमलशील और जयन्तभट्ट के ऋणी प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्होंने इस साहित्यिक ऋण को जिस विद्वत्ता और वाक्पटुता से ब्याजसहित चुकाया है उसकी सराहना करते ही बनता है। नीचे प्रत्येक दर्शन के तत्तद् ग्रन्थकारों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना क्रमशः की जाती है—

न्यायदर्शन—न्यायदर्शन के न्यायसूत्र, भाष्य, वार्तिक और तात्पर्यटीका का उपयोग प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्ष के स्थापन में किया है। न्यायभाष्य के उद्देश, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा के क्रमानुसार अपने ग्रन्थप्रणयन में भी उन्होंने इसी क्रम को स्थान दिया है। तथा चतुर्थ भेद विभाग का अन्तर्भाव—न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के ही शब्दों में—उद्देश में किया है। इस प्रकार षोडश पदार्थ के निरूपण में न्यायसूत्र का प्रमाण रूप से उल्लेख करने पर भी उनका निरूपण भाष्य और मञ्जरी के ही शब्दों में किया है। कहीं कहीं प्रभाचन्द्र ने मञ्जरी के शब्दों को भी 'तथाचाह न्यायभाष्यकारः' करके उद्धृत किया है। यद्यपि तात्पर्यटीका का भी अस्पष्ट आश्रय लिया

१ "अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः—'ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।' इति। तत्रेदं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारणम् श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा।" त० श्लो० पृ० २३९। २ "अत्र च यच्छब्दसंयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिक्रमविसम्वादिव्यवहारनिवर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभावः।" सन्मति० टी० पृ० ५५३।

गया है तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाष्यवार्तिक और मञ्जरी ग्रन्थकार के सामने अवश्य थीं और ग्रन्थकार को उनका अच्छा अभ्यास था।

प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त—प्रभाचन्द्र को जयन्त की मञ्जरी विशेष प्रिय जान पड़ती है। न्यायदर्शन के षोडशपदार्थ निरूपण में उन्होंने, जहाँ तक हो सका, जयन्त के ही शब्दों का उपयोग किया है। प्रमेय के बारह ही भेद क्यों किये गये, इसके उत्तर में प्रमाणरूप से जयन्त की ही कारिका उद्धृत की है। यद्यपि सामग्रीप्रामाण्य का निर्देश प्रशस्तपाद की व्योमवती टीका में पाया जाता है तथापि उसका स्वतंत्र निरूपण करके इतर मत का निरसन जयन्त ने ही किया है और न्यायकुमुद में उसका खण्डन है। प्रभाकराभिमत ज्ञातृव्यापार के पूर्वपक्ष में मञ्जरीगत पूर्वपक्ष से सहायता ली गई है। उत्तरपक्ष में भी कहीं कहीं तो मञ्जरी की पंक्तियाँ ही ले ली गई हैं। चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद के पूर्वपक्ष में न्यायमञ्जरी से ही सहारा लिया गया है, उसमें 'अपि च' करके लिखी गई १७ कारिकाएँ भी साक्षात् मञ्जरी से ही ली गई जान पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकरणों में मञ्जरी का अनुसरण किया गया है। कहीं कहीं तो इतना सादृश्य है कि उसके आधार पर हम 'न्यायकुमुद का पाठ शोधन कर सके हैं।

वैशेषिकदर्शन—वैशेषिकदर्शन के निरूपण में प्रशस्तपादभाष्य का मुख्यतया उपयोग किया गया है। तथा व्याख्याओं में भाष्य की टीका व्योमवती का अनुसरण किया है। चार्वाक के प्रति आत्मसिद्धि, ज्ञानाद्वैतवादी के प्रति बाह्यार्थसिद्धि आदि प्रकरणों में प्रयुक्त युक्तियाँ व्योमवती से शब्दशः मिलती हैं। व्योमवती में अनेकान्त भावना से मोक्ष प्राप्ति हो सकने का खण्डन किया गया है उसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल में किया है। मोक्षसाधनस्वरूपविषयक खण्डन मण्डन में व्योमवती का साहाय्य स्पष्ट है।

सांख्य-योग—सांख्य-योग के निरूपण में योगसूत्र, व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, सांख्यकारिका, माठरवृत्ति आदि ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। पूर्वपक्ष के निर्देश में प्रमाणरूप से योगसूत्र का उल्लेख करने पर भी व्याख्यांश में व्यासभाष्य का आधार लिया है। इसी तरह प्रमाणरूप से सांख्यकारिका की कारिकाएँ उद्धृत करके व्याख्यांश में माठरवृति का उपयोग किया है। कहीं कहीं सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य का भी उपयोग किया है। प्राकृत, वैकारिक दक्षिणा आदि तीन बन्धों का स्वरूप माठरवृत्ति से लिया गया प्रतीत होता है।

वेदान्तदर्शन में—ब्रह्माद्वैतवाद के निरूपण में यद्यपि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, आदि उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है तथापि उसका मुख्य आधार ब्रह्मसूत्र और उसका शांकरभाष्य ही है। शांकरभाष्य के ही शब्दों में ब्रह्माद्वैत का पूर्वपक्ष स्थापित किया है तथा उसी की युक्तियों के आधार पर पूर्वपक्ष में आगत वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषों का परिहार किया है।

मीमांसादर्शन में—जैमिनिसूत्र, शाङ्करभाष्य और कुमारिल के श्लोकवार्तिक का आधार लेकर शब्दनित्यत्ववाद की स्थापना बड़े विस्तार से की है। स्फोटवाद, अपोहवाद और सृष्टिकर्तृत्ववाद के खण्डन में कुमारिल का अनुसरण किया है और प्रमाणरूप से श्लोकवार्तिक की कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष की रूपरेखा तत्त्वसंग्रह से ली गई जान पड़ती है तथापि श्लोकवार्तिक की युक्तियाँ पूर्वपक्ष में समाविष्ट की गई हैं। प्रभाकर की बृहती में निर्दिष्ट स्मृतिप्रमोष का खण्डन यद्यपि इतर दार्शनिकों ने भी किया है फिर भी जैन

साहित्य में तो सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्तण्ड में ही उसके दर्शन होते हैं। शालिकानाथ का भी कहीं कहीं अनुसरण किया है। कुमारिल के अभिहितान्वय तथा प्रभाकर के अन्विताभिधान का खण्डन भी प्रभाचन्द्र ने किया है। सर्वज्ञविषयक पूर्वपक्ष के निरूपण में बहुत सी कारिकाएँ ऐसी उद्धृत हैं जो श्लोकवार्तिक में नहीं पाई जातीं। ऐसी संभावना है कि वे कुमारिल के बृहट्टीका नामक ग्रन्थ की कारिकाएँ हैं।

बौद्धदर्शन—भारतीयदर्शन शास्त्र के तीन युग कल्पना किये जा सकते हैं—वैदिकयुग, बौद्धयुग और जैनयुग। वैदिकयुग में वेदानुयायी दर्शनों का समावेश किया जाता है जो वेद के प्रामाण्य की रक्षा करते हुए पदार्थ का विवेचन करते हैं। बौद्धयुग में वेदप्रामाण्य का निरसन करके न्यायशास्त्र में खूब परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है। जैनयुग में बौद्धदर्शन की न्यायशास्त्रविषयक रूपरेखाओं का अनुसरण करते हुए आगमिक मन्तव्यों को दार्शनिक रूप दिया गया है। जैनयुग के आचार्यों ने किसी किसी मन्तव्य के सम्बन्ध में इतने मौलिक विचार प्रकट किये हैं कि उसे पृथक् युग कहना ही चाहिए। सभी मन्तव्यों का स्याद्वाददृष्टि से समन्वय करना ही इस युग की विशेषता है।

जैन और बौद्ध दोनों ही वेद को प्रमाण नहीं मानते, अतः वैदिकदर्शनों के खण्डन में हम दोनों को कन्धे से कन्धा मिलाये खड़ा देखते हैं किन्तु दोनों के खण्डनांश में अपनी अपनी दृष्टि काम करती है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र से उपाध्याय यशोविजय पर्यन्त सभी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विद्वानों पर बौद्धयुग का प्रभाव होने पर भी उनकी मौलिक दृष्टि सुरक्षित बनी है। वेदविरोधी होने पर भी दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है अतः दोनों एक दूसरे का भी खण्डन करते हैं। जैनदर्शन का वह अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें बौद्धसम्मत मन्तव्यों की कड़ी आलोचना की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट, यशोमित्र, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिकों के ग्रन्थों का जहाँ खण्डन किया है वहाँ परपक्ष के खण्डन में उनका सहारा भी लिया गया है।

वैयाकरणदर्शन—शब्दाद्वैत के आद्य प्रवर्तक वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहे जाते हैं। प्रकृतग्रन्थ में स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि के पूर्वपक्ष के निरूपण में प्रभाचन्द्र ने यद्यपि तत्त्वसंग्रह, उसकी पञ्जिका और न्यायमञ्जरी से साहाय्य लिया है तथापि वे मन्तव्य वाक्यपदीय के ही हैं, तथा प्रमाणरूप से उसकी कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

उक्त दर्शनों के ग्रन्थों के सिवाय तत्त्वोपप्लववाद पर तत्त्वोपप्लव नामक ग्रन्थ के रचयिता जयसिंहराशिभट्ट का भी अनुसरण प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उसमें निर्दिष्ट विकल्पों के आधार पर ही संशयज्ञान आदि के पूर्वपक्षों का संघटन किया है। तथा समवाय के खण्डन में इस ग्रन्थ के बहुत से विकल्पों को अपनाया है।

जैनाचार्य—प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है और यह भी लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्तियों की सहायता से ही वे अकलङ्क के प्रकरणों को समझने में समर्थ हुए हैं तथा उनके ग्रन्थों का आलोडन करने से भी यही प्रतीत होता है कि उनपर विद्यानन्द और अनन्तवीर्य की शैली का ही विशेष प्रभाव है। उनके ग्रन्थों से न्यायकुमुद का जहाँ जहाँ सादृश्य है वहाँ वहाँ टिप्पणों के द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

उत्तरकालीन ग्रन्थकारों में जो जैन ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रभावित हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सन्मतितर्ककटीका के रचयिता अभयदेव सूरि तथा स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि का नाम उल्लेखनीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त समझे जाते हैं, एक केवलि-मुक्ति और दूसरा स्त्रीमुक्ति। प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धान्तों का निषेध और विधि दोनों सम्प्रदाय के आगामिक ग्रन्थों में ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षस्थापन और उसका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया। अतः उनके बाद अभयदेव सूरि और वादिदेवसूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण करके उक्त दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बरमान्यता का खण्डन करके श्वेताम्बरमान्यता का स्थापन किया। स्याद्वादरत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों के प्रकाश में पढ़ने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों से रत्नाकर में कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध में यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि न्यायकुमुद के बहुत से अंश वहाँ आनुपूर्वी से ज्यों के त्यों पाये जाते हैं और न्यायकुमुद के संशोधन में हमें उनसे बहुत सहायता मिली है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर भी परम्परा से प्रभाचन्द्रका प्रभाव है, क्योंकि प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमलमार्तण्ड की रचना के बाद अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला का निर्माण किया था और आचार्य हेमचन्द्र के प्रकरण पर प्रमेयरत्नमाला का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मल्लिषेण की स्याद्वादमञ्जरी, तथा उपाध्याय यशोविजयजी पर भी प्रभाचन्द्र की शैली का प्रभाव पड़ा है। उपाध्यायजी ने उनके विकल्पजालों को अपने ढंग से अपनाया है।

इस प्रकार जैन तथा जैनेतर दार्शनिकों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना करने से प्रभाचन्द्र के अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्कशैली की रूपरेखा हृदय में अंकित हो जाती है और उसके प्रकाश में हम देखते हैं कि तत्त्वस्थापन में साम्प्रदायिक दृष्टि होते हुए भी दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान के आदानप्रदान में साम्प्रदायिकता नहीं थी और न एक दर्शन के विद्वान इतर दर्शनों का परिशीलन करने से विमुख ही होते थे। यदि पुरातन दार्शनिक विपक्षी दार्शनिकों के शास्त्रों के अध्ययन से मुख मोड़े रहते तो वे कभी भी दार्शनिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते थे और न उन ग्रन्थरत्नों का निर्माण ही कर सकते थे जिन पर न केवल उस समाज को ही बल्कि भारतवर्ष को अभिमान है।

३. विषयपरिचय

लघीयस्त्रय स्वोपज्ञविवृति और न्यायकुमुदचन्द्र का विषयपरिचय एक साथ देने से तुलनात्मक अध्ययन के प्रेमियों को सरलता रहेगी, तथा अन्य भी कई आवश्यक बातों पर प्रकाश पड़ सकेगा, अतः तीनों का संक्षिप्त विषयपरिचय क्रमशः एकसाथ दिया जाता है।

प्रथम परिच्छेद

का० १-२—प्रथम कारिका के द्वारा तीर्थङ्करों को नमस्कार और दूसरी के द्वारा कण्टकशुद्धि की गई है। न्या० कु० में प्रथम कारिका की केवल व्याख्या की गई है और दूसरी का व्याख्यान करते हुए बौद्धों के सन्तानवाद की विस्तार से आलोचना की है।

का० ३—तीसरी कारिका में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके दो भेद किये हैं, एक मुख्य प्रत्यक्ष और दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, तथा शेष अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष बतलाया है। विवृति में अज्ञानरूप सन्निकर्षादि के प्रामाण्य का निरसन करके तत्त्व का निर्णय करने में साधकतम ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

न्या० कु० में सम्बन्ध, अभिधेय आदि की चर्चा करके कारिका का व्याख्यान करने के बाद, विवृति का व्याख्यान करते हुए, यौगों के सन्निकर्षवाद, भट्ट जयन्त के कारकसाकल्यवाद, सांख्यों के इन्द्रियवृत्तिवाद, प्राभाकरों के ज्ञातृव्यापारवाद, बौद्धों के निर्विकल्पकप्रामाण्यवाद तथा विपर्ययज्ञान को भिन्न २ रूप से मानने वाले वादियों की विवेकाख्याति आदि विप्रतिपत्तियों का निरसन करके प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक की आलोचना की है।

समन्वय—विवृति के सन्निकर्षादि शब्द से विभिन्न प्रामाण्यवादों का सङ्कलन किया है। विपर्यास शब्द का अवलम्बन लेकर ख्यातियों की चर्चा की है और परोक्षप्रमाण का समर्थन करने के लिये चार्वाक के मत की आलोचना की है।

का० ४—में वैशद्य और अवैशद्य का स्वरूप बतलाया है। उसकी विवृति में सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—करके अतीन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ की सिद्धि की है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व, चक्षु के प्राप्यकारित्व सर्वज्ञाभाव तथा सांख्य और यौग के ईश्वरवाद की आलोचना की है।

समन्वय—इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा व्याख्याकार से ही सम्बन्ध रखती है विवृति में उसका संङ्केत तक भी नहीं है। विवृतिकार ने सर्वज्ञ की चर्चा की है और उसी के सम्बन्ध से व्याख्याकार ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

का० ५—में अवग्रह, ईहा और अवाय का स्वरूप बतलाया है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए प्रसङ्गवश, विषय, विषयी, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा लब्धि और उपयोग का भी स्वरूप बतलाया है। तथा यह भी बतलाया है ज्ञान के इन भेदों में अवस्थाभेद से नामभेद है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि की आलोचना की है। तथा इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक और आहङ्कारिक मानने वाले सांख्यों के मत की समीक्षा करके अतीन्द्रियशक्ति का समर्थन किया है। अन्त में ज्ञान की साकारता की भी चर्चा की है।

समन्वय—इन्द्रियों का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु बतलाने के कारण व्याख्याकार ने अद्वैतवादों की समीक्षा की है। इन्द्रियों को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए नैयायिक और सांख्य की समीक्षा की है। लब्धि के लक्षण में आगत शक्तिशब्द का आश्रय लेकर शक्ति की सिद्धि की है। 'अर्थ' पद से ज्ञान की साकारता, निराकारता की चर्चा की है।

का० ६—के पूर्वार्द्ध में धारणा का स्वरूप बतलाकर उन्हें मतिज्ञान का भेद बतलाया है। विवृति में धारणा को ही संस्कार नाम देकर, ईहा और धारणा को ज्ञानस्वरूप मानने की सम्मति दी है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ६-७—में उक्त चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, तथा इनके विपरीत एक, एकविध आदि भेद करके मतिज्ञान के ४८ भेद किये हैं और

स्वसंवेदन ज्ञान के भी इतने ही भेद माने हैं। तथा प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञान को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञान को उनका फल बतलाया है विवृति में बौद्धाभिमत प्रमाण-फलव्यवस्था का खण्डन करके स्वमत का समर्थन किया है।

न्या० कु० में कारिका के 'स्वसंविदाम्' पद के आधार पर अस्वसंवेदिज्ञानवादी मीमांसक और सांख्य के तथा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादी नैयायिकों के मत की आलोचना करके ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है। तथा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करके अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य की स्थापना की है। स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना मूलकार से सम्बन्ध नहीं रखती। अन्त में विवृति का व्याख्यान करते हुए प्रमाण और फल के सर्वथा भेदवाद का निरसन करके कथञ्चित् तादात्म्य का समर्थन किया है।

द्वितीय परिच्छेद

का० ७—के उत्तरार्द्ध में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाया है। विवृति में उसी का समर्थन करते हुए कहा है कि अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्धि हो सकती है, भेदैकान्त या अभेदैकान्त से नहीं, तथा बौद्धों का स्वलक्षण और अद्वैतवादियों का सामान्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकते। न्या० कु० में विवृति में प्रतिपादित भेदैकान्त और अभेदैकान्त की अनुपलब्धि के आधार पर वैशेषिक के षट्पदार्थवाद, नैयायिक के षोडशपदार्थवाद, सांख्य के पञ्चविंशतितत्त्ववाद और चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का विस्तार से खण्डन किया है। अन्त में द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद मानने वाले यौगों का निरसन करके कथञ्चित् भेदाभेद की स्थापना की है।

का० ८—में बतलाया है कि नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया नहीं हो सकती। विवृति में वस्तु की उत्पत्ति को ही उसकी अर्थक्रिया कहने वाले बौद्धों का उपहास करते हुए क्षणिकवाद में अर्थक्रिया के अस्तित्व की आलोचना की है। न्या० कु० में सवथा नित्य और सर्वथा अनित्य वस्तु में अर्थक्रिया का अभाव सिद्ध करके, प्रसङ्गवश वैभाषिकों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद का खण्डन किया है।

का० ९—के पूर्वार्द्ध तथा उसकी विवृति में निरंशज्ञानवादी यौगाचार को उत्तर देते हुए एकत्व में विक्रिया और अविक्रिया का अविरोध प्रमाणित किया है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ९—के उत्तरार्द्ध और १० के पूर्वार्द्ध में संवेदनाद्वैतवादी का दृष्टान्त देकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्यपर्यायात्मक आन्तर और बाह्य वस्तु को ही प्रमाण का विषय बतलाया है। न्या० कु० में सत्ता के समवाय से वस्तु को सत् मानने वाले यौगों का निरसन करके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु को ही सत् बतलाया है।

तीसरा परिच्छेद

का० १०—के उत्तरार्द्ध और ११ के पूर्वार्द्ध में मति, स्मृति आदि ज्ञानों को शब्दयोजना निरपेक्ष होने से प्रत्यक्ष और शब्दयोजना सापेक्ष होने से परोक्ष बतलाया है। विवृति में उत्तरज्ञानों को पूर्वज्ञानों का फल बतलाकर स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों को प्रमाण माना है।

न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ११—के उत्तरार्द्ध और १२ के पूर्वार्द्ध में बतलाया है कि साध्य और साधन के अविनाभावसम्बन्ध को न तो निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जान सकता है और न सविकल्पक, अतः उसके जानने के लिये तर्क नाम का प्रमाणान्तर मानना चाहिए। विवृति में भी इसी का समर्थन किया है। न्या० कु० में यौग और बौद्धों के इस मत की, कि प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, विस्तार से आलोचना की है और सिद्ध किया है कि इन्द्रिय मानस और योगिप्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

का० १२—के उत्तरार्द्ध और १३ के पूर्वार्द्ध में अनुमान प्रमाण का लक्षण और उसका फल बतलाया है। विवृति में विधिसाधक हेतु के केवल दो ही भेद—स्वभाव और कार्य—मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया है। न्या० कु० में बौद्धों की आलोचना करते हुए, अनुमान में पक्षप्रयोग को आवश्यक बतलाया है। फिर त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण मानने वाले बौद्ध और यौगों की मान्यता का निरसन करके विवृति के मन्तव्य को पुष्ट किया है।

का० १३—के उत्तरार्द्ध और उसकी विवृति में जलचन्द्र का दृष्टान्त देकर कारणहेतु का समर्थन किया है। कुमारिल का मत है कि जल आदि स्वच्छ वस्तुओं में हमें मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु हमारी नयनरश्मियां जल से टकराकर लौटती हुई हमारे ही मुख को देखती हैं, उसे हम भ्रान्ति से जलगत बिम्ब का दर्शन समझ लेते हैं। न्या० कु० में इस मत की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि स्वच्छ वस्तुओं में दूसरी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।

का० १४—में पूर्वचर हेतु का समर्थन किया है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि बौद्धों के अनुमान के तीन प्रकार और नैयायिकों के पांच प्रकार का नियम नहीं बनता। तथा सांख्य के अनुमान के सात प्रकारों का स्वरूप समझाकर उनकी संख्या के नियम को भी पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुओं के आधिक्य से विघटित किया है।

का० १५—में बतलाया है कि अदृश्यानुपलब्धि से भी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो सकता है। विवृति में उसी को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में, अभाव को जानने के लिये अभाव नाम का एक पृथक् प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के मत की विस्तार से आलोचना की है। और सिद्ध किया है कि अभाव भी वस्तु का ही धर्म है अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उसका ज्ञान हो सकता है।

का० १६—में बौद्धों को उत्तर देते हुए लिखा है कि सविकल्पकप्रत्यक्ष से क्षणभङ्गता की प्रतीति नहीं होती, उससे तो स्थिर स्थूलाकार पदार्थ की ही प्रतीति होती है। विवृति में भी कारिकोक्त मन्तव्य का समर्थन किया है। इस प्रकार बौद्धों के अनुपलब्धिहेतु की अलोचना करने के बाद।

का० १७—में उनके स्वभाव और कार्यहेतु की आलोचना की है। विवृति में भी उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, तर्कप्रमाण के बिना अनुमान-अनुमेय तथा कार्य-कारण व्यवहार की अनुपपति बतलाई है।

का० १८—में कहा है कि बौद्धमत में विकल्पबुद्धि ही सिद्ध नहीं होती। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, सविकल्पकबुद्धि का स्वतः और परतः निर्णय मानने में दोष बतलाये हैं। न्या० कु० में १६, १७ और १८ कारिका का व्याख्यानमात्र किया है।

का० १९—में नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए कहा है—यदि सादृश्यज्ञान को उपमान नामका प्रमाण मानते हो तो वैसादृश्य ज्ञान को किस प्रमाण के नाम से पुकारोगे ? विवृति में नैयायिकों की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। मीमांसक और नैयायिक के उपमान प्रमाण की परिभाषा में थोड़ा सा अन्तर है। अकलंकदेव ने केवल नैयायिक की परिभाषा का उल्लेख किया है किन्तु न्या० कु० में नैयायिक और मीमांसक, दोनों के लक्षणों की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान से अतिरिक्त उपमाननाम का कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिक के मत की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने वृद्धनैयायिकों के एक मत का उल्लेख किया है, जो आप्त पुरुष के 'गौ के समान गवय होता है' इस सादृश्यप्रतिपादक वाक्य को ही उपमानप्रमाण कहते हैं। प्रभाचन्द्र ने इसे आगमप्रमाण बतलाया है।

का० २०—में कहा है कि यदि वाच्यवाचक सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाण नहीं है तो सादृश्य सम्बन्ध का ज्ञान उपमान भी प्रमाण नहीं हो सकता। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे किसी मनुष्य ने किसी आप्तपुरुष से जाना कि अमुक नगर से अमुक दिशा में अमुक नाम का ग्राम है और उसकी अमुक अमुक पहचान है। मनुष्य उस ग्राम के निकट पहुँच कर आप्त पुरुष के वचनों को स्मरण करके जान जाता है कि अमुक नाम का ग्राम यही है। इस प्रकार के संज्ञा और संज्ञी के सङ्कलनरूप ज्ञान को उपमान की तरह पृथक् प्रमाणान्तर मानना चाहिए। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र किया है।

का० २१—में स्मृति और प्रत्यक्ष के सङ्कलनात्मक ज्ञान के बहुत से भेद बतलाकर उन्हें उपमान से पृथक् प्रमाणान्तर आपादित किया है। विवृति में कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट करके अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। न्या० कु० में अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में कुमारिल के मत की विस्तार से आलोचना की है।

चतुर्थपरिच्छेद

का० २२—में लिखा है कि तैमिरिक रोगी का ज्ञान भी कथञ्चित् प्रत्यक्षाभास है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तैमिरिक रोगी को दो चंद्रमा दिखाई देते हैं, अतः उनका ज्ञान केवल संख्या के सम्बन्ध में ही विसम्वादी है, चंद्रमा के सम्बन्ध में नहीं। अतः द्विचन्द्रज्ञान को सर्वथा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

का० २३—में सविकल्पकज्ञान को प्रमाण और विवृति में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाणाभास बतलाया है।

का० २४—में 'प्रत्यक्षबुद्धि में कल्पना या विकल्प की प्रतीति नहीं होती अतः उसे निर्विकल्पक ही मानना चाहिए' बौद्ध के इस मत की आलोचना की है। विवृति में भी उसी बात को समझाया है।

का० २५—में प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था करते हुए बतलाया है कि प्रत्यक्ष स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि पूर्वोक्त ज्ञान प्रमाण हैं क्योंकि उनसे व्यवहार में कोई विसंवाद उप-

स्थित नहीं होता। किन्तु यदि उनमें से कोई ज्ञान क्वचित् कदाचित् वस्तु का ठीक ठीक प्रतिभास नहीं करा सकता तो उसे प्रमाणाभास समझना चाहिए। विवृति में भी कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में कारिका २२ से २५ तक का व्याख्यानमात्र है।

का० २६—में कहा है कि श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। विवृति में बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि शाब्दज्ञान से बाह्य अर्थ का बोध होता है। न्या० कु० में शाब्दज्ञान को अनुमान प्रमाण कहने वाले वादी के मत का खण्डन किया है। शाब्दज्ञान को अप्रमाण मानने वाले वादियों का निरसन करके उसे प्रमाण सिद्ध किया है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की आलोचना करके उनका कथञ्चित् नित्य सम्बन्ध बतलाया है। बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन करके केवल सामान्य को शब्द का विषय माननेवालों का निरसन किया है। और विधि नियोग भावना आदि को शब्द का अर्थ माननेवाले वेदान्ती भाट्ट आदि के मत की विस्तार से आलोचना की है।

का० २७—में कहा है कि क्वचित् कदाचित् श्रुतज्ञान को विसंवादी देखकर यदि उसे सर्वत्र सर्वदा मिथ्या ही माना जाएगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान को भी सर्वत्र मिथ्या मानना होगा, क्योंकि कभी कभी ये भी विसंवादी हो जाते हैं। विवृति में कारिका के मन्तव्य का समर्थन किया है।

का० २८—में कहा है कि यदि आप्तपुरुष के वचन और हेतुप्रयोग से बाह्य अर्थ का निश्चय नहीं मानते हो तो सत्य और असत्य वचनों की तथा साधन और साधनाभास की व्यवस्था किस प्रकार हो सकेगी ? विवृति में उदाहरण देकर कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है।

का० २९—में बतलाया है कि यदि पुरुषों के मनोगत भावों में और वचनों में अन्तर देखकर वचन को अर्थ का व्यभिचारी कहा जाता है तो विजातीय कारण से कार्योत्पत्ति की संभावना मानकर विशिष्ट कार्य से विशिष्ट कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। विवृति में, बौद्धों के स्वभाव और कार्य हेतु में व्यभिचार की संभावना बतलाकर कहा है कि यदि अन्यथानुपपत्ति के बल पर स्वभाव और कार्य हेतु से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार करते हो तो शाब्दज्ञान से भी अर्थ की प्रतिपत्ति माननी चाहिए। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण है। न्या० कु० में २७, २८ और २९ का० का व्याख्यान मात्र है।

पञ्चम परिच्छेद

का० ३०—में नय और दुर्नय की परिभाषा की है। विवृति में नय के दो भेद किये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अभेद अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है।

का० ३१—में सत्सामान्य की व्याख्या करते हुए, जीव अजीव आदि समस्त भेदप्रभेदों को सत् में अन्तर्भूत बतलाया है। और उसके समर्थन में चित्रज्ञान और जीव का दृष्टान्त दिया है। विवृति में इसी का स्पष्टीकरण किया है।

का० ३२—में कहा है कि संग्रहनय शुद्धद्रव्य अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है। विवृति में कारिका के आशय को समझाते हुए लिखा है कि कोई भी वस्तु सर्वथा असत् नहीं है तथा कोई भी ज्ञान सत् को जाने बिना वस्तु को नहीं जान सकता।

का० ३३—में विशेषवादी बौद्ध को उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष में बौद्धकल्पित निरंशक्षणों की प्रतीति नहीं होती। विवृति में भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

का० ३४—में बतलाया है कि जैसे बौद्धमत में एक ज्ञान अपने अनेक आकारों के साथ प्रतिभासमान होता है उसी प्रकार जीवादि वस्तु अपने अनेक गुणों और पर्यायों के साथ सर्वदा प्रतिभासमान होती है। यहाँ क्षणपरम्परा में अनुस्यूत एक द्रव्य को न माननेवाले बौद्धों के प्रति ऊर्ध्वता सामान्य की सिद्धि की गई है और विवृति में भी उसी का समर्थन किया है।

का० ३५—में कहा है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया है, किन्तु यह लक्षण क्षणिकैकान्त में नहीं रहता, क्योंकि यदि कारण के रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। विवृति में भी इसी के सम्बन्ध में विशेष कहा है।

का० ३६—में कहा है कि कारण के रहते हुए यदि कार्य की उत्पत्ति न हो सकती तो क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का सिद्ध करना उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं है, कारण के कथञ्चित् रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवृति में व्यतिरेकरूप से कारिका का व्याख्यान करते हुए क्षणिकैकान्त में कार्योत्पत्ति का निषेध किया है।

का० ३७—और उसकी विवृति में बौद्धों के क्षणिक स्वलक्षण और ज्ञानक्षण का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि एक वस्तु अनेक कार्य कर सकती है और अनेक धर्मों में व्याप्त होकर रह सकती है।

का० ३८—में संग्रहनय और संग्रहाभास का विषय बतलाया है। विवृति में कहा है कि 'सन्मात्र ही तत्त्व है' यह संग्रहनय का अभिप्राय है। किन्तु इस अभिप्राय में भेददृष्टि का निषेध नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रहनय के विषय और ब्रह्मवाद में कोई अन्तर ही नहीं होता।

का० ३९—में नैगम और नैगमाभास का स्वरूप बतलाया है। विवृति में कहा है कि गुण गुणी, या धर्म धर्मी में से जब एक का कथन किया जाता है तो दूसरा गौण हो जाता है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। किन्तु जहाँ गुण गुणी, अवयव अवयवी, क्रिया कारक, आदि को सर्वथा भिन्न माना जाता है, वह नैगमाभास है।

का० ४०—में यौगों के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि सत्ता का सम्बन्ध होने से पहले वस्तु स्वयं सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत्ता का सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि असत् है तो खरविषाण की तरह उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। विवृति में कारिका का आशय समझाते हुए, यौगों की तरह सांख्य की मान्यता को भी नैगमाभास में सम्मिलित किया है।

का० ४१—में कहा है कि प्रमाण की व्यवस्था व्यवहाराधीन है। किन्तु वह व्यवहार संग्रहाभास और नैगमाभास में मिथ्या है। अतः जब व्यवहार ही मिथ्या है तो मिथ्या व्यवहार के आधार पर निर्धारित प्रमाणव्यवस्था भी मिथ्या ही होगी, और प्रमाणव्यवस्था के मिथ्या होने पर स्वपक्ष और विपक्ष की सत्यता और असत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतः या तो दोनों ही सत्य होंगे या दोनों ही असत्य। विवृति में संग्रहाभास और नैगमाभास में प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध किया है।

का० ४२—में व्यवहारनय और तदाभास की चर्चा करते हुए बाह्य अर्थ के अस्तित्व को व्यवहारनय और विज्ञप्तिवाद तथा शून्यवाद को तदाभास बतलाया है। विवृति में कारिका के आशय को स्पष्ट किया है।

का० ४३—में बतलाया है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। किन्तु बौद्धकल्पित चित्रज्ञान ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है क्योंकि वह वास्तव में एक नहीं है

किन्तु ज्ञानपरमाणुओं का एक समूहमात्र है। विवृति में संवित्परमाणुओं की आलोचना करके ऋजुसूत्र और तदाभास को समझाया है।

का० ४४—में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय का स्वरूप बतलाया है। शब्दनय काल, कारक और लिङ्ग के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ़ पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। एवंभूत क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। विवृति में कालभेद, कारकभेद, लिङ्गभेद और पर्यायभेद को उदाहरण देकर समझाया है। बौद्धों के एक दो मन्तव्यों की भी आलोचना की है।

का० ४५—में बौद्धों की आशंका का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्धमत में जब इन्द्रिय-ज्ञान अपने कारणभूत अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति भी अतीत विषय को क्यों नहीं जान सकती? इन्द्रियज्ञान और स्मृति, दोनों का विषय एक है, केवल इतना अन्तर है कि इन्द्रिय-ज्ञान उसे स्पष्ट जानता है और स्मृति अस्पष्ट। विवृति में कारिकोक्त रहस्य को स्पष्ट करके शाब्दज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ४६—में कहा है कि शाब्दज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों ही अविसंवादी हैं। केवल इतना अन्तर है कि शाब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। किन्तु इससे उसकी प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अनुमान को-अस्पष्ट होते हुए भी-बौद्धों ने प्रमाण माना है। विवृति में इसे स्पष्ट किया है।

का० ४७—में कहा है कि काल कारक आदि का लक्षण अन्यत्र कहा है, वहाँ से जान लेना चाहिए। विवृति में काल कारक का लक्षण बतलाकर कहा है कि एकान्तवाद में षट्-कारकी नहीं बन सकती, अतः अनेकान्तवाद को अपनाना चाहिए।

का० ४८—में कहा है कि अनेक सामग्रियों की सहायता से एक वस्तु भी प्रतिसमय षट्-कारकरूप हो सकती है। विवृति में कारिका को स्पष्ट करते हुए नय दुर्नय और प्रमाण में अन्तर बतलाया है।

पद्य ४९ और ५० में प्रकरण का उपसंहार करते हुए वीर प्रभु का स्मरण किया है। न्या० कु० में इस परिच्छेद का व्याख्यानमात्र किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद

का० ५१—में भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

का० ५२—में प्रमाण, नय और निक्षेप का लक्षण बतलाया है। विवृति में ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ५३—में कहा है कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है किन्तु 'मैं अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ' यह नहीं जानता। यदि जानता, तो उसमें किसी को विवाद ही न होता। विवृति में कहा है कि यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता तो वह अर्थ को नहीं जान सकता, जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न होकर भी वह इन्द्रियों को नहीं जानता है।

का० ५४—में कहा है कि यदि ज्ञान और अर्थ का अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण अर्थ को ज्ञान का कारण कहा जाता है तो संशय विपर्यय आदि ज्ञान किससे उत्पन्न हुए कहे जायेंगे? विवृति में कहा है कि यदि इन्द्रियगत और मनोगत दोषों को संशयादिज्ञान का जनक कहा जाता है तो अर्थ को ज्ञान का कारण मानने से क्या लाभ है? दोषरहित इन्द्रिय और मन

से ही सत्यज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः इन्द्रिय और मन को ज्ञान का कारण, तथा अर्थ को उसका विषय मानना ही श्रेयस्कर है।

का० ५५—में सन्निकर्ष के प्रामाण्य का निरसन करके ज्ञान को ही प्रामाण्य सिद्ध किया है। विवृति में कारिका का व्याख्यान करके आलोक को भी ज्ञान का कारण मानने का खण्डन किया है। न्या० कु० में का० ५१ से ५५ तक व्याख्यानमात्र किया है।

का० ५६—में कहा है कि अन्धकार का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु अन्धकार से आवृत वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। विवृति में कारिका के मन्तव्य को समझाते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञान का रोधक ज्ञानावरणीय कर्म है, अन्धकारादि नहीं। न्या० कु० में, ज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र ही तम है' इस मत की आलोचना करके तम और छाया को द्रव्य सिद्ध किया है।

का० ५७—में कहा है कि जैसे मल से आच्छादित मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है उसी तरह कर्मों से आवृत आत्मा के ज्ञान का विकास भी हीनाधिकरूप से अनेक प्रकार का देखा जाता है। विवृति में बतलाया है कि अपने २ योग्य ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार मन और इन्द्रियाँ ही ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, अर्थ और आलोक नहीं।

का० ५८—में बौद्धों का निराकरण करते हुए कहा है कि तदुत्पत्ति, तादूप्य और तदध्यवसाय न तो पृथक् २ ही ज्ञान के प्रामाण्य में कारण हैं और न मिलकर ही। विवृति में तदुत्पत्ति, तादूप्य और तदध्यवसाय का निराकरण किया है।

का० ५९—में उक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा है कि जैसे अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी अर्थ ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान अर्थ को जानता है। विवृति में निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि अर्थ और ज्ञान में तदुत्पत्तिसम्बन्ध न होने पर भी स्वाभाविक ग्राह्य ग्राहकसम्बन्ध है।

का० ६०—में कहा है कि ज्ञान स्व और पर का निर्णायक है अतः उसे ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिए। विवृति में कहा है कि निश्चयात्मकता के बिना ज्ञान में अविसंवादकता नहीं आ सकती। आगे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक की उत्पत्ति माननेवाले बौद्धों को लक्ष्य करके लिखा है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह सविकल्पक को उत्पन्न नहीं कर सकता।

का० ६१—में और उसकी विवृति में प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रतिज्ञानुसार की गई है। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय। इन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी चार भेद हैं—स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध। श्रुतज्ञान परोक्ष है और उसमें अर्थापत्ति, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है।

का० ६२— में श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं। उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम नय है। संपूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और उसके एकदेश के कथन को नय कहते हैं। विवृति में स्याद्वाद और नय का निरूपण विस्तार से किया है। और बतलाया है कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाणवाक्य है और 'स्यादस्त्येव जीवः' यह नयवाक्य है। न्या० कु० में का० ५७ से ६२ तक व्याख्यानमात्र है।

का० ६३—में कहा है कि प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द और 'एव' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। यदि किसी वाक्य के साथ उनका प्रयोग न किया गया हो तो भी अर्थवशात्

उनकी प्रतीति हो जाती है। विवृति में स्यात्कार और एवकार के प्रयोग की आवश्यकता प्रदर्शित की है। न्या० कु० में विरोधियों का निरसन करके 'स्यात्' पद की सार्थकता सिद्ध की है।

का० ६४ और ६५—में लिखा है कि वर्ण, पद और वाक्य कभी २ अवाञ्छित अर्थ को भी कह देते हैं और कभी २ वाञ्छित को भी नहीं कहते। फिर भी बौद्धों का यह कहना कि 'शब्द वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक है', लोकप्रतीति का उल्लंघन करके बोलनेवाले बौद्धों को ही शोभा देता है। विवृति में कारिका का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य नहीं चाहता कि उसके मुख से अपशब्द निकलें, फिर भी वे निकल जाते हैं और मन्दबुद्धि मनुष्य चाहता है कि मैं शास्त्रों का व्याख्यान करूँ किन्तु नहीं कर पाता। अतः शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र के सूचक न होकर उससे भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। न्या० कु० में मीमांसकों के शब्दनित्यत्ववाद और वेदापौरुषेयत्ववाद की तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद की विस्तार से आलोचना की है। इसके पश्चात् संस्कृत और प्राकृत भाषा के शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व की आलोचना करके कहा है कि शब्दों की प्रमाणता या अप्रमाणता में संस्कृतत्व और असंस्कृतत्व कारण नहीं है। जो शब्द सत्य अर्थ का प्रतिपादन करता है वह साधु है, जो नहीं करता वह असाधु है। जैसे संस्कृत शब्द संस्कृत के व्याकरण से सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्राकृत-शब्द प्राकृतव्याकरण से सिद्ध होते हैं आदि। तथा 'प्रकृतेर्भवं प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति का निरसन करके 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति को अपनाया है। ब्राह्मणत्व जाति का भी खण्डन किया है।

का० ६६-६७ में कहा है कि श्रुतप्रमाण के नैगम आदि सात भेद हैं, जो नय कहाते हैं। विवृति में कारिकाओं का विस्तृत व्याख्यान करते हुए सब से प्रथम यह सिद्ध किया है कि श्रुत के सिवाय अन्य ज्ञानों के भेद नय नहीं हो सकते। उसके बाद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मूल नय बतलाकर द्रव्य और पर्याय की विस्तृत चर्चा की है। निश्चय और व्यवहार का भी निरूपण किया है।

का० ६८—में नैगमनय और तदाभास की चर्चा करके, विवृति में लिखा है कि नैगमनय में गुण और गुणी दोनों की यथासंभव विवक्षा होती है किन्तु संग्रह में केवल एक की ही विवक्षा होती है। यही दोनों में अन्तर हैं।

का० ६९—और उसकी विवृति में संग्रहनय और तदाभास की चर्चा है।

का० ७०—और उसकी विवृति में व्यवहारनय और तदाभास का निरूपण किया है तथा अन्त में शून्याद्वैत आदि को नयाभास बतलाया हैं क्योंकि वे व्यवहार के घातक हैं।

का० ७१—में ऋजुसूत्र और तदाभास का निरूपण है। विवृति में बौद्धों की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रतिभासभेद से स्वभावभेद की व्यवस्थापना करनेवाले बौद्धों को प्रतिभास के अभेद से अभेद को भी मानना ही होगा।

का० ७२—में नैगमादि चार नयों को अर्थनय और शब्दादि तीन नयों को शब्दनय बतलाया है। विवृति में शब्दनयों का व्याख्यान करके व्याकरणशास्त्र को सच्चा बतलाया है। न्या० कु० में का० ६६ से ७२ तक का व्याख्यानमात्र किया है।

सप्तम परिच्छेद

का० ७३-७६—में लिखा है कि प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा पदार्थों को जानकर तथा जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थान के द्वारा जीवद्रव्य को विशेषतया

जानकर यह आत्मा अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करता है और तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके मुक्तिसुख का अनुभवन करता है। विवृति में लिखा है कि श्रुतप्रमाण और उसके भेद नयों के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायों का सङ्करव्यतिकररहित कथन करने को निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, और क्रिया की अपेक्षा न करके जो नामव्यवहार किया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। किसी वस्तु में नामनिर्देशपूर्वक दूसरे की स्थापना करने को स्थापनानिक्षेप कहते हैं। भावि पर्याय की प्राप्ति के लिये अभिमुख वस्तु को द्रव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का है—आगम और नोआगम। वर्तमानपर्यायविशिष्ट वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। निक्षेप से अप्रस्तुत का निराकरण और प्रस्तुत का प्ररूपण किया जाता है, अतः निक्षेप उपयोगी है। अन्त में वैशेषिक सौगत और सांख्य के द्वारा माने गये मुक्तात्माओं के स्वरूप को दृष्टि में रखकर लिखा है कि मुक्तावस्था में न तो आत्मा के विशेषगुणों का उच्छेद ही होता है, न गुण और गुणी की सन्तान का नाश ही होता है और न भोग्य के न होने के कारण आत्मा सर्वथा अभोक्ता ही होता है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए, आवरण का अस्तित्व तथा स्वरूप बतलाकर उसकी निर्जरा प्रमाणित की है। तथा सांख्य, वैशेषिक, वेदान्ती और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप की आलोचना करके मोक्ष का स्वरूप स्थिर किया है। अन्त में श्वेताम्बरों की केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्तिविषयक मान्यता का खण्डन किया है।

का० ७७—में शास्त्राध्ययन का फल 'जिन' पद की प्राप्ति बतलाया है।

का० ७८—में उसी बात को प्रकारान्तर से कहकर शुभ कामना की है। न्या० कु० में दोनों पद्यों का व्याख्यान किया है।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का संक्षिप्त विषयपरिचय जानना चाहिए।

लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तव्य

लघीयस्त्रय के विषयपरिचय को पढ़ने पर पाठकों को उसके दार्शनिक मन्तव्यों का आभास हो जाता है। लघीयस्त्रय में मुख्यतया तीन ही विषयों का विवेचन किया है—प्रमाण, नय और निक्षेप। उनमें से भी निक्षेप का तो केवल निर्देश कर दिया है। भट्टाकलंकविषयक प्रबन्ध के 'अकलंक के पहले जैनन्याय की रूपरेखा' और 'अकलंक की जैनन्याय को देन' शीर्षकों से प्रमाण की जैनसम्मत रूपरेखा पर प्रकाश पड़ सकेगा। यहाँ हम प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में वर्णित विषयों की प्रवचनप्रवेश में द्विरुक्ति किये जाने के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वाले नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों का समूह है, और वह प्रमाण का विषय है। जैनसिद्धान्त में ज्ञान के उत्पादक कारणों को प्रमाण न मानकर ज्ञान को ही प्रमाण माना है। प्रमाण के दो रूप हैं–स्वार्थ और परार्थ। ज्ञान के द्वारा वस्तु की साक्षात् ज्ञप्ति तो ज्ञाता को ही होती है। एक ज्ञाता के ज्ञान का साक्षात् उपयोग दूसरा ज्ञाता नहीं कर सकता, अतः उसके लिये शब्द का सहारा लेना पड़ता है। ज्ञान के द्वारा ज्ञाता जानता है और शब्द के द्वारा उसे दूसरों पर प्रकट करता है। इसी लिये ज्ञान को स्वाधिगम का हेतु और वचन को पराधिगम का हेतु कहा जाता है। किन्तु अधिगम का

कारण होने पर भी दोनों में एक मौलिक अन्तर है, ज्ञान अनेक वस्तुओं को या एक वस्तु के अनेक धर्मों को युगपत् जान सकता है किन्तु शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह उन्हें एकसाथ कह सके, वह तो एक समय में एक वस्तु या उसके एक धर्म को ही कह सकता है। अतः एक वस्तु के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को श्रुत और उसके एक धर्म के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को नय कहते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र और शब्दशास्त्र के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और शब्द से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। किन्तु वस्तु और वस्त्वंश के वाच्य-वाचक के भेद का विवेचन उन्होंने नहीं किया, इसी से प्रमाण के भेद नय का उल्लेख जैनदर्शन के सिवाय इतर दर्शनों में नहीं पाया जाता है और उसका कारण उनका एकान्तवादी होना है। किन्तु अनेकान्तवादी होने के कारण जैन-दर्शन ने शब्द की प्रतिपादकत्वशक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभवन करके 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्त-धर्मा होने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्यदृष्टिवाला उसे नित्य कहता है, पर्यायदृष्टिवाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है। इसके लिये जैनसिद्धान्त में नय का आविर्भाव हुआ, जो ज्ञाता के अभिप्राय को बतलाता है। इस प्रकार जैनशासन की मूलदृष्टि अनेकान्तवाद में से दो सिद्धान्तों का उद्गम हुआ। स्याद्वाद वस्तु को अनेकधर्मात्मक बतलाता है, नयवाद उसके किसी एक धर्म का कथन करनेवाले के दृष्टिकोण को बतलाता है। लघीयस्त्रय के प्रमाणप्रवेश में प्रमाण का और नयप्रवेश में नय का कथन करने पर भी दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए प्रवचनप्रवेश में प्रमाण के भेदों को गिनाकर श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं-स्याद्वाद और नय, तथा यह भी बतलाया है कि नय श्रुतप्रमाण के ही भेद हैं। अतः प्रवचनप्रवेश की रचना में अकलंकदेव की वही दृष्टि नहीं है जो पहले के दो प्रवेशों में है। द्विरुक्ति होने पर भी उसमें मौलिकता है और वह मौलिकता जैनन्याय से ही सम्बन्ध रखती है।

श्रुत के दो उपयोग

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। अतः वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचनप्रयोग करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि वहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मों की गौणता है। इसी लिये गौणधर्मों का द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्तरूप से सम्बद्ध रहता है। भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनों के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश संसार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथञ्चित्' या किसी अपेक्षा से होता था, क्योंकि उसके बिना पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकता अतः उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने 'स्याद्वाद' के नाम से सम्बोधित किया है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाये हैं—एक स्याद्वादश्रुत और दूसरा नयश्रुत। एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का बोध करानेवाले वाक्य को स्याद्वाद श्रुत कहते हैं। यह वाक्य पूर्ण वस्तु का बोध कराता है, अतः उसे सकलादेश भी कहते हैं। और अनेक धर्मा-

त्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। अतः उसे प्रमाणवाक्य भी कहते हैं। तथा, अनेकधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करानेवाले वाक्य को नयश्रुत कहते हैं, इसे विकलादेश भी कहते हैं। इस प्रकार श्रुत के दो उपयोग बतलाकर अकलंकदेव ने विवृति में दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर बतलाया है। वे लिखते हैं कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाण वाक्य या सकलादेश है और 'स्यादस्त्येव जीवः' यह नयवाक्य या विकलादेश है। इससे यह आशय निकलता है कि धर्मिवाचक शब्दों के साथ स्यात् और एवकार का यदि प्रयोग किया जाता है तो वह सकलादेश है और यदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उक्त दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है तो वह विकलादेश है। किन्तु अपने राजवार्तिक में अकलंकदेव ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण 'स्यादस्त्येव जीवः' दिया है और उसके उभयरूप होने में युक्तियाँ भी दी हैं। जहाँ तक हम जानते हैं लघीयस्त्रय में प्रदर्शित मन्तव्य का अनुसरण उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने नहीं किया। प्रायः सभी ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण दिया है और प्रयोक्ता के दृष्टिकोण में अन्तर बतलाकर उसे ही प्रमाणवाक्य और उसे ही नयवाक्य बतलाया है। आचार्य विद्यानन्द ने तो स्पष्ट लिखा है कि समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से ही व्यवहृत होता है। इस प्रकार लघीयस्त्रय में प्रतिपादित उक्त मन्तव्य का प्रसार उत्तर काल में नहीं हो सका। इसी प्रकार प्रमाणों की परम्परा के सम्बन्ध में भी लघीयस्त्रय में एक नवीनता पाई जाती है। उसमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है, किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे भी नहीं अपनाया और वे परोक्ष में ही अन्तर्भूत किये गये। इसका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि लघीयस्त्रय के उक्त दो मन्तव्यों का अनुसरण नहीं किया गया, किन्तु शेष को सभी ने एक स्वर से अपनाया है।

श्रीमद्भट्टाकलङ्क

प्राक्कथन

लघीयस्त्रय और उसकी विवृति के रचयिता श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव का स्थान जैनवाङ्मय में अनुपमेय है। यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ अतिगहन और प्रखर दार्शनिकों के लिये भी दुरूह हैं, उनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार और उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह जनसाधारण में प्रचलित हो, किन्तु जैनसमाज में ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जो उनके नामसे परिचित न हों और अकलङ्क नाम को सुनकर जिनके मस्तक श्रद्धा से नत न हो जाते हों। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् ग्रन्थकारों ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैनन्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किये गये मन्तव्यों को किसी भेदभाव के बिना ज्यों का त्यों अपनाया है। इन्हें 'जैनन्याय के सर्जक' कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है और उनके नाम के आधार पर जैनन्याय को श्लेषात्मक 'अकलङ्कन्याय' शब्द से कहा है जो वीतराग जिन और उनके

१ पृ० १८१, का० १८। २ त० श्लोकवार्तिक पृ० १३७, का० ५६।

अनुयायी भट्टाकलंक, दोनों का बोधक है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैनवाङ्मय के कोष को समृद्ध बनाया था। वे भारतीय साहित्यगगन में चमकनेवाले उन इने गिने नक्षत्रों में से थे जिनकी आलोकछटा से भारत-माता का मस्तक आज भी आलोकित है।

वे सब कुछ थे किन्तु उनकी जीवनगाथा गाने के लिये आज हमारे पास कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह 'न कुछ' के बराबर है। उनकी अमरकृतियाँ अपनी गोद में उनका अमर नाम लिये जीवित हैं, वे अपने कर्ता के बारे में जो कुछ बतला सकती हैं वह है उसका नाम, व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य। उनमें से एक आध कुछ अधिक बतलाने का साहस भी करती है तो उसका पता लगाने की सामग्री हमारे पास नहीं है। शिलालेख और ग्रन्थकार भी उनकी गुणगरिमा का गान करके ही रह जाते हैं। उन के पितृकुल गुरुकुल जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में वे मूक हैं। शेष रह जाती हैं कथाकारों की श्रद्धाञ्जलियाँ, किन्तु शताब्दियों का अन्तराल, कथाकारों की कल्पना, अन्य स्थलों से उनका समर्थन न होना आदि अनेक बातें एक इतिहासज्ञ को उनकी सत्यता में विश्वास न करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक आचार्य हो गये हैं। इन सब उलझनों के मध्य में से प्रकृत समस्या को सुलझाना और ऐतिहासिक तथ्य तक पहुँच जाना कितना दुष्कर है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तथापि प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है यह विचार कर हम इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं

अकलंक नाम के अन्य विद्वान्

नामसाम्य होने के कारण बहुत से महानुभाव समाननामा विभिन्न ग्रन्थकारों की कृतियों को एक ही की कृति समझ बैठते हैं। तथा कुछ ग्रन्थकार भी अपने नाम का लाभ उठाकर अपने नामराशि किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर अपने ग्रन्थों का नाम रखकर वैसा करने का प्रयत्न करते हैं, अतः प्रसिद्ध पुरुष की ख्याति को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक उस नाम के अन्य विद्वानों से भी परिचित हों। हमारे चरितनायक अकलंकदेव के पश्चात् अकलंक नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं और उनमें से कुछ ने कुछ रचनाएँ भी की हैं। अब तक ऐसे जितने अकलङ्कों का पता लग सका है उनकी तालिका[1] नीचे दी जाती है।

१ अकलंक वैद्यविद्य—इनके गुरु देवकीर्ति थे। समय, विक्रम की १२ वीं शताब्दी। इनका उल्लेख श्रवणबेल० शिला० [illegible] में मिलता है।

२ अकलंक पण्डित—श्रवण० शि० नं० ४३ में इनका उल्लेख है। यह शिलालेख ई० ११०० के लगभग का समझा जाता है।

३ अकलंक भट्टारक—यह जाति के पोरवाड़ थे। ये अकलंकसंहिता और श्रावकप्राय-श्चित्त (ई० १३११ में रचित) के कर्ता थे।

४ अकलंक—परमागमसार के रचयिता।

५ अकलंक—विवेकमञ्जरीवृत्ति (ई० ११९२) के रचयिता।

६ भट्ट अकलंक—विद्यानुवाद नामक मंत्रशास्त्र के रचयिता।

---

१ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा प्रेषित तालिका तथा मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित 'नवीन सूचीपत्रों का सूचीपत्र' के आधार पर यह तालिका दी गई है।

७ अकलंकदेव—ई० १६०४ में इन्होंने कर्नाटक शब्दानुशासन की रचना की थी। ये दक्षिण कनाड़ा के हाडुवल्ली मठ के जैनाचार्य के शिष्य थे।

८ अकलंक कवि—व्रतफलवर्णन के कर्ता।

९ अकलंकदेव—चैत्यवन्दनादिसूत्र, साधुश्राद्धप्रतिक्रमण, पदपर्यायमञ्जरी के रचयिता।

१० अकलंक—विद्याविनोद के कर्ता, इन्होंने अकलंक भट्टारक, वीरसेन, पूज्यपाद और धमकीर्ति महामुनि का उल्लेख किया है।

११ अकलंक–अकलंकप्रतिष्ठापाठ के रचयिता, यह ग्रन्थ १६ वीं अथवा १७ वीं शताब्दी का बना है। संभव है इनमें से कोई कोई अकलंक एक ही व्यक्ति हों, किन्तु वर्तमान परिस्थिति में हम उनका ऐक्य प्रमाणित कर सकने में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध आद्य अकलंक को कुछ ग्रन्थकारों ने केवल 'देव' शब्द से स्मरण किया है, जैसा कि आगे मालूम होगा। तथा 'भट्ट' संभवतः उनकी उपाधि थी, जो उस समय के प्रकाण्ड विद्वानों के नाम के साथ प्रयुक्त की जाती थी, जैसे भट्ट कुमारिल, भट्ट प्रभाकर आदि।

जन्मभूमि और पितृकुल

प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश ब्रह्मचारी नेमिदत्त के कथाकोश और कनड़ी भाषा के 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थ में अकलंक की जीवनकथा मिलती है।

कथाकोश के अनुसार अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के वे पुत्र थे। किन्तु राजावलीकथे के अनुसार वे काञ्ची के जिनदास नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपति का पुत्र बतलाया है।

वह श्लोक निम्न प्रकार है

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥

यह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ तो नहीं जान पड़ता। यद्यपि इसकी शब्दरचना राजवार्तिक की शब्दरचना से मेल खाती है और उसमें अकलङ्क के कवित्व की छाया भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उनके अन्य किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथा उक्त श्लोक ग्रन्थ के अन्त में न होकर उसके प्रथम परिच्छेद के अन्त में है, जब कि अन्य किसी भी परिच्छेद के अन्त में कोई श्लोक नहीं है। अतः श्लोक की स्थिति

---

१ दोनों कथाकोशों की कथाओं में कोई अन्तर नहीं है (देखो समन्तभद्र पृ० १०५ का नोट) नेमिदत्त ने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश को ही पद्य में परिवर्तित किया है। जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं—

देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराराधनासारकथाप्रबन्धः॥ ६॥
तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।
मार्गेण किं भानुकरप्रकाशो स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः॥ ७॥

नेमिदत्तकृत कथाकोश

उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करती है। तथापि कथाओं के साथ उसकी वास्तविकता की तुलना करने पर कथाओं की अपेक्षा उसे अग्रस्थान देना ही होगा।

अकलङ्क दक्षिणभारत के निवासी थे इसमें तो कोई सन्देह नहीं। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है। लघुहव्व नाम दक्षिण भारत के अनुरूप है क्योंकि वहाँ इस प्रकार के नाम पाये जाते हैं यथा–चिक्क, नन्न आदि। किन्तु पुरुषोत्तम नाम उत्तरभारत की शैली को सूचित करता है। राजवलीकथे का जिनदास नाम ब्राह्मण का जैनत्व सिद्ध करने के लिये कल्पित किया गया प्रतीत होता है। और उसकी स्त्री का जिनमती नाम उसकी काल्पनिकता का रहस्य प्रकट कर देता है। अतः अकलङ्क न तो पुरुषोत्तम मंत्री के पुत्र थे और न जिनदास ब्राह्मण के, किन्तु वे राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहव्व था।

कथाकोश का मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओं की राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में से कृष्णराज प्रथम शुभतुंग नाम से प्रसिद्ध था तथा उसके भतीजे दन्तिदुर्ग का अपरनाम साहसतुङ्ग था। मल्लिषेणप्रशस्ति के एक श्लोक से प्रकट है कि अकलङ्क साहसतुङ्ग की सभा में गये थे। संभवतः इसी आधार पर कथाकोश के कर्ता ने उन्हें मान्यखेट का अधिवासी मान लिया है। किन्तु उस समय के इतिहास में मान्यखेट का कोई पता नहीं चलता। दन्तिदुर्ग के वंशज महाराज अमोघवर्ष ने शक सं० ७३७ (सन् ८१५) में अपनी राजधानी मान्यखेट में प्रतिष्ठित की थी। इसी समय से यह नगर इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। अतः कथाकोश का उल्लेख किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता।

राजावलिकथे का काञ्ची नामक नगर इतिहास में प्रसिद्ध है। यह द्रविणदेश की राजधानी था। प्राचीन काल से यह विद्या का केन्द्र रहा है। इसे दक्षिणभारत की काशी कहा जाता है। एक समय स्वामी समन्तभद्र ने यहाँ अपनी विजयदुन्दुभि बजाई थी। पल्लव-वंश के समय में यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार बड़े जोरों पर था, क्योंकि पल्लवराजा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। बौद्धमत के प्रख्यात नैयायिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति काञ्ची के आसपास के ही निवासी थे और उन्होंने वहीं पर बौद्धदर्शन का अध्ययन किया था। इन सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमारा अनुमान है कि अकलंक के पिता लघुहव्व द्रविणदेश के ही किसी ताल्लुके के स्वामी होंगे और अकलंक का जन्म काञ्ची के निकट किसी ऐसे प्रदेश में हुआ होगा जहाँ पल्लवराज तथा उनके धर्मानुयायिओं के आतंक की चर्चा और प्रभाव हो। क्योंकि इस प्रकार के वातावरण में उत्पन्न होने से ही अकलङ्क के जीवन में वे सब बातें घट सकती हैं जिनका समर्थन न केवल कथाओं से किन्तु शिलालेखों और ग्रन्थकारों की श्रद्धाञ्जलियों से भी होता है।

बाल्यकाल और शिक्षा

जैनराजाओं या दानियों ने जैनधर्म की शिक्षा देने के लिये बौद्धों की तरह स्थान स्थान पर विद्यापीठ की स्थापना की हो, इतिहास में इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं मिलता। जैनों के आचार्य संसार से विरक्त साधु होते थे। वे ज्ञान और चारित्र के भण्डार होते थे। प्रायः नगरों के आसपास जंगलों में वे निवास करते थे। वे जैनों के धर्मगुरु होने के साथ ही साथ

१ देखो, 'महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार' शीर्षक प्रो० हीरालाल का लेख। जै० सा० संशो०, खंड २, अङ्क ३, पृ० १४७।

विद्यागुरु भी होते थे। जो विद्याप्रेमी भाई अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने का इच्छुक होता था वह अपनी सन्तान को इन वनवासी गुरुओं के सुपुर्द कर देता था। तपस्वी गुरुओं का सहवास और वन का प्रशान्त वातावरण उनमें से अनेक छात्रों को त्यागमार्ग का अनुगामी बना देता था और वयस्क होने पर यदि वे योग्य प्रमाणित हुए तो दीक्षा लेकर गुरु के पट्ट को सुशोभित करते थे। जैनवाङ्मय के भण्डार को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध करनेवाले सभी शास्त्रकार प्रायः संन्यास-पथ के पथिक थे और उनके गुरु भी उसी मार्ग के नेता थे।

अकलङ्क की धार्मिकशिक्षा भी इसी परिपाटी के अनुसार हुई प्रतीत होती है। कथाकोश में लिखा है "एक बार अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर अकलङ्क के माता पिता उन्हें जैन मुनिराज के निकट ले गये। साथ में उनके लघुभ्राता निकलङ्क भी थे। धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद पति-पत्नी ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया और कौतुकवश पुत्रों को भी ब्रह्मचर्यव्रत दिला दिया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और पिता ने विवाह रचाने का उपक्रम किया तो दोनों भाइयों ने मुनिराज के सन्मुख दिलाई गई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। पिता ने बहुतेरा समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो केवल आठ दिन के लिये दिलाई गई थी, किन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा दिलाते समय हमसे समय की मर्यादा की कोई चर्चा नहीं की गई थी। सारांश यह है कि उन्होंने विवाह नहीं किया और घर-बार का कामकाज छोड़कर विद्याभ्यास में चित्त लगाया।"

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओं के आधार से, जिनसे हम अपरिचित हैं, राइस सा० ने अकलंकदेव का जीवनवृतान्त लिखा है। वे लिखते हैं—"जिस समय काञ्ची में बौद्धों ने जैनधर्म की प्रगति को रोक दिया था उस समय जिनदास नामक जैन ब्राह्मण के यहाँ उसकी स्त्री जिनमती से अकलङ्क और निकलङ्क नाम के दो पुत्र थे। वहाँ पर उनके सम्प्रदाय का कोई पढ़ानेवाला नहीं था इसलिये इन दोनों बालकों ने गुप्तरीति से भगवद्दास नाम के बौद्ध-गुरु से—जिसके मठ में पाँच सौ शिष्य थे—पढ़ना शुरू किया।"

अकलंक के 'जन्मस्थान और पितृकुल' को बतलाते हुए हम इन कथाओं की यथार्थता के सम्बन्ध में ऊहापोह कर आये हैं और आगे भी करेंगे। किन्तु कथाकोशकार ने अकलङ्क के बाल्यजीवन की घटना का जो चित्रण किया है अर्थात् पिता के साथ मुनिराज के पास जाना, वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना और विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर बाल्यकाल में लिये गये व्रत का स्मरण दिलाकर आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प प्रकट करना तथा विद्याभ्यास में चित्त लगाना, वह सब इतना स्वाभाविक और सत्य प्रतीत होता है कि अकलंक के जीवन के साथ उसका सम्बन्ध अस्वीकार करने पर भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि अकलंकसदृश दृढ़ अध्यवसायी, प्रकाण्डपण्डित और कर्मठ व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की घटना नहीं घट सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति महापुरुष हुए उनके जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने उन्हें महापुरुष के पद पर पहुँचा दिया। जैन श्रावक, राजा हो या रंक, नगर के निकट मुनि के आने का समाचार सुनकर उनकी वन्दना किये बिना नहीं रह सकता। जैन कथानकों से स्पष्ट है कि नगर प्रान्त में किसी मुनि या संघ के पधारने का समाचार सुनकर श्रेणिक जैसे प्रभावशाली राजा न केवल स्वयं सपरिवार

यह वृत्तान्त जैनहितैषी, भा० ११, अंक ७-८ में प्रकाशित 'भट्टाकलंक' नामक लेख से दिया है।

मुनिवन्दना के लिये जाते थे किन्तु नगर में डुग्गी पीटकर इस सुसंवाद की घोषणा की जाती थी और सब नरनारी अपने अपने परिवार के साथ मुनिराज के पादमूल में धर्मोपदेश श्रवण करके यथाशक्ति व्रत नियमादि ग्रहण करते थे। अतः कथाकोश के पुरुषोत्तम मंत्री के स्थान में यदि लघु-हव्व राजा अपने पुत्र अकलंक के साथ मुनि के पादमूल में गया हो और वहाँ अकलंक ने भी ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। प्रत्युत ऐसी घटना का न घटना ही अचरज की बात हो सकती है। क्योंकि राजपुत्र होकर विद्याभ्यासङ्ग में लगना और राजोचित भोगविलास को त्यागकर जगह जगह शास्त्रार्थ करते फिरना किसी प्रेरकसामग्री के बिना संभव नहीं है। कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के उत्कर्ष के कारण जैनधर्म के ह्रास को देखकर उन्हें राजकाज छोड़कर इस मार्ग में प्रवृत्त होने की अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह कहना हमारी कल्पना का फल होते हुए भी उतना ही सत्य है जितना अकलङ्कदेव का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सत्य है। अन्तः प्रेरणा के बिना कोई भी व्यक्ति उस कठिन पथ का पथिक नहीं बन सकता, जिसे अकलङ्कदेव ने अपनाया था और न उसकी लेखनी में वह ओज ही आ सकता है जो अकलङ्क के साहित्य में हम पाते हैं। उनका साहित्य हमें बतलाता है कि जनता में फैलाये गये विपरीत दुर्विचारों से वे कितने दुखी थे और इसे वे मूढ़ जनता का दुर्भाग्य समझते थे। अपने न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः ॥
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

अर्थात्—"कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पुरोपार्जित पाप के उदय से, गुणद्वेषी एकान्तवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित होकर हम उस मलिन किये गये न्याय को निर्मल करते हैं।"

किन्तु इस अन्तः प्रेरणा को साहाय्य देने के लिये किसी बाह्य प्रेरक की भी आवश्यकता है। कथाकोश के अनुसार विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अकलङ्क आजन्म ब्रह्मचारी रहने का निश्चय करके विद्याभ्यास में चित्त लगाते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके बौद्धधर्म पढ़ने के लिये विदेश जाते हैं। और राजावलीकथे के अनुसार काञ्ची में किसी जैन पाठक के न होने के कारण वे बौद्धगुरु के मठ में पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। राजावलीकथे में मुनि के पास जाने आदि की कोई चर्चा नहीं है। और वहाँ उस सब की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। क्योंकि राजावलीकथे के अकलङ्क ब्राह्मणपुत्र हैं और ब्राह्मणपुत्र का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन होता ही है। अतः वे काञ्ची में जैनगुरु का प्रबन्ध न होने से बौद्धमठ में जा पहुँचते हैं। किन्तु राजपुत्र या मंत्रीपुत्र को अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर इस मार्ग में पैर रखने के लिये कोई बाह्य निमित्त मिलना ही चाहिए।

हमारा अनुमान है कि अकलङ्कदेव की आरम्भिक शिक्षा भी उसी पद्धति के अनुसार हुई थी जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर आये हैं, और यदि कथाकोश में वर्णित मुनि के पास जाने आदि की बात सत्य है तो संभव है वे ही मुनि उनके प्रारम्भिक गुरु हों और

उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य में जिनशासन का अभ्युदय कर सकने की क्षमता देखकर उसे इस ओर प्रेरित किया हो। अस्तु, जो कुछ हो। अकलङ्क एक राजपुत्र होते हुए भी बहुत बड़े तार्किक और वादी थे और उनका जीवन विद्याव्यासङ्ग में बीता था अतः उनकी शिक्षादीक्षा ऐसे वातावरण में हुई होगी जिसने उन्हें क्षत्रियोचित शस्त्रवीरता का मार्ग छुड़ाकर ब्राह्मणोचित शास्त्रवीरता के मार्ग का अनुगामी बनाया।

विद्यार्थीजीवन और संकट

अकलंक की जिन कथाओं का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन सबमें थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अकलंक का अपने लघुभ्राता निकलंक के साथ अपने को छिपाकर बौद्धमठ में विद्याध्ययन करना, बौद्धगुरु की पुस्तक में जैनसिद्धान्त के किसी रहस्य या वाक्य को लिख देना, बौद्धगुरु को किसी जैनछात्र के छिपकर विद्याध्ययन करने का संदेह होना, छात्र को खोज निकालने के लिये कई उपायों का प्रयोग करना, अकलंक और निकलंक का पकड़े जाना, आत्मरक्षा के लिये रात्रि के समय कारागार से निकलकर भागना, अकलंक का प्राण बचाना किन्तु निकलंक का बौद्धसैनिकों के द्वारा वध किया जाना आदि बातों का वर्णन मिलता है।

कथाकोश में लिखा है—"मान्यखेट नगर में किसी बौद्धविद्वान् के न होने के कारण दोनों भाईयों ने बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिये विदेशयात्रा की और अज्ञ छात्र का रूप धरकर बौद्धाचार्य के पास अध्ययन करने लगे। जब गुरु अपने बौद्धशिष्यों को बौद्धशास्त्र पढ़ाते थे तो वे दोनों छिपकर सब सुनते रहते थे। एक दिन गुरुजी दिङ्नाग के किसी ग्रन्थ को पढ़ा रहे थे। दिङ्नाग ने अनेकान्त का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष में सप्तभंगी का निरूपण किया था। अशुद्ध होने के कारण बौद्धगुरु उसे समझ नहीं सके और पढ़ाना बन्द करके चले गये। अकलंकदेव ने पाठ शुद्ध कर दिया। पुनः पुस्तक खोलने पर गुरु ने शुद्ध पाठ लिखा देखा और अनुमान किया कि उनके मठ में जैनशास्त्रों का ज्ञाता कोई जैन बौद्धसाधु का वेश बनाकर अध्ययन करता है। उन्होंने खोज करना प्रारम्भ किया। एक दिन उन्होंने एक जैनमूर्ति मँगाकर सब शिष्यों को उसे लाँघने की आज्ञा दी। अकलंक तुरन्त ताड़ गये और मूर्ति पर एक धागा डालकर उसे तुरन्त उलंघ गये। इस उपाय में सफलता न मिलने पर आचार्य ने दूसरा उपाय खोज निकाला। एक दिन रात्रि के समय उन्होंने प्रत्येक छात्र की शय्या के पास एक एक मनुष्य को खड़ा कर दिया और ऊपर से बर्तनों का एक बोरा जमीन पर जोर से पटक दिया। भयङ्कर शब्द सुनकर सब छात्र जाग पड़े। पञ्चनमस्कारमंत्र का स्मरण करते हुए अकलंक निकलंक भी जागे और समीप में खड़े मनुष्यों के द्वारा पकड़ लिये गये।

दोनों भाई पकड़कर महल के सातवें खन पर रख दिये गये। अपने उद्देश्य को पूरा किये बिना संसार से विदा होने का समय निकट जान, छोटा भाई निकलंक बहुत दुःखी हुआ किन्तु अकलंक ने प्राणरक्षा का एक उपाय खोज निकाला। एक छाते की सहायता से, जो वहाँ पड़ा हुआ था, दोनों भाई महल से कूद पड़े और वहाँ से भाग दिये। आधीरात के समय मारने के लिये जब उनकी खोज की गई तो वे नहीं मिले। तब बहुत से सवार उनके पीछे दौड़ा दिये गये। निकलंक ने घोड़ों की टापों का शब्द सुनकर जान लिया कि उन्हें मारने के लिये चर आरहे हैं। उसने अपने भाई से कहा कि आप पण्डित और चतुर व्यक्ति हैं, आपके जीवित रहने से जिनशासन का महान् उपकार होगा, अतः आप इस समीपवर्ती तालाब में

छिपकर अपने प्राण बचाओ। दूसरा उपाय न देखकर दुःखी अकलंक तालाब में छिप गये और निकलंक भाग दिये। एक धोबी कपड़े धो रहा था। उसने निकलंक को भागता देखा और पीछे की ओर उड़ती हुई धूल भी देखी। डरकर वह भी भाग खड़ा हुआ। सवारों ने उनके निकट पहुँच कर दोनों के सिर धड़ से जुदा कर दिये। सवारों के लौट जाने पर अकलंक तालाब से निकले और एक ओर को चल दिये।

भगवहास के मठ में दोनों भाईयों के प्रविष्ट होने के बाद उक्त घटना के सम्बन्ध में राइस सा० लिखते हैं—

"एक कथाकार कहता है कि उन्होंने ऐसी असाधारण शीघ्रता के साथ उन्नति की कि गुरु को सन्देह हो गया और उसने यह जानने का निश्चय किया कि वे कौन हैं। अतः एक रात्रि को जब वे सोते थे उस बौद्धगुरु ने बुद्ध का दाँत उनकी छाती पर रख दिया। इससे वे बालक जिनसिद्ध कहते हुए एक दम उठ खड़े हुए और इससे गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दूसरी कथा के आधार पर, उन बालकों ने एक दिन—जब कि गुरु कुछ मिनिट के लिये उनसे अलग हुआ था—एक हस्तलिखित पुस्तक में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः' लिख दिया और इस बात की छानबीन करने पर गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दोनों कथाओं में चाहे जो सच्ची हो आखिर नतीजा यह निकला कि उनके मारने का निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलंक ने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना स्वीकार किया ताकि उसके भाई को पीछा करनेवालों से बचने का अवसर मिल जाये। अकलंक ने एक धोबी की सहायता से, जिसने उसको अपने कपड़ों की गठरी में छिपा लिया, अपने को बचा लिया और दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यपद शोभित किया।"

इस अंश से अकलंक की कथाओं में रोचकता अवश्य आजाती है और इसलिये कथा-साहित्य में उन्हें अच्छा स्थान भी मिल सकता है, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर अकलङ्क ने राजपाट छोड़ा और गृहस्थाश्रम से मुँह मोड़ा उसकी सिद्धि के लिये उनका बौद्धदर्शन का विद्वान् होना आवश्यक था और बौद्धदर्शन का विद्वान् होने के लिये किसी बौद्धाचार्य को गुरु बनाना भी आवश्यक था, क्योंकि एक तो किसी धर्म का जो रहस्य उसके अनुयायी विद्वान् के द्वारा प्राप्त हो सकता है वह दूसरे के द्वारा मिलना अशक्य है। दूसरे, इतिहास से पता चलता है कि उस समय जैनों में कोई अच्छे विद्वान् आचार्य भी नहीं थे। अतः बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिये अकलङ्क का बौद्धमठ में प्रविष्ट होना बहुत अंशों में संभव है और इसके लिये उन्हें अपना असली रूप छिपाना भी पड़ा होगा। क्योंकि जब बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उत्तरभारत की काशी-पुरी में जैनविद्यार्थियों को अपना रूप छिपाकर विद्याभ्यास करना पड़ा है, तब सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत की काशी काञ्चीपुरी में, बौद्धधर्म के पालक पल्लवराज्य की छत्रछाया में, यदि अकलङ्क को बौद्ध बनकर विद्याभ्यास करना पड़ा हो तो अचरज ही क्या है? और ऐसी दशा में रहस्य खुल जाने पर संकट भी आसकता है। किन्तु रहस्य खुल जाने के जो कारण दिये गये हैं वे कुछ जँचते नहीं। छिपकर विद्याभ्यास करनेवाला व्यक्ति इस तरह बैठे बिठाये संकट मोल नहीं ले सकता। तथा रहस्य का उद्घाटन और छद्मवेषियों की गिरफ्तारी हो जाने के बाद उनके साथ बौद्धधर्म के उपासकों का जो क्रूर व्यवहार बतलाया गया है वह

बीसवीं शताब्दी के व्यक्तियों को धार्मिक द्वेष के रंग में रँगा हुआ जान पड़ता है। यद्यपि धर्मोन्माद सब कुछ करा सकता है और राजनैतिक इतिहास की तरह कुछ धर्मों का इतिहास भी रक्तपात और नृशंस हत्याओं से रञ्जित है। तथा दक्षिण में सुन्दरपाण्ड्य नाम के राजा ने जैनधर्म को छोड़कर शैवधर्म स्वीकार करने के बाद ८००० जैनों को शूली पर चढा कर मार डाला था। फिर भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उसे सत्य नहीं माना जा सकता। और यदि स्वीकार भी कर लिया जाये तो अकलङ्क के एक छोटे भाई निकलंक की समस्या आड़े आ जाती है।

निकलङ्क ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में निकलंक नाम के व्यक्ति का उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरों का तो कहना ही क्या, स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्ध में मूक हैं। जरा सोचिये तो सही, छोटा भाई बड़े भाई के प्राण बचाने के लिये सिर कटवादे और इस प्रकार जीवन के महान् उद्देश्य जिनशासन के प्रचार और प्रसार में सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्याग की स्मृति में उसका नाम तक भी न ले, क्या यह संभव है? हम हैरान हैं कि कथाकार ने किस आधार पर अकलङ्क के साथ एक निकलङ्क की कल्पना कर डाली।

दिगम्बर कथाकोशों के अकलङ्क की तरह श्वेताम्बर कथासाहित्य में हंस परमहंस की कथा वर्णित है। पहले में कम से कम इतनी तो ऐतिहासिकता है कि उसका मुख्य पात्र एक ऐति-

---

१ यह कथा चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावक चरित में वर्णित है। यह ग्रन्थ वि० सं० १३३४ का बना हुआ है। श्री राजशेखर सूरि का बनाया हुआ एक चतुर्विंशतिप्रबन्ध नामक संस्कृत ग्रन्थ भी है। वह वि० सं० १४०५ का बनाया हुआ है। उसमें भी हंस परमहंस की कथा लिखी हुई है। उसका सार यह है— हरिभद्रसूरि हंस परमहंस नामक अपने भानेजों को पढ़ाते थे। पण्डित होने पर, वे गुरु के मना करने पर भी बौद्धों से पढ़ने के लिये चले गये। एक वृद्धा के घर ठहरे और बौद्धवेश धारण करके पढ़ने लगे। वे कपलिका पर रहस्य लिख लेते थे। उनके प्रतिलेखन आदि क्रियाओं से गुरु ने उन्हें श्वेताम्बर समझा। दूसरे दिन सीढ़ियों पर खरिया मिट्टी से जिनबिम्ब की आकृति बना दी गई। हंस परमहंस ने उस पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया, और इस प्रकार उसे बुद्धमूर्ति मानकर उलंघ गये और गुरु के पास पहुँचे। गुरु के मुख का भाव बदला हुआ देखकर, और वह सब प्रपञ्च गुरु का ही रचा हुआ जानकर, पेट की पीड़ा का बहाना करके वे अपने निवासस्थान को चले गये और कई दिनों तक पढ़ने नहीं आये। बौद्धगुरु ने राजा से शिकायत की और कपलिका मगाने के लिये आग्रह किया। सेना भेजी गई किन्तु हंस परमहंस ने उसे मार भगाया। पुनः बहुत सी सेना भेजी गई। तब एक भाई ने सेना से दृष्टि युद्ध किया और दूसरा परमहंस कपलिका लेकर भाग गया। हंस मारा गया और उसका सिर राजा के आगे उपस्थित किया गया। राजा ने गुरु को दिखाया। गुरु ने कपलिका लाने की आज्ञा दी। सैनिक पुनः गये और रात्रि में चित्रकूट नगर के द्वार पर सोते हुए परमहंस का सिर काटकर ले गये। हरिभद्रसूरि ने सुबह को उठकर अपने प्रिय शिष्य का रुंड देखा, बड़े क्रोधित हुए। तप्त तैल की कढ़ाई में १४४० बौद्धों को होम देने का विचार किया। गुरु ने वृत्तान्त जानकर साधुओं के हाथ गाथाएँ भेजीं" आदि। इस कथानक में शास्त्रार्थ तथा धोबीवाली घटना नहीं आई है। मुनि पुण्यविजयजी से ज्ञात हुआ है कि प्रभावकचरित से पहले के किसी ग्रन्थ में हंस परमहंस की कथा नहीं मिलती। भद्रेश्वरसूरि का बनाया हुआ प्राकृतभाषा का एक कथावली नामक ग्रन्थ है। मुनि जिनविजयजी इसको १२ वीं शताब्दी की रचना अनुमान करते हैं। इसमें भी सिद्धसेन दिवाकर के बाद हरिभद्रसूरि का एक कथानक दिया है। मुनि पुण्यविजयजी ने कृपा करके इस कथा की प्रेसकापी हमारे देखने के लिये भेज दी थी। कापी में स्थान स्थान पर पाठ छूटे हुए हैं। कथा का आशय निम्नप्रकार है—

हासिक व्यक्ति है और उसके सम्बन्ध की कुछ बातों का समर्थन शिलालेखों और विभिन्न ग्रन्थकारों के उल्लेखों से होता है, किन्तु दूसरे के तो पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित नहीं होते

"हरिभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिसका कथन नहीं समझ सकूँगा उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक समय हरिभद्र चित्तौर आये। वहाँ जिनदत्ताचार्य के संघ में याकिनी नामकी एक साध्वी रहती थी। एक दिन हरिभद्र ने याकिनी के मुख से 'चक्किदुगं हरिपणगं' इत्यादि गाथा सुनी, किन्तु उसका अर्थ न समझ सके। हरिभद्र ने साध्वी से गाथा का अर्थ पूछा तो साध्वी उन्हें गुरु के पास ले गई। गुरु जिनदत्ताचार्य ने गाथा का अर्थ समझाया। हरिभद्र ने अपनी प्रतिज्ञा की बात कही। आचार्य ने साध्वी का धर्मपुत्र हो जाने के लिये कहा। हरिभद्र ने धर्म का फल पूछा। आचार्य ने कहा कि सकामवृत्तिवालों के लिये स्वर्गप्राप्ति और निष्कामकर्मवालों के लिये भवविरह (संसार का अन्त) धर्म का फल है। हरिभद्र ने भवविरह की इच्छा प्रकट की और जिनदत्ताचार्य ने उन्हें जिनदीक्षा दे दी। हरिभद्र के जिनभद्र और वीरभद्र नामके दो शिष्य थे। उस समय चित्तौड़ में बौद्धमत का प्राबल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्षा करते थे। एकदिन बौद्धों ने हरिभद्र के दोनों शिष्यों को एकान्त में मारडाला। यह सुनकर हरिभद्र को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अनशन करने का निश्चय किया। प्रभावक पुरुषों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और हरिभद्र ने ग्रन्थराशि को ही अपना पुत्र मान उसकी रचना में चित्त लगाया। ग्रन्थनिर्माण और लेखनकार्य में जिनभद्र वीरभद्र के काका लल्लिक ने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे लल्लिक शङ्ख बजाता था। उसे सुनकर बहुत से याचक एकत्र हो जाते थे। हरिभद्र उन्हें 'भवविरह करने में प्रयत्न करो' कहकर आशीर्वाद देते थे। इससे हरिभद्रसूरि भवविरहसूरि के नाम से प्रसिद्ध होगये थे"। प्रभावकचरित के वर्णन की अपेक्षा कथावली का लेख प्रामाणिक जँचता है और भवविरह शब्द की जो उपपत्ति कथावली में दी गई है वह हृदय को लगती है। हंस परमहंस नामकी अपेक्षा जिनभद्र वीरभद्र नाम भी वास्तविक जँचते हैं। प्रभावकचरित के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में मुनि कल्याणविजयजी लिखते हैं–"अमारा विचार प्रमाणे कथावलीनुं प्राचीन लखाण जे प्रामाणिक लागे छे, कारण के हंस अने परमहंस जेवां नामो जैन श्रमणोमां प्रचलित न होवा थी, ऐ नामो या तो कल्पित होवां जेइये अने नहि तो उपनाम होई शके, पण आवां मूल नामों होवां संभवतां नथी। ऐ सिवाय बीजु पण कथावलीमां लेखली हकीकत वास्तविक जणाय छे, प्रबन्धमां केटलाक बनावो अतिशयोक्तिपूर्ण अने कल्पित जेवा लागे छे।"

जिन दिगम्बर कथाकोशों में अकलङ्क की कथा वर्णित है उनमें से नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश का ही पद्यों में रूपान्तर है। वि० सं० १५७५ के लगभग नेमिदत्त के अस्तित्व का पता लगाया गया है। गद्यकथाकोश के बारे में प्रेमीजी का अनुमान है कि यह गद्यकथाकोश बहुत करके उन्हीं प्रभाचन्द्र का बनाया हुआ है जिनके पद पर पद्मनन्दि भट्टारक सं० १३८५ में बैठे थे। अर्थात् वे उसे वि० की चौदहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। रत्नकरंडश्रावकाचार की प्रभाचन्द्रकृत संस्कृतटीका में, जो इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है, कुछ कथाएँ मिलती हैं। हमने उक्त टीका में दत्त सम्यक्त्व के आठ अङ्गों की कथाओं का गद्यकथाकोश की कथाओं से मिलान किया तो उनमें अक्षरशः ऐक्य पाया। क्वचित् क्वचित् टीका में पाठ छूट गया है जो कथाकोश से पूर्ण हो जाता है। एक दो जगह साधारणसा शब्दभेद भी प्रतीत हुआ किन्तु वह प्रतिभेद का ही परिणाम जान पड़ा। पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने उक्त टीका का रचनाकाल वि० सं० १३०० के लगभग अन्दाजा है। अतः यदि रत्नकरण्ड की टीका में दत्त उक्त कथाएँ गद्यकथाकोश से ली गई हों या दोनों का कर्त्ता एक हो तो कथाकोश वि० की १३ वीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि अकलङ्क के भाई निकलङ्क और उसकी मृत्यु आदि की कल्पना श्वेताम्बरग्रन्थ कथावली वगैरह के प्रभाव का फल है और प्रभावकचरित में वर्णित हंस परमहंस की कथा पर गद्यकथाकोश में वर्णित अकलङ्क की कथा का प्रभाव है क्योंकि हंस परमहंस की कथा में शास्त्रार्थ तथा धोबी वगैरह की घटना कथाकार की जोड़ी हुई सी प्रतीत होती है।

और उसके चित्रण में भी कल्पना से पहले की अपेक्षा अधिक काम लिया गया प्रतीत होता है। तथा ऐसा जान पड़ता है कि पहले की कथा का दूसरे पर प्रभाव है। कथा इस प्रकार है—

हंस परमहंस की कथा

हरिभद्र सूरि के हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। पिता के कर्कश वचनों से विरक्त होकर दोनों ने दीक्षा लेली थी। न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन कर चुकने के बाद उनकी इच्छा हुई कि हम बौद्धदर्शन का भी अध्ययन करें। उन्होंने बौद्धों के नगर में जाकर बौद्धदर्शन का अध्ययन करने की इच्छा गुरु पर प्रकट की। निमित्तज्ञानी गुरु ने भावी को जानकर उन्हें वैसा करने से रोका और स्वदेश में ही किसी गुणी यति से बौद्धशास्त्र पढ़ने की सम्मति दी। किन्तु भावी बलवान है। दोनों भाइयों ने सुगतपुर अर्थात् बौद्धों की नगरी को प्रस्थान किया और वहां पहुंच कर एक बौद्धमठ में पढ़ने लगे। उन्होंने एक पत्र पर जिनमत की युक्तियों के खण्डन का प्रतिखण्डन और दूसरे पर सुगतमत के दूषण लिख रखे थे। दैवयोग से एक दिन वे पत्र हवा में उड़ गये और किसी तरह बौद्धगुरु की दृष्टि में जा पड़े। उन्हें देखकर गुरु को किसी जैन छात्र के होने का सन्देह हुआ। परीक्षा के लिये उसने मार्ग में जिनबिम्ब का चित्र बनवा दिया और सब छात्रों को उस पर पैर रखकर आने की आज्ञा दी। प्राणों पर संकट जानकर दोनों भाईयों ने खड़िया मिट्टी से प्रतिमा के हृदय पर यज्ञोपवीत[1] का चिन्ह बना दिया और तब उसे बुद्धप्रतिमा मानकर वे झट लांघ गये। तब दूसरी परीक्षा का समय आया और रात्रि में ऊपर से बर्तन डालकर चौंका देनेवाला शब्द किया गया। सब विद्यार्थी जाग पड़े और अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। हंस परमहंस ने भी जिनदेव का स्मरण किया और पहरे पर नियुक्त चरों ने उसे सुन लिया और वे पकड़ लिये गये तथा महल की छत पर रखे गये। मृत्यु के भय से दोनों भाई छातों की सहायता से पृथ्वी पर आये और भाग दिये। उन्हें पकड़ने के लिये सवार दौड़ाये गये। सवारों को निकट आया जान हंस ने अपने छोटे भाई को तो सूरपाल राजा की शरण में भेज दिया और आप लड़कर मारा गया।

सवार राजा के पास गये और उससे अपना अपराधी मांगा। किन्तु राजा ने देने से साफ़ इन्कार कर दिया और शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। अधिपति ने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया। किन्तु यह कह कर कि बुद्ध के मस्तक पर पैर रखनेवाले व्यक्ति का मुख हम नहीं देख सकते, हंस का मुख देखने से इन्कार कर दिया।

बौद्धों ने घट में अपनी देवी का आह्वान किया और उससे हंस का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चला। अन्त में जिनशासनदेवी के द्वारा बतलाये गये उपाय से काम लिया गया। हंस ने विजय पाई और पर्दा खींच कर घड़े को पैर से फोड़ डाला।

हंस ने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्ति का अन्त नहीं हुआ। पराजित बौद्ध और भी कुपित होगये। अस्तु, किसी तरह उनसे आंख बचाकर वह सूरपाल से विदा हुआ। रास्ते में उसने एक धोबी देखा और सवारों को समीप आया जानकर उससे कहा—'भागो सैना आरही

---

१ इस कथा के रचनाकाल में, श्वेताम्बरसंप्रदाय में, जिनबिम्ब का शृङ्गार करने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः इसी से अकलङ्क की कथा में वर्णित, मूर्ति पर धागा डालकर उसे लांघने की घटना के स्थान में यज्ञोपवीत बनाकर उसे लांघने की कल्पना की गई है।

है।' बेचारा धोबी कपड़े धोना छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंस ने उसका स्थान ले लिया। सवारों के निकट आने पर और उस से उस मार्ग से जाने वाले एक मनुष्य का पता पूछने पर परमहंस ने भागते हुए धोबी की ओर संकेत कर दिया और इस प्रकार अपनी जान बचाकर गुरु के पास पहुंचा। और सब हाल सुनाते हुए तीव्र शोक के वेग से उसकी छाती फट गई और वह मर गया।

हरिभद्र सूरि को अपने प्रिय शिष्यों की मृत्यु से बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेने के लिये उन्होंने बहुत से बौद्ध पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया और शर्त के अनुसार उन बौद्धों को तप्त तैल में डाल दिया।

किसी किसी का कहना है कि बौद्धों पर क्रुद्ध होकर उन्होंने आकर्षिणीविद्या के द्वारा उन्हें तप्त तैल में झोंक दिया। जब उनके गुरु को इस समाचार की सूचना मिली तो उन्होंने उनके पास क्रोध की शान्ति के लिये कुछ गाथा लिखकर भेजी, जिससे वे शान्त हुए। हरिभद्र के प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द आता है जो उनके प्रियशिष्यों के वियोग का चिह्न है।"

इस कथा को पढ़कर पाठक कथाओं के ऐतिहासिक मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे। अतः अकलङ्क की कथा के आधार पर निकलङ्क को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति, बौद्धों से मुठभेड़ और अकलङ्क के साहित्य में विशेषतया बौद्ध-वाद का खण्डन देखकर अकलङ्क के बौद्धमठ में अध्ययन करने की किंवदन्ती सत्य प्रतीत होती है। विलसन साहब की 'मैकेंजी कलेक्शन' नामक पुस्तक के आधार पर राईस साहब ने लिखा है कि पोनतग के बौद्धविद्यालय में अकलङ्कदेव ने शिक्षा पाई थी।

शास्त्रार्थी अकलंक

बौद्धविद्यालय में अध्ययन कर चुकने के बाद गृहत्यागी अकलङ्क के सामने जीवन के महान् उद्देश्य को पूरा करने की समस्या उपस्थित हुई। उस समय विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का बहुत प्रचार था और राजा तथा प्रजा दोनों ही उसमें क्रियात्मक भाग लेते थे। इन शास्त्रार्थों का फल केवल जय और पराजय ही नहीं होता था किन्तु धर्मप्रचार का यह एक मुख्य साधन समझा जाता था। ये शास्त्रार्थ बहुत करके राजसभाओं में होते थे और राजन्यवर्ग उनमें मध्यस्थ रहता था। यदि राजा बुद्धिमान् शास्त्रज्ञ और विवेकी होता था तो विजयी पक्ष से प्रभावित होकर उसका धर्म स्वीकार कर लेता था और 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति का प्राधान्य होने के कारण प्रजा भी उसका अनुसरण करती थी। फलतः शास्त्रार्थ के द्वारा राज्य का राज्य स्वधर्मी बनाया जा सकता था। इसी लिये उस समय के वादी विद्वान् राजाओं की तरह दिग्विजय करने के लिये निकलते थे और मुख्य २ राजसभाओं में जाकर स्वामी समन्तभद्र की तरह ललकार कर कहते थे—

"राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी"

चीनी यात्री फाहियान और ह्यूनत्सांग ने अपने अपने यात्राविवरण में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। ह्यूनत्सांग सातवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था और बहुत समय तक नालन्दा के बौद्धविद्यापीठ में रहा था। एक बार वह भी एक शास्त्रार्थ करने के लिये गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन करते हुए वह लिखता है—"सबेरे से शाम तक

१ हुएन्त्सांग का यात्राविवरण पृ० ४९३।

लोग वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। वृद्ध हो अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय सब मिल जुल-कर एक दूसरे की सहायता करते हैं।.....अन्य नगरों के विद्वान् लोग, जिनको शास्त्रार्थ में शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है, झुँड के झुँड यहाँ आकर अपने संदेहों का निवारण करते हैं।.....अगर दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन कठिन प्रश्न करता है जिनको सुनकर ही कितने ही तो असमर्थ और निरुत्तर होकर लौट जाते हैं। उन विद्यार्थियों को, जो यहाँ पर नवागत होते हैं और जिनको अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता है, उत्तीर्ण संख्या दस में ७ या ८ होती है।"

इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शास्त्रार्थों का कितना प्राबल्य था और उनमें भाग लेने के लिये किस श्रेणी की विद्वत्ता की आवश्यकता थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर अकलंकदेव को भी राजसभाओं में जाकर जिनशासन की विजयवैजन्ती फहराने के सुअवसर मिले। स्वामी समन्तभद्र की तरह विभिन्न देशों को दिग्विजय करते हुए पर्यटन करने का उल्लेख तो उनके बारे में नहीं मिलता। किन्तु कुछ राजसभाओं में बौद्धों के साथ उनकी मुठभेड़ होने का वर्णन पाया जाता है। तथा कई शिलालेख और ग्रन्थकार उन्हें बौद्धों का विजेता कहते हैं।

कथाकोश में उनके एक शास्त्रार्थ का वर्णन इस प्रकार किया है—"कलिंगदेश में रत्नसंचय-पुर नामका नगर था। वहाँ हिमशीतल राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मदन-सुन्दरी था। एक बार अष्टाह्निकापर्व के अवसर पर रानी ने जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकालने का विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघश्री ने राजा को बहकाकर रथयात्रा उत्सव बन्द करा दिया। और यह शर्त रखी गई कि यदि कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ में बौद्धों को हरा सकेगा तो रथयात्रा का उत्सव मनाने दिया जायेगा। रानी ने कोई उपाय न देखकर, खाना-पीना त्याग कर जिन मन्दिर में ध्यान लगाया। आधी रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी का आसन डोला और उसने दिन निकलने पर अकलंकदेव के पधारने का सुसम्वाद सुनाया। अकलंकदेव आये और हिम-शीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सभा के बीच में एक परदा पड़ा था और उसके अन्दर से संघश्री शास्त्रार्थ करता था। छह मास हो गये, किन्तु किसी की भी हार नहीं हुई। एक दिन रात्रि के समय अकलंक इसी उधेड़बुन में पड़े हुए थे कि चक्रेश्वरी देवी ने खबर दी कि परदे की ओट से बौद्धों की इष्टदेवी तारा शास्त्रार्थ करती है। उसने उन्हें सम्मति दी कि कल को वे देवी से प्रकारान्तर से प्रश्न करें। अगले दिन अकलंक ने वैसा ही किया तो उत्तर न मिला। आगे बढ़कर उन्होंने पर्दा खींच लिया और घड़े को ठोकर से फोड़ डाला। जैनधर्म की खूब प्रभावना हुई और बड़े ठाठबाट से जिनेन्द्रदेव की सवारी निकली।"

राईस सा० के द्वारा सङ्कलित कथा में इस वाद के बारे में लिखा है—"अकलङ्कदेव ने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यपद सुशोभित किया। इस समय अनेक मतों के विद्वान आचार्य बौद्धों से वादविवाद में हार खाकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरशैव[1] सम्प्रदाय के आचार्य सुधापुर में अकलङ्कदेव के पास आये और उनसे उन्होंने सब हाल कहा। इस

१ कलचुरि वंशीय राजा विज्जल के मंत्री वसव ने वि० स० १२०० के लगभग वीरशैव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। अतः अकलंक के समय में यह सम्प्रदाय नहीं हो सकता। यह कथालेखक की मनगढ़न्त है।

पर अकलङ्कदेव ने वहां जाने और बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अकलङ्क ने अपनी मयूरपिच्छिका को छुपाकर, जिससे वे जैनमती जाने जाते, बौद्धों को यह विश्वास दिलाने की योजना की कि वे शैव हैं और इस ढंग पर उनको वाद में जीतकर पीछे उन्हें अपनी मयूरपिच्छी दिखलादी। इस पर बौद्धलोग बहुत ही क्रुद्ध और उत्तेजित हुए। कांची के बौद्धों ने जैनियों का हमेशा के लिये अन्त कर डालने के अभिप्राय से अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिये उत्तेजित किया कि अकलङ्क को इस शर्त के साथ उनसे वाद करने के लिये बुलाया जाये कि जो कोई वाद में हार जाये उसके सम्प्रदाय के कुल मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जांये। वाद हुआ। (वाद का वर्णन कथाकोश से बिल्कुल मिलता है केवल इतना अन्तर है कि यहां चक्रेश्वरी देवी के स्थान में कुष्मांडिनी देवी ने अकलङ्कदेव को तारा की सूचना दी थी) और जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हू में पिलवा देने का हुक्म दे दिया। परन्तु अकलङ्क की प्रार्थना पर वे समस्त बौद्ध सीलोन के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।"

हिमशीतल राजा की सभा में अकलङ्क के शास्त्रार्थ और तारा देवी की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी किया है। तथा उसमें राजा साहसतुंग की सभा में अकलङ्क के जाने और वहां आत्मश्लाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं–

"तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा समं
बौद्धैर्या घृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानञ्च यस्याचर–
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती॥

चूर्णिः। यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते–
राजन्साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुराधियः काले कलौ मद्विधाः॥ १॥
राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध–
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्॥ २॥
नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः॥ ३॥"

---

१ यहां 'सुगतः' के स्थान में 'स घटः' पाठ सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि 'पादेन विस्फोटितः' के साथ उसकी सङ्गति ठीक बैठती है और हिमशीतल की सभा की घटना–पैर से घड़े को फोड़ने–का भी भाव स्पष्ट हो जाता है। अन्यथा 'सुगत को पैर से फोड़ दिया' अर्थ असङ्गत प्रतीत होता है।

अर्थात्—"जिसने गुप्तरूप से घट में अवतारित तारा देवी को बौद्धों के सहित परास्त किया, सिंहासन के भार से पीड़ित मिथ्यादृष्टि देवों ने जिसकी सेवा की। और मानों अपने दोषों का प्रायश्चित करने ही के लिये बौद्धों ने जिसके चरणकमल की रज में स्नान किया उस कृती अकलङ्क की प्रशंसा कौन कर सकता है? सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरवद्य पांडित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

राजन् साहसतुङ्ग! श्वेत छत्र के धारण करनेवाले राजा बहुत से हैं किन्तु आपके समान रणविजयी और दानी राजा दुर्लभ है। इसी तरह पण्डित तो बहुत से हैं किन्तु मेरे समान नानाशास्त्रों के जानने वाले कवि, वादी और वाग्मी इस कलिकाल में नहीं हैं।

राजन्! जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने में तुम्हारा चातुर्य प्रसिद्ध है उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में मैं पृथ्वी पर ख्यात हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान् मौजूद हैं उसमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्तशास्त्रों का पारगामी हो तो मुझ से वाद करे।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त बौद्ध विद्वानों को जीतकर मैंने तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया। सो किसी अहङ्कार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देखकर, करुणाबुद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा।"

इस प्रशस्ति का 'तारा येन विनिर्जिता' आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही बनाया हुआ प्रतीत होता है किन्तु चूर्णि से स्पष्ट है कि शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जनश्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सङ्कलित कर दिया है। इससे कथाओं में वर्णित अकलङ्क के शास्त्रार्थ की कथा शक सं० १०५० (प्रशस्तिलेखन का समय) से भी पहली प्रमाणित होती है।

श्रवणबेलगोला के एक अन्य शिलालेख में भी अकलङ्क का स्मरण इस प्रकार किया है—

"भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैस्सकलङ्कभूतम्।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव॥ २१॥"

विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख नं० १०५

अर्थात्—"बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशरूपी पङ्क से सकलङ्क हुए जगत को मानों अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिये भट्टाकलङ्क ने अकलंक कर दिया।"

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलंक को बौद्धविजेता लिखकर स्मरण किया है। महाकवि वादिराज सूरि अपने पार्श्वनाथचरित (श० सं० ९४८) में लिखते हैं—

"तर्कभूबल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥"

"वे तार्किक अकलंकदेव जयवन्त हों, जिन्होंने जगत की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्धदस्युओं को दण्ड दिया।"

पाण्डवपुराण में तारादेवी के घड़े को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता॥"

"कलिकाल में वे कलङ्करहित अकलङ्क श्रुत को भूषित करें जिन्होंने घड़े में बैठी हुई मायादेवी–मायारूपधारिणी देवी को पैर से ठुकराया।"

हनुमच्चरित में लिखा है—

"अकलङ्कगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः।"

"अकलङ्क पद के स्वामी वे अकलङ्क गुरु जयवन्त हों जो बौद्धों की बुद्धि की वैधव्य-दीक्षा के गुरु कहे जाते हैं अर्थात् जिन्होंने बौद्धों की बुद्धि को विधवा बना दिया।"

अकलंक के बौद्धविजयसम्बन्धी उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं जो उन्हें प्रबल तार्किक और वादिशिरोमणि बतलाते हैं। यथा—

न्यावि० वि० के अन्त में वादिराज उन्हें 'तार्किकलोकमस्तकमणि' लिखते हैं। न्यायकुमुद-चन्द्र के तृतीय परिच्छेद के अन्त में आचार्य प्रभाचन्द्र उन्हें 'इतरमतावलम्बीवादिरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह बतलाते हुए लिखते हैं—

"इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः॥"

अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र 'सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरण-नखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः' लिखकर उनकी तार्किकता के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हैं। लघीयस्त्रय के वृत्तिकार अभयचन्द्र ने भी उन्हें इसी विशेषण से भूषित किया है। स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरि 'प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽक-लङ्कः' लिखकर उन्हें मतान्तरों के दोषों का उद्भावक बतलाते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव उन्हें 'तर्काब्जार्क'–तर्करूपी कमल के विकास के लिये सूर्य बतलाते हैं। विद्वत्समाजमें अकलंकदेव की तार्किकता और सभाचातुर्य की इतनी ख्याति थी कि उत्तरकाल में विद्वानों में उन गुणों की गरिमा बतलाने के लिये उनके नाम को उपमा दी जाती थी। महाकवि वादिराज की प्रशंसा में कहा गया है कि वे सभा में अकलंकदेव के समान थे। तथा मेघचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'षड्दर्शनों में अकलंकदेव के समान निपुण' बतलाया है।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंकदेव अपने समय के एक विशिष्ट विद्वान् और सभा-चतुरवादी थे तथा बौद्धों को परास्त करने की घटना ने एक विश्रुत जनरव का रूप धारण कर लिया था। अतः अकलङ्ककथा का शास्त्रार्थसम्बन्धी भाग कल्पित नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें वर्णित बौद्धों का पर्दा डालना पर्दे के भीतर से घड़े में बैठी हुई तारादेवी का शास्त्रार्थ करना, अकलंक का उसे न जीत सकना, चक्रेश्वरी का आना और तारा को बीच में टोककर प्रकारान्तर से प्रश्न करने की सम्मति देना आदि, कुछ बातें ऐसी हैं जो बीसवीं शताब्दी के पाठकों को बिल्कुल असङ्गत प्रतीत होती हैं। परन्तु इतिहास का परिशीलन करने से कथा

---

१ पृ० ११३७। २ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में। ३ सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्म-कीर्तिः वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः। इति समयगुरूणामेकतः सङ्गतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादि-राजः॥ (vide ins no. 39. Nagar taluy by mr. Rice.)

४ "षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।" चन्द्रगिरि पर्वत का शिला० नं० ४७ (प्रो० हीरालाल)

में वर्णित कुछ बातों पर रोचक प्रकाश पड़ता है। ह्यूनत्सांग ने अपने यात्राविवरण में एक ऐसे ब्राह्मण की कथा का उल्लेख किया है जो पर्दे में बैठकर शास्त्रार्थ करता था और जिसे अश्वघोष बोधिसत्व ने उसी रीति से पराजित किया था जिस रीति से तारादेवी को पराजित करने की बात कथा में कही गई है। ह्यूनत्सांग लिखता है–"एक ब्राह्मण था जिसने मनुष्यों की पहुंच से बहुत दूर जंगल में एक स्थान पर एक कुटी बनाई थी और वहीं पर उसने सिद्धिलाभ करने के लिये राक्षसों का बलिप्रदान किया था। इस अन्तरिक्षीय सहायता को प्राप्त करके वह बहुत बढ़ चढ़ कर बातें मारने लगा और बड़े जोश में आकर विवाद करने लगा। उसकी इन वक्तृताओं का समाचार सारे संसार में फैल गया। कोई भी आदमी किसी प्रकार का प्रश्न उससे करे, वह एक परदे की ओट में बैठकर उसका उत्तर ठीक ठीक दे देता था। कोई भी व्यक्ति चाहे कैसा ही पुराना विद्वान और उच्च कोटि का बुद्धिमान हो, उसकी युक्तियों का खण्डन नहीं करपाता था।..... इसी समय अश्वघोषबोधिसत्त्व भी वर्तमान था..... वह उसकी कुटी पर गया और कहा–"मुझको आपके प्रसिद्ध गुणों पर बहुत दिनों से भक्ति है। मेरी प्रार्थना है कि जब तक मैं अपने दिल की बात न समाप्त करलूं आप परदे को खुला रक्खें।" परन्तु ब्राह्मण ने बड़े घमंड से परदे को गिरा दिया और उत्तर देने के लिये उसके भीतर बैठ गया और अन्ततक अपने प्रश्नकर्ता के सामने नहीं आया। अश्वघोष ने विचार किया जब तक इसकी सिद्धि इसके पास रहेगी, तब तक मेरी बुद्धि बिगड़ी रहेगी। इस लिये उसने उस समय बातचीत करना बन्द कर दिया। परन्तु चलते समय उसने कहा–"मैंने इसकी करामात को जान लिया, यह अवश्य परास्त होगा।" वह सीधा राजा के पास चला गया और कहा–"यदि आप कृपा करके मुझको आज्ञा दें तो मैं उस विद्वान महात्मा से एक विषय पर बातचीत करूँ।"..... विवाद के समय अश्वघोष ने तीनों पिटक के गूढ़ शब्दों का और पञ्च महाविद्याओं के विशद सिद्धान्तों का आदि से अन्त तक अनेक प्रकार से वर्णन किया। इसी विषय को लेकर जिस समय ब्राह्मण अपना मत निरूपण कर रहा था उसी समय अश्वघोष ने बीच में टोक दिया–"तुम्हारे विषय का क्रमसूत्र खण्डित होगया, तुमको मेरी बातों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिये।" अब तो ब्राह्मण का मुख बन्द होगया और वह कुछ न कह सका। अश्वघोष उसकी दशा को ताड़ गया उसने कहा–"क्यों नहीं मेरी गुत्थी को सुलझाते हो? अपनी सिद्धि को बुलाओ और जितना शीघ्र हो सके उससे शाब्दिक सहायता प्राप्त करो।" यह कहकर उसने ब्राह्मण की दशा को जानने के लिये परदे को उठाया। ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्ला उठा, "परदा बन्द करो, परदा बन्द करो।" इस कथा से इस बात का पता लगता है कि उस समय के कोई कोई मनुष्य इस तरह की कोई सिद्धि प्राप्त कर लेते थे जो शास्त्रार्थ के अवसर पर उनकी सहायता करती थी। संभवतः ऐसी सिद्धियाँ तीक्ष्णदृष्टि मनुष्य के सामने अपना काम करने में असमर्थ होती थीं, इसी से बाजीगर की तरह पर्दे की ओट से उनका उपयोग किया जाता था और किसी प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर उनकी सहायता से तभी दिया जा सकता था जब कि वक्ता को बीच में टोका न जाये। टोकने पर उसका प्रवाह रुक जाता था और वह सब भूल जाता था। संभवतः अकलंकदेव को भी जिस बौद्ध विद्वान् से शास्त्रार्थ करना पड़ा था उसे तारादेवी सिद्ध थी और

१ यात्राविवरण पृ० ३९३–९६।

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने की अभिलाषा से पर्दे की ओट में घट रखकर उसने उसका आह्वान किया था। किन्तु शास्त्रार्थ में वह स्वयं ही बोलता होगा, जैसा कि हम ह्यूनत्सांग के विवरण में पढ़ चुके हैं।

बौद्धसम्प्रदाय में तारादेवी का बड़ा सन्मान था और उसके तांत्रिक समाज की, जिसका एक समय भारत में बड़ा प्रभाव था, तारा अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित बौद्धस्तोत्रसंग्रह की प्रस्तावना में डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने ताराविषयक साहित्य का परिचय कराते हुए तिब्बतीय भाषा के ६२ तथा संस्कृत के ३४ ग्रन्थों की तालिका दी है। इससे पाठक सरलता से समझ सकते हैं कि बौद्धसम्प्रदाय में तारा की कितनी मान्यता थी। तारा का स्तवन करते हुए स्रग्धरास्तोत्र में लिखा है—

"विश्रान्तं श्रोतृपात्रे गुरुभिरुपहृतं यस्य नाम्नायभैक्ष्यं
विद्वद्गोष्ठीषु यश्च श्रुतधनविरहान्मूकतामभ्युपैति।
सर्वालङ्कारभूषाविभवसमुदितं प्राप्य वागीश्वरत्वं
सोऽपि त्वद्भक्तिशक्त्या हरति नृपसभे वादिसिंहासनानि ॥ २० ॥"

अर्थात्–"जिसने कभी गुरु के मुख से एक वाक्य भी नहीं सुना और जो अज्ञानी होने के कारण विद्वानों की सभा में एक शब्द भी नहीं बोल सकता, तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से वह मनुष्य चतुरवक्ता हो जाता है और राजसभा में वादिरूपी सिंहों के आसन को हर लेता है—उन्हें पराजित कर देता है।"

इससे पता चलता है कि तारा को बुद्धिऋद्धिदायिनी भी माना जाता था और उसकी भक्ति से न केवल मूक वाचाल हो जाता था किन्तु राजसभा में जाकर वादियों को पराजित भी कर सकता था। अतः कथा में वर्णित शास्त्रार्थ की रीति उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुकूल मालूम होती है। इस प्रकार ह्यूनत्सांग के संसारप्रसिद्ध ब्राह्मण की तरह इन्द्रजालिया बौद्धगुरु को अपने बुद्धिकौशल से पराजित करके अकलङ्कदेव ने तत्कालीन जनसमाज में काफी ख्याति प्राप्त की होगी, इसी से उनकी इस विजय का उल्लेख जगह जगह पाया जाता है।

इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के अतिरिक्त भी अकलङ्कदेव ने अन्य अनेकों शास्त्रार्थ किये, क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य केवल एक शास्त्रार्थ से पूरा होनेवाला न था और उस समय सर्वत्र विपक्षियों का इतना प्राधान्य था कि उनको पराजित किये बिना कुछ कर सकना अशक्य था।

ग्रन्थकार अकलङ्क

पिछले प्रकरण में अकलङ्कदेव के शास्त्रार्थीरूप का दिग्दर्शन कराते हुए शिलालेखों और ग्रन्थकारों के अनेक उल्लेखों के आधार पर हम उनकी वाक्पटुता और तार्किकता का थोड़ा सा परिचय करा आये हैं। किन्तु वह परिचय साक्षात् न होकर परम्परया है। उनकी अगाध विद्वत्ता, प्रौढ़लेखनी और गूढ़अभिसन्धि का साक्षात् परिचय प्राप्त करने के इच्छुक जन को उनकी साहित्यगंगोत्री में मज्जन करने का प्रयास करना होगा। उनके लघीयस्त्रय प्रकरण का परिचय कराते समय हम उनकी शैली आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला आये हैं उनका लेख, गद्य हो या पद्य, सूत्र की तरह अति संक्षिप्त, गहन, और अर्थबहुल है। थोड़े से

शब्दों में बहुत कुछ कहजाना उनकी विशेषता है। उन्होंने अपने ग्रन्थों के भाष्य भी स्वयं लिखे हैं किन्तु वे भी इतने दुरूह और जटिल हैं कि व्याख्याकारों को भी उनका व्याख्यान करने में एक स्वर से अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी है। अकलङ्क के व्याख्याकारों में अनन्तवीर्य और स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द ये दो विद्वान बहुत ही पराक्रमी और बुद्धिवैभव-सम्पन्न हुए हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र और वादिराज ने अपने अपने व्याख्यानग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से ही वे अकलङ्क को समझने में समर्थ हो सके हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं—

"त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो
दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात्।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितो
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः॥"

अर्थात्—"त्रिलोकवर्ती वस्तुओं के ज्ञानके प्रभाव से अकलङ्कदेव की सरणि-पद्धति का उदय हुआ है अर्थात् त्रिलोकवर्ती वस्तुओं का ज्ञाता होने के कारण ही अकलङ्कदेव अपनी शैली को जन्म देसके हैं। यह शैली दुष्प्राप्य होने पर भी भाग्योदय से प्राप्त होगई है और अनन्त-वीर्य की उक्तियों से बारम्बार मैंने उसका अभ्यास और विवेचन किया है।" आदि।

न्यायविनिश्चयविवरण को प्रारम्भ करते हुए वादिराजसूरि लिखते हैं—

"गूढमर्थमकलंकवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे॥"

अर्थात्—"अकलङ्क की वाङ्मयरूपी अगाधभूमि में निक्षिप्त गूढ़ आशय को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिखा रातदिन पद पद पर व्यक्त करती है।"

अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता और अपनी असमर्थता बतलाते हुए वादिराज और भी लिखते हैं—

"भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्
कस्ताद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः।"

अर्थात्—"अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अति गहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उसका विस्तार से कथन, और वह भी विवेचनात्मक, कैसे कर सकता है?"

इस प्रकार अनन्तवीर्य की उक्तियों से सहायता लेकर भी वादिराज अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता का अनुभवन करते हैं। अब देखिये कि स्वयं अनन्तवीर्य इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

अपनी सिद्धिविनिश्चयटीका का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि॥"

अर्थात्–"यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य–अनन्तशक्तिशाली भी अकलङ्कदेव के प्रकरण को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।" इसी तरह आचार्य विद्यानन्द ने भी अकलङ्क के प्रकरणों को अनुपम बतलाया है।

अकलङ्कदेव की रचनाएँ दो प्रकार की हैं, एक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप और दूसरी स्वतंत्र। प्रथम प्रकार की रचनाओं में दो ग्रन्थ हैं एक तत्त्वार्थराजवार्तिक और दूसरा अष्टशती, तथा द्वितीयप्रकार की रचनाओं में लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, स्वरूपसम्बोधन, वृहत्त्रय, न्यायचूलिका, अकलंकस्तोत्र, अकलङ्कप्रायश्चित्त, और अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ ये दस ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं। इन ग्रन्थों के अकलङ्करचित होने की विवेचना और उनका संक्षिप्त परिचय नीचे क्रमशः दिया जाता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य)—उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रों के दो पाठ प्रचलित हैं, उनमें से एक पाठ दिगम्बरजैनों में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बरजैनों में। दिगम्बरपाठ के आधार पर इस ग्रन्थराज की रचना की गई है। सप्त तत्त्वों का वर्णन होने के कारण उक्त सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। महत्ता और गाम्भीर्य की दृष्टि से उसे तत्त्वार्थराज के आदरणीय नाम से भी पुकारा जाता है। इसी से प्रकृत वार्तिकग्रन्थ को तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिक कहा जाता है। पहले की अपेक्षा दूसरा नाम अधिक व्यवहृत है और उसका 'तत्त्वार्थ' पद उड़ाकर केवल 'राजवार्तिक' नाम रूढ़ होगया है। तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध आद्यटीका पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि है। वार्तिककार ने इस टीका का न केवल अनुसरण ही किया है किन्तु उसकी अधिकांश पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। ग्रन्थकारों ने दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है। उद्योतकर के न्यायवार्तिक और उसकी व्याख्या की तरह दोनों एककर्तृक ही प्रसिद्ध हैं। मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है अतः राजवार्तिक में भी दस ही अध्याय हैं किन्तु न्यायवार्तिक की तरह ही प्रत्येक अध्याय को आह्निकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैनसाहित्य में अध्याय के आह्निकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। यह ग्रन्थ भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था से प्रकाशित होचुका है। उसमें 'जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा' आदि श्लोक को छोड़कर कहीं भी ग्रन्थकार का नाम नहीं आता। अभी तक केवल परम्परा और प्रौढ़ शैली के आधार पर ही इसे अकलङ्कदेवरचित माना जाता था किन्तु सिद्धिविनिश्चय की टीका के एक उल्लेख[2] पर से अब इसके प्रसिद्ध अकलङ्कदेवरचित होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता।

अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों की तरह इसकी शैली भी अतिप्रौढ़ और गहन है। वार्तिक तो प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं किन्तु उनका व्याख्यान इतना जटिल है कि उसको विशद करने के लिये न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की कोटि की एक टीका का अभाव पद पद पर अखरता है। अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक के मानस पर उनके केवल प्रौढ़ दार्शनिकरूप का ही चित्रण होता है किन्तु इस ग्रन्थ में उसे उनकी त्रिमूर्ति–दार्शनिक सैद्धान्तिक और वैयाकरण के दर्शन होते हैं। उनका बहुश्रुतत्व और सर्वाङ्गीण पाण्डित्य इसी एक ग्रन्थ से प्रकट

१ न्यायदीपिका में 'यद्राजवार्तिकम्' और 'भाष्यञ्च' करके दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है।
२ "सूरिणा अकलङ्केन वार्तिककारेण···" पृ० २५४ पू०।

हो जाता है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता और भी है। इसमें जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तरूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे विरले ही सूत्र मिलेंगे जिनमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक न हो। यों तो वार्तिककार के दार्शनिक होने के कारण प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक सूत्र की व्याख्यानशैली में दार्शनिक दृष्टिकोण के दर्शन होते ही हैं किन्तु प्रथम और पञ्चम अध्याय का विषय दार्शनिक क्षेत्र से सम्बद्ध होने के कारण उनमें दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। शेष अध्यायों का विषय आगमिक है और जैनसिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ग्रन्थ के आलोडन से ही बहुत से शास्त्रों का रहस्य जान सकते हैं। तथा उन्हें इसमें कुछ ऐसी बातें भी मिलेंगी जो उपलब्धसाहित्य में अन्यत्र नहीं मिलतीं।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष का विवेचन, छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का निरूपण, ९वें से १३ वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविधविषयों की आलोचना, और अन्तिमसूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्यायके ८ वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्यायके अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तभंगी और प्रमाणसप्तभंगी का विवेचन, पांचवें अध्याय के २ रे सूत्रकी व्याख्या में वैशेषिक के 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' इस सिद्धान्त की आलोचना, ७ वें की व्याख्या में वैशेषिकदर्शन के 'आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म' (५-१-१) की आलोचना, ८ वें की व्याख्या में अमूर्तिक द्रव्यों का सप्रदेशत्वसाधन, १९ वें की व्याख्या में मन के सम्बन्ध में वैशेषिक बौद्ध और सांख्य के विविध दृष्टिकोणों की आलोचना, २२ वें की व्याख्या में अपरिणामवादियों के द्वारा वस्तु के परिणामित्व पर आपादित दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल माननेवालों का खण्डन, २४ वें की व्याख्या में स्फोटवादका निराकरण, आदि विषय दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तथा जैनसिद्धान्त के प्रेमियों के लिये १-७ वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादितत्त्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना, १-२० की व्याख्या में द्वादशाङ्ग के विषयों का संक्षिप्त परिचय, १-२१, २२ की व्याख्या में अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या में सान्निपातिकभावों की चर्चा, २-४९ की व्याख्या में शरीरों का तुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या में अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१९ की व्याख्या में स्वर्गलोक का पूरा विवेचन, पांचवें अध्याय की व्याख्या में जैनों के षड्द्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय की व्याख्या में विभिन्न कामों के करने से विभिन्न कर्मों के आस्रव का प्रतिपादन, सातवें अध्याय की व्याख्या में जैनगृहस्थ का आचार, आठवें में जैनों का कर्मसिद्धान्त, नवें में जैनमुनि का आचार और ध्यान का स्वरूप तथा दसवें में मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है।

अन्यमतों की विवेचना में जिन ग्रन्थों से उद्धरण आदि लिये गये हैं उनमें पतञ्जलि का महाभाष्य, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र, व्यासभाष्य, वसुबन्धु का अभिधर्मकोश, दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, भर्तृहरि का वाक्यपदीय और बौद्धों के शालिस्तम्बसूत्र का नाम उल्लेखनीय है। जैनाचार्यों में स्वामी समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन और सिद्धसेन की द्वात्रिंशतिका से एक एक पद्य उद्धृत किया है। श्वेताम्बरसम्मत सूत्रपाठ का जगह जगह निराकरण किया है।

अष्टशती—स्वामी समन्तभद्र के आप्तमीमांसानामक प्रकरण का यह भाष्य है। इसका परिमाण आठसौ श्लोकप्रमाण होने के कारण इसे अष्टशती कहते हैं। यह नाम अष्टशती में तो नहीं पाया जाता, किन्तु आप्तमीमांसा और अष्टशती के व्याख्याकार स्वामी विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में इसे इसी नाम से अभिहित किया है। इसके आदिमङ्गल तथा अन्तमङ्गल में अकलङ्क शब्द आता है तथा अष्टसहस्रीकार विद्यानन्द तथा उसके टिप्पणकार लघु-समन्तभद्र इसे अकलङ्करचित घोषित करते हैं अतः इसके अकलङ्करचित होने में कोई बाधा नहीं है। एक तो अकलङ्क का साहित्य वैसे ही गहन है उसमें भी उनकी यह कृति विशेषगहन है। यदि स्वामी विद्यानन्द इस पर अपनी अष्टसहस्री न रचते तो इसका रहस्य इसी में छिपा रह जाता। गहनता, संक्षिप्तता और अर्थगाम्भीर्य में इसकी समता करने के योग्य कोई ग्रन्थ दार्शनिकक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। आगे और पीछे की बहुत सी बातें सोचकर सूत्ररूप में एक गूढ़ पंक्ति लिखदेना अकलङ्क की शैली की विशेषता है और वह विशेषता इस ग्रन्थ में खूब परिस्फुट हुई है। इतना सब कुछ होने पर भी भाषा बड़ी सरस और रुचिकर है। उदाहरण के लिये आदि मंगल को ही ले लीजिये—

"उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला—
लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम् ।
वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकांतान्धकारोदयाम् ॥ १ ॥"

मूल प्रकरण में आप्त की मीमांसा करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की अकाट्यता और युक्तिसंगतता को ही आप्तत्व का आधार माना है। संसार के समस्त दर्शन दो वादों में विभाजित हैं एक अनेकान्तवाद और दूसरा एकान्तवाद। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है और और शेष एकान्तवादी, अतः आप्तमीमांसाकार ने अनेकान्तवादी वक्ता को आप्त और एकान्तवादी को अनाप्त बतलाते हुए सदेकान्त, असदेकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अपेक्षैकान्त, अनपेक्षैकान्त, युक्त्येकान्त, आगमैकान्त, अन्तरंगार्थतैकान्त, बहिरंगार्थतैकान्त, दैवैकान्त, पौरुषैकान्त, आदि एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्त का व्यवस्थापन किया है। तथा अन्तमें प्रमाण, फल, स्याद्वाद और नय की चर्चा की है। अष्टशती में इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ में कुछ आनुषङ्गिक विषय भी प्रकारान्तर से ले लिये गये हैं। और इस तरह उन विषयों पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जिन्हें मूलकार ने या तो छोड़ दिया था या जो उनके समय में प्रचलित नहीं हुए थे। सर्वज्ञ की चर्चा में सर्वज्ञसामान्य में विवादी मीमांसक और चार्वाक के साथ साथ सर्वज्ञविशेष में विवादी बौद्ध आदि की भी आलोचना की गई है और सर्वज्ञसाधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके खण्डन किया गया है जो दिङ्नाग आदि बौद्ध नैया-

---

१ "वृत्तिकारास्तु अकलङ्कदेवा एवमाचक्षते कापिलं प्रति।" अष्टस० पृ० १०१

"जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्द्धिकः ॥"

नगर ताल्लुका (शिमोगा) के ४६ वें शिलालेख में।

यिकों ने माने हैं। ६ वीं कारिका की वृत्ति में बिना इच्छा के भी बचन की उत्पत्ति सिद्ध की गई है और बौद्धों को व्याप्तिग्राहक तर्कप्रमाण मानने के लिये लाचार किया गया है। ७ वीं कारिका की वृत्ति में धर्मकीर्ति के निग्रहस्थान के लक्षण की आलोचना की है। १३ वीं कारिका की व्याख्या में स्वलक्षण को अनिर्देश्य माननेवाले बौद्धों के मत की विस्तार से आलोचना करके स्वलक्षण को भी कथंचित् अभिलाप्य सिद्ध किया है। सप्तभंगी का विवेचन करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने केवल आदि के चार भंगो का ही उपयोग किया था किन्तु अकलङ्कदेव ने वैदिकदर्शनों के सामान्यवाद को सदवक्तव्य और बौद्धों के अन्यापोहवाद को असदवक्तव्य बतलाकर शेष भंगों का भी उपयोग कर दिया है। ३६ वीं कारिका की वृत्ति में अनधिगतार्थग्राही अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। ५२ वीं कारिका की वृत्ति में बौद्धों के निर्वाण का लक्षण 'सन्तान का समूल नाश' किया है तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञि, वाक्कायकर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति और समाधि ये आठ अंग उसके हेतु बतलाये है। ९९ वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्ववाद की आलोचना की है। का० १०१ में प्रमाणों की चर्चा करके सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति सिद्ध की है।

का० २ की वृत्ति में पूरणकाश्यप का नाम दिया है जो भगवान महावीर के समय में प्रभावशाली प्रतिद्वन्दियों में से था। का० ५३ की वृत्ति में 'न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्' यह पद प्रमाणवार्तिक से लिया है। का० ७६ में 'युक्त्या यत्र घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे' ( ) उद्धृत किया है। ७८ में पिटकत्रय को उदाहरण रूप में दिया है। ८० में 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' (प्रमाणविनिश्चय) उद्धृत किया है। ८९ में 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायाश्च तादृशः। सहायास्तादृशः सन्ति यादृशी भवितव्यता।' उद्धृत किया है। १०६ की वृत्ति में 'तथाचोक्तम्' करके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

"अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥"

इसके सिवा तत्त्वार्थसूत्र से भी एक दो सूत्र उद्धृत किये है।

लघीयस्त्रय—इस ग्रन्थ का परिचय वगैरह प्रारम्भ में दिया गया है। इसकी शैली तथा अन्तिम पद्यों में आये 'अकलङ्क' शब्द से इसके अकलङ्करचित होने में कोई विवाद शेष नहीं रह जाता। तथा उस पर न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता और तात्पर्यवृत्ति के रचयिता, दोनों उसे अकलङ्करचित बतलाते हैं। तथा आचार्य विद्यानन्द ने इसकी तीसरी कारिका को 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' करके अपनी 'प्रमाणपरीक्षा' में उद्धृत किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ को अकलङ्करचित ही मानना चाहिये।

स्वोपज्ञविवृति—लघीयस्त्रयग्रन्थ की विवृति भी अकलङ्करचित ही कही जाती है। प्रभाचन्द्र ने मूल और विवृति के आधार पर ही अपने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ की रचना की है। इसकी शैली अष्टशती से मिलती है और परिमाण भी करीब करीब उतना ही है। यद्यपि इन सब बातों से ही यह विवृति अकलङ्करचित प्रतीत होती है। किन्तु इसके समर्थन में एक और भी प्रबल प्रमाण मिलता है। सिद्धिविनिश्चय टीका में 'उक्तं लघीयस्त्रये' करके 'प्रमाणफलयोः

क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्' यह वाक्य उद्धृत किया है। जो उसकी छठी कारिका की विवृति का अन्तिम वाक्य है।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयविवरण के नाम से वादिराजरचित इसकी एक वृहत् टीका कुछ भण्डारों में मिलती है। अभी तक यह ग्रन्थ विशकलितरूप से इस टीका में ही पाया जाता था। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने बड़े परिश्रम से उस पर से इस ग्रन्थ का उद्धार करके उसे क्रमबद्ध किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में इसका उपयोग करने के लिये हमने भी टीका पर से इस ग्रन्थ का सङ्कलन करके मुख्तार सा० की प्रति के आधार पर ही उसे क्रमबद्ध और पूर्ण किया था। किन्तु अभी इसके अविकल होने में सन्देह है, कारण यह है कि मुख्तार सा० के संग्रह में कई कारिकाएं ऐसी हैं, जो मूल की प्रतीत नही होती तथा खोजने पर कुछ नवीन किन्तु सन्दिग्ध कारिकाओं का भी पता चलता है।

इसमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षप्रस्ताव, अनुमानप्रस्ताव और आगमप्रस्ताव। प्रथम प्रस्ताव के अन्त में एक, दूसरे के अन्त में दो और तीसरे के अन्त में तीन पद्य हैं। लघीयस्त्रय की तरह मंगलाचरण के बाद इसमें भी एक पद्य आता है, जिसमें 'न्यायो विनिश्चीयते' के द्वारा ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य दोनों बतलाये गये हैं। शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। वर्तमान संग्रह के अनुसार कारिका और पद्यों की संख्या मिलाकर पहले प्रस्ताव में १६९ दूसरे में २१६ और तीसरे में ९४ है। मङ्गलाचरण और उद्देश्यनिर्देश के पश्चात् प्रत्यक्ष के लक्षण से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। लघीयस्त्रय तथा प्रमाणसंग्रह में दत्त प्रत्यक्ष की परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें दत्त परिभाषा में कई विशेषताएँ हैं। प्रथम तो इसमें लक्षण का क्रम ऐसा रखा गया है कि उसमें प्रत्यक्ष का विषय भी बतला दिया गया है। किन्तु यह विशेषता तो साधारण है। दूसरी और ध्यान देने योग्य विशेषता है लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों का बढ़ाया जाना तथा विषय में 'द्रव्य' और 'पर्याय' के साथ साथ 'सामान्य' और 'विशेष' पदों का भी प्रयोग करना। 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों की सार्थकता अथवा आवश्यकता का निर्देश तो मूल ग्रन्थ में नहीं किया गया किन्तु अर्थ, द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष का विवेचन विस्तार से किया है। प्रथम प्रस्ताव में ज्ञान को अर्थग्राही सिद्ध करते हुए बौद्धाभिमत विकल्प के लक्षण, तदाकारता, विज्ञानवाद, नैरात्म्यवाद, परमाणुवाद आदि की विस्तार से आलोचना की है और ज्ञान को स्वसंवेदी तथा निराकार सिद्ध किया है। द्रव्य और पर्याय की चर्चा करते हुए गुण और पर्याय में भेदाभेद बतलाकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का निरूपण किया है। सामान्य और विशेष की चर्चा करते हुए यौगों और बौद्धों के दृष्टिकोणों की आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा में दत्त पदों के आधार पर विविध विषयों का विवेचन करने के बाद बौद्ध के इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष का, तथा सांख्य और नैयायिक के प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। अन्त में अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के लक्षण के साथ पहला प्रस्ताव समाप्त होजाता है।

दूसरे प्रस्ताव में अनुमान, साध्य, साधन, हेत्वाभास, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, जाति, वाद आदि का सुन्दर विवेचन है। तथा प्रसङ्गवश शब्द की अर्थाभिधेयता, सङ्केतित शब्द की प्रवृत्ति का प्रकार, जीव का स्वरूप, चैतन्य के सम्बन्ध में चार्वाक आदि के मत का खण्डन, वैशेषिक

१ प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम्॥

के 'अगुणवान् गुणः' की आलोचना, नैयायिक के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट और सांख्य के वीत, अवीत और वीतावीत हेतुओं की समालोचना आदि, विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

तीसरे में आगम, मोक्ष और सर्वज्ञ का विवेचन करते हुए बुद्ध के करुणावत्त्व सर्वज्ञत्व चतुरार्यसत्य आदि का खूब उपहास किया है तथा वेदों के अपौरुषेयत्व और सांख्य के मोक्ष की भी आलोचना की है। अन्त में सप्तभंगी का विवेचन करके ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रमाण की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसमें अपने विषय का खासकर अनुमान-प्रमाण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसकी परिभाषाओं का उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने विशेष अनुसरण किया है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में इससे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं और अपने श्लोकवार्तिक के मूल में इसकी कई कारिकाएँ ज्यों की त्यों सम्मिलित करली हैं। अकलंकदेव को भी यह ग्रन्थ विशेष प्रिय जान पड़ता है क्यों कि अष्टशती में इसकी दो एक कारिकाएँ गद्य रूप में मिलती हैं तथा प्रमाणसंग्रह का कलेवर तो इसकी कारिकाओं से ही पुष्ट किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टशती प्रमाणसंग्रह और संभवतः सिद्धिविनिश्चय से भी पहिले इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद न्यायविषय का यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है, और इसी के आधार पर उत्तरकालीन जैनन्याय-विषयक साहित्य का सर्जन हुआ है।

यद्यपि सन्धियों में इसे स्याद्वादविद्यापतिरचित बतलाया है किन्तु टीकाकार वादिराज इसे अकलङ्करचित लिखते हैं। तथा अन्तिम पद्यों में अकलंक पद आता है। शैली वगैरह भी अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों से मिलती हुई है। तथा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके स्वामी विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में इसको एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः इसके अकलंक-रचित होने में किसी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं है।

न्यायविनिश्चयवृत्ति—अकलंकदेव ने प्रायः अपने सभी प्रकरणों पर छोटी सी वृत्ति भी लिखी है। न्यायविनिश्चय की वृत्ति अभी तक उपलब्ध तो नहीं हो सकी है, किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय की तरह अकलंकदेव ने उस पर भी वृत्ति लिखी थी। तथा जब लघीयस्त्रय जैसे लघुप्रकरणों पर वृत्ति लिखी जा सकती है तब न्यायविनिश्चय सरीखे महत्त्वपूर्ण वृहत् ग्रन्थ को यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

न्यायविनिश्चय की वादिराजरचित एक स्थूलकाय टीका का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। उस टीका में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने प्रत्यक्ष के तीन भेद बतलाये हैं। उस पर शंकासमाधान करते हुए लिखा है—"कथं पुनः कारिकायामनुक्तं त्रैविध्यमवगम्यते ? 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात्। ननु प्रत्यक्षलक्षणस्यापि तत्रैव प्रतिपादनात् इहावचनप्रसङ्ग इति चेत्, इहापि वृत्तिकारेण त्रैविध्यमुक्तमेव।"

शंका—कारिका में तो प्रत्यक्ष के तीन भेद नहीं बतलाये, तब आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं ?

उत्तर—शास्त्रान्तर में (प्रमाणसंग्रह में) 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' ऐसा लिखकर प्रत्यक्ष के तीन भेद किये हैं।

शंका—प्रत्यक्ष का लक्षण भी शास्त्रान्तर में बतला ही आये हैं। तब यहाँ बतलाने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—यहाँ भी (न्यायविनिश्चय में) वृत्तिकार ने तीन भेद किये हैं।

इस शंकासमाधान से प्रमाणित होता है कि न्यायविनिश्चय पर भी एक वृत्ति लिखी गई थी।

टीकाकार ने किसी किसी स्थल पर कुछ वार्तिकों को संग्रहश्लोक और कुछ को अन्तरश्लोक लिखा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"निराकारेतरस्य' इत्यादयोऽन्तरश्लोका वृत्तिमध्यवर्तित्वात्। 'विमुख' इत्यादिवार्त्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः। वृत्तिचूर्णितां ? तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते। संग्रहश्लोकास्तु वृत्तिप्रदर्शितस्य वार्त्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।" (पृ० १२०)

अर्थात् 'निराकारेतस्य' इत्यादि श्लोक 'विमुख' इत्यादि वार्तिक के व्याख्यानस्वरूप वृत्ति के अन्तर्गत हैं अतः वे अन्तरश्लोक हैं। विस्तार के भय से वृत्ति के चूर्णिभाग (संम्भवतःगद्य भाग) का व्याख्यान हमने नहीं किया है। जिन श्लोकों में वृत्ति में बतलाये गये वार्तिक के अर्थ को संगृहीत कर दिया जाता है, उन्हें संग्रहश्लोक कहते हैं। अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक में यही भेद है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने वृत्तिग्रन्थ मौजूद था और उसमें गद्य और पद्य दोनों थे। विस्तार के भय से उन्होंने गद्यभाग को तो छोड़ दिया किन्तु पद्यभाग को अपने व्याख्यान में सम्मिलित कर लिया। अनन्तवीर्य के एक उद्धरण से भी न्यायविनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व का पता लगता है। उन्होंने 'तदुक्तं न्यायविनिश्चये' करके एक वाक्य उद्धृत किया है। 'तदुक्तं न्यायविनिश्चयवृत्तौ' न लिखकर 'तदुक्तं न्यायविनिश्चये' लिखने से शायद पाठक यह कल्पना करें कि वह वाक्य वृत्ति का न होकर मूलग्रन्थ का ही अंश है। किन्तु अनन्तवीर्य के लघीयस्त्रयविषयक एक उद्धरण से, जिसका उल्लेख लघीयस्त्रय के परिचय में हम कर आये हैं, इस प्रकार की कल्पना को जन्म देने के लिये स्थान नहीं रह जाता। अनन्तवीर्य ने 'तदुक्तं लघीयस्त्रये' करके भी एक वाक्य उद्धृत किया है और वह वाक्य लघीयस्त्रय की विवृति में मौजूद है। वास्तव में अनन्तवीर्य की दृष्टि में मूल और वृत्ति ये दो पृथक् पृथक् वस्तुएं न थीं। वे दोनों को ही मूल और एक ग्रन्थ मानते थे। इसी से उन्होंने अपनी टीका में सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान करके भी ग्रन्थ का नाम केवल 'सिद्धिविनिश्चय टीका' ही रखा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए प्रभाचन्द्र भी अपने न्यायकुमुदचन्द्र को 'लघीयस्त्रयालंकार' शब्द से ही पुकारते है यद्यपि उसमें लघीयस्त्रय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान है। यथार्थ में अकलङ्कदेव की वृत्तियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके निकाल देने पर न केवल अकलङ्क को समझ सकना ही दुष्कर होता है किन्तु उनके द्वारा अर्पित ज्ञानकोश के बहुत से अमूल्य रत्नों से भी वंचित होना पड़ता है। उनकी वृत्तियों में 'मूल' से भी अधिक पदार्थ भरा हुआ है। न्यायविनिश्चय के विवरणकार ने अपनी टीका में वार्तिकों के जो कई कई अर्थ किये हैं वह क्या उनकी अपनी बुद्धि का चमत्कार है ? नहीं, वृत्ति की सहायता पर ही उनका व्याख्यान अवलम्बित है। अतः विनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

---

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० १२० पू०।

सिद्धिविनिश्चय—कच्छदेश के 'कोडाय' ग्राम के श्वेताम्बर ज्ञानभण्डार से 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की उपलब्धि हुई थी। वहां से यह ग्रन्थ अहमदाबाद लाया गया और गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर में उसकी कापी कराई गई। इस टीका में मूल भाग बहुत ही कम है। मूल के केवल आद्य अक्षरों का ही उल्लेख करके टीका लिखी गई है। इसमें मूल का उल्लेख दो प्रकार से पाया जाता है, एक तो 'अत्राह' करके कारिकारूप से और दूसरे 'कारिका व्याख्यातुमाह' करके कारिका के व्याख्यारूप से। इससे पता चलता है कि यह टीका सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्वोपज्ञविवृति को लेकर बनाई गई है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री और प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र में उनका मूल अन्तर्निहित है और प्रयत्न करने पर उनमें से पूरा पूरा पृथक किया जा सकता है किन्तु सिद्धिविनिश्चयटीका में यह बात नहीं है जैसा कि हम लिख आये हैं। कहीं कहीं तो 'कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' लिखकर कारिका की कारिका ही छोड़ दी गई है। टीकाके प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि॥

इससे पता चलता है कि मूल ग्रन्थ अकलङ्कदेव का ही बनाया हुआ है। तथा 'तदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में एक वाक्य उद्धृत किया है, उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है। अकलङ्क के अन्य प्रकरणों की तरह इसमें भी नमस्कार के बाद एक पद्य आता है जिसमें कण्टकशुद्धिपूर्वक ग्रन्थ का नामनिर्देश किया है। इसका विनिश्चयान्त नाम भी धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण कराता है। इसमें १२ प्रस्ताव हैं, प्रत्येक प्रस्ताव में एक एक विषय की सिद्धि की गई है। संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि—में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि है। इसमें मुख्यतः धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्ष के लक्षण का तथा सूचनरूप से सन्निकर्ष का खण्डन करके "इदं स्पष्टं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्" प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्थापित किया है। मुख्यतया बौद्ध का खण्डन होने से तत्सम्मत प्रत्यक्षग्राह्य क्षणिकपरमाणुरूप स्वलक्षण अर्थ का निरास करके स्थिर स्थूलरूप अर्थ की भी सिद्धि की गई है।

२ सविकल्पकसिद्धि—में प्रत्यक्ष के अवग्रहादि चार भेदों में प्रमाणफलभाव बताकर सभी ज्ञानों को सविकल्पक सिद्ध किया है। प्रसंगतः "बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्।" इस कारिका में धर्मकीर्तिकृत सन्तानान्तरसिद्धि में बताई गई युक्ति को क्षणिकैकान्त में असंभव बताकर अनेकान्तवाद में उसे संभव बताया है।

३ प्रमाणान्तरसिद्धि—में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को पृथक् प्रामाण्य सिद्धकरके चार्वाकादि की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। बौद्ध की सत्त्वहेतु की व्याप्ति का खण्डन करके अर्थक्रियाकारित्व को नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में असंभव बतलाया है और उत्पादादित्रयात्मक अर्थ की विस्तार से सिद्धि की है।

४ जीवसिद्धि—में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाकर, ज्ञानक्षणों के सर्वथा क्षणिकत्व का निरास करते हुए उनमें अन्वितरूप से रहने वाले जीवतत्त्व की विस्तार से

१ इस ग्रन्थ की उपलब्धि का इतिहास जानने के लिये देखो—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३६।

सिद्धि की हैं। तथा, 'ज्ञान अचेतन प्रधान का धर्म है, अदृष्ट आत्मा का गुण है,' आदि बातों का निराकरण करके आत्मा की विकारपरिणति को ही कर्मबन्ध का कारण बतलाया है।

५ जल्पसिद्धि—में स्वपक्षसिद्धि-असिद्धिनिबन्धन जयपराजयव्यवस्था का स्थापन करके धर्मकीर्ति द्वारा वादन्याय में स्थापित असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन नाम के निग्रहस्थानों की विविध व्याख्याओं का निर्देश करके खण्डन किया है। नैयायिकसम्मत छल, जाति आदि को अनुपादेय बतलाया है। वाद, जल्प और वितण्डा में वाद और जल्प को एक बतलाकर वितण्डा को कथाभास बतलाया है। प्रसङ्गवश वचन के विवक्षामात्रसूचकत्व और अन्यापोह-मात्राभिधायित्व का निरास करके उसे वास्तविक अर्थ का वाचक सिद्ध किया है।

६ हेतुलक्षणसिद्धि—में धर्मकीर्तिकृत हेतुबिन्दु की प्रथम कारिका—"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः स च त्रिधा। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥" का विस्तार से खण्डन करके हेतु का लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध किया है। कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं को पृथक् हेतु बतलाया है। अनुपलब्धि को विधि और प्रतिषेध-दोनों का साधक बतलाया है। अदृश्यानुपलम्भ को भी वस्तुसाधक माना है। धर्मकीर्ति के 'सहोपलम्भनियमात्' हेतु का विविध विकल्पों द्वारा खण्डन किया है।

७ शास्त्रसिद्धि—में बतलाया है कि स्याद्वाददृष्टि से अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादक ही शास्त्र होता है अतः सुगतादिप्रणीत शास्त्र शास्त्र नहीं है। तथा वचन विवक्षामात्र के सूचक न होकर यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं अतः सुगतमत में शास्त्र के लक्षण का अभाव बतलाकर देशना का भी अभाव बतलाया है। इसी तरह शरीर आदि से रहित होने के कारण ईश्वर में देशना का अभाव बतलाकर सृष्टिकर्तृत्व की विस्तार से मीमांसा की है। वेदों के अपौरुषेयत्व का भी खण्डन किया है। सराग भी वीतराग की तरह चेष्टा करते हैं अतः यथार्थ उपदेष्टा का निर्णय नहीं हो सकता, इस शंका का निरास किया है।

८ सर्वज्ञसिद्धि—में धर्मकीर्तिसम्मत सर्वज्ञ की केवल धर्मज्ञता का निराकरण करके विविध युक्तियों से पूर्ण सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन किया है। ज्योतिर्ज्ञान तथा स्वप्नस्वप्न के दृष्टान्त का उपयोग भी सर्वज्ञसिद्धि में किया है। कुमारिल द्वारा सर्वज्ञाभाव में दी गई प्रमेयत्व सत्त्व वक्तृत्वादि युक्तियों का तथा तत्त्वसंग्रह में कुमारिल के नाम से दी गई 'दशहस्तान्तरं व्योम्नि' इत्यादि कारिका में कही गई युक्तियों का भी निरास भले प्रकार किया है। अन्त में सर्वज्ञत्व-प्राप्ति के कारण तप आदि की भी चर्चा की है।

९ शब्दसिद्धि—में शब्द के आकाशगुणत्व, नित्यत्व, अमूर्तत्व आदि धर्मों का खण्डन करके उसे पौद्गलिक सिद्ध किया है। भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद तथा स्फोटवाद का भी खण्डन किया है। स्वलक्षण में सङ्केत की अशक्यता के कारण बौद्धों के द्वारा मानी गई अवाच्यता का खण्डन करके संकेत आदि की सिद्धि की गई है।

१० अर्थनयसिद्धि—में ज्ञाता के अभिप्राय को नय बतलाकर अर्थप्रधान नैगमादि तथा शब्दप्रधान शब्दादि नयों का निर्देश किया है। नैगमादि चार नयों का स्वरूप विस्तार से बतलाकर सांख्यादिकल्पित मतों को नयाभासों में गिनाया है। सुनय और दुर्नय का भी स्वरूप दर्शाया है। व्यवहारनयसम्मत व्यवहार को वास्तविक सिद्ध करके ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादियों के द्वारा कल्पित व्यवहार का निरास किया है।

११ शब्दनयसिद्धि—में शब्दसिद्धि में व्याकरण की उपयोगिता बतलाकर बौद्ध, नैयायिक और वैयाकरणों के द्वारा अभिमत शब्द के स्वरूप का विचार किया है। शब्दभेद से अर्थ-भेद मानकर शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयों का तथा तदाभासों का स्वरूप बताया है।

१२ निक्षेपसिद्धि—में निक्षेप के अनन्तभेद होने पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से उसके चार प्रकार बताये हैं। नाम के व्यस्त, समस्त, एक, अनेक आदि आठ भेद किये हैं। स्थापना के सद्भाव और असद्भाव तथा द्रव्य के आगम और नोआगम भेद किये हैं।

सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणमीमांसा और स्याद्वादमञ्जरी में इसकी कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। तत्त्वार्थटीका तथा जिनदास की चूर्णि में इसका नामोल्लेख भी है। चूर्णिकार ने तो इसे जिनशासन का प्रभावक ग्रन्थ माना है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजी के प्रयत्न से पाटन के भण्डार से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। सिद्धिविनिश्चयटीका में इसका उल्लेख आता है। उसी टीका से यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य ने इस पर भी प्रमाणसंग्रहालङ्कार या प्रमाणसंग्रहभाष्य नाम की टीका रची है। प्रमाणसंग्रह की रचना संभवतः न्यायविनिश्चय के बाद हुई है। क्योंकि इसकी बहुत सी कारिकाएँ न्यायविनिश्चय में मौजूद हैं तथा उनके ऊपर अकलंकदेव ने कुछ वृत्ति या उपक्रमसूचक वाक्य नहीं लिखे हैं। यह गद्यपद्यात्मक है। कहीं कहीं गद्यभाग में पद्य का व्याख्यान भी किया है। किन्तु समस्त गद्य और पद्य का व्याख्यान-व्याख्येयरूप सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसका नाम सार्थक है क्योंकि प्रत्येक एकान्त पक्ष के विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, उन सबका संग्रह इस ग्रन्थ में किया है। इसी लिए इस ग्रन्थ की भाषा और भाव अति दुरवगाह्य है। अकलंक के उपलब्ध ग्रन्थों में इतना प्रमेयबहुल-प्रमाणों का संग्रह करनेवाला अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की रचना की तरह इसकी रचना भी गद्यपद्यात्मक तथा जटिल है। यह ग्रन्थ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का परिशिष्ट कहा जा सकता है अतः संभव है कि ये उनके अन्तिमकाल की रचना हो। इसमें ९ प्रस्ताव हैं।

१ प्रस्ताव—में ८॥ कारिकाएँ हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर उसके इन्द्रिय अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय रूप से तीन भेद किये हैं। इसके 'त्रिधा श्रुतमविप्लवम्' अंश पर जैनतर्कवार्तिककार शान्त्याचार्य ने आक्षेप किया है। इस प्रस्ताव में प्रत्यक्ष और उसके भेदों की चर्चा है।

२ प्रस्ताव—में ९ कारिकाएँ हैं। परोक्ष प्रमाण के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रामाण्य सिद्ध करके आगम के बल से परोक्ष पदार्थों के साथ भी अविनाभावसम्बन्ध ग्रहण कर सकने का प्रतिपादन किया है।

३ प्रस्ताव—में १० कारिकाएँ हैं। अनुमान प्रमाण तथा उसके अवयव-साध्य साधन आदि का वर्णन है। इसकी २७ वीं कारिका में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की 'चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः' कारिका की समालोचना की गई है।

४ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें हेतु के त्रैरूप्य का खण्डन करके अन्यथानुपपन्नत्वरूप एक लक्षण का स्थापन किया है। हेतु के अनेक भेदों का विस्तार से वर्णन करके धर्मकीर्तिसम्मत हेतु के भेदों की संख्या का विघटन किया है।

५ प्रस्ताव—में विरुद्धादि हेत्वाभासों का विगतवार निरूपण किया है, तथा दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी नामके हेत्वाभास का विरुद्ध में अन्तर्भाव दिखाकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास से अवशिष्ट हेत्वाभासों का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रस्ताव में १२ कारिकाएँ हैं।

६ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें वाद का स्वरूप दर्शाया है। जय पराजय व्यवस्था तथा जाति का कथन करके धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाणवार्तिक में दिये गये दोष दधि उष्ट्र के अभेदत्वापत्ति को जात्युत्तर बतलाया है। तथा अनेकान्त में संभवित विरोधादि आठ दोषों का परिहार करके वस्तु को उत्पादादि रूप सिद्ध किया है।

७ प्रस्ताव—में ९॥ कारिकाएँ हैं। इसमें आगमप्रमाण का वर्णन है। आगम का प्रतिपादक होने के कारण सर्वज्ञ तथा अतीन्द्रियज्ञान की सिद्धि करते हुए उसमें आपादित दोषों का परिहार किया है। अन्त में, आत्मा कर्ममल से किस प्रकार छूटता है और उसे किस प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त होती है, इत्यादि बातों का खुलासा किया है।

८ प्रस्ताव—में १३ कारिकाएँ है। इसमें सप्तभंगी का निरूपण है। तथा नैगमादि सात नयों का भी कथन है। नयों का विशेष स्वरूप जानने के लिये नयचक्र ग्रन्थ देखने का निर्देश किया है।

९ प्रस्ताव—में २ कारिकाएँ हैं। निक्षेप का निर्देश करके प्रकरण का उपसंहार कर दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लगभग ८९ कारिकाएँ और शेष भाग गद्य में है।

इसके छठवें प्रस्ताव में एक बात विशेष मनोरंजक है। बौद्धों ने जैनों के लिये जो अहीक पशु, अलौकिक, तामस, प्राकृत आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं, उन्हीं के असंगत सिद्धान्तों के द्वारा उन विशेषणों को बौद्धों के ही लिये उपयुक्त बतलाया है। यथा—

शून्यसंवृतिविज्ञानकथा निष्फलदर्शनम्। सञ्चयापोहसन्तानाःश (स) तैते जाद्य (ड्य) हेतवः॥
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः। यददृश्यमसंज्ञानं त्रिकमज्ञी (ह्री) कलक्षणम्॥
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम्। क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम्॥
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत्। शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानित्यलौकिकम्॥
शब्दः स्वयंभूः सर्वकार्याकार्येष्वतीन्द्रिये। न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम्॥
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थितिः। प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम्॥

बृहत्त्रय—इस ग्रन्थ के अस्तित्व की सूचना जैनहितैषी[1] में प्रकाशित 'श्रीमद्भट्टाकलंक' शीर्षक निबन्ध में दी गई थी और कहा गया था कि कोल्हापुर में श्री पं० कल्लप्पा भरमप्पा निटवे के पास लघीयस्त्रय और बृहत्त्रय दोनों ग्रन्थ मौजूद हैं। इस सूचना के बाद अकलंकदेव के प्रायः सभी परिचयलेखकों ने उसे दोहराया। लघीयस्त्रय का प्रकाशन हुए वर्षों बीत गये किन्तु बृहत्त्रय के किसी को दर्शन भी न हो सके। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने निटवे महोदय से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा पढ़ी की किन्तु उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला शायद निटवे महोदय उसे अपने साथ स्वर्ग में ले गये हों। हमारे मत से तो 'लघीयस्त्रय' नाम ने ही इस 'बृहत्त्रय' की कल्पना को जन्म दिया है। किसी ने सोचा होगा कि जब एक लघीयस्त्रय है तो कोई बृहत्त्रय भी होना ही चाहिये। एक बार अकलंकदेव के ग्रन्थों के बारे में लिखते हुए पं०

१ भाग ११, अंक ७–८।

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस वृहत्त्रय की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था। आपने लिखा था—'अकलंकदेव के मौलिक ग्रन्थों में लघीयस्त्रय के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ सबसे अधिक महत्त्व के हैं—सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाणसंग्रह। शायद इन्हीं के संग्रह को वृहत्त्रय कहते हैं।" मुख्तार सा० की संभावना किसी हद तक ठीक हो सकती है, किन्तु लघीयस्त्रय का परिचय देते हुए हम बतला आये हैं कि इसका नाम लघीयस्त्रय अवश्य है किन्तु इसे हम तीन स्वतंत्र प्रकरणों का संग्रह नहीं कह सकते, अतः उसके आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को वृहत्त्रय नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, यह संभव है कि किसी ने लघीयस्त्रय की अन्तरंग परीक्षा किये बिना केवल उसके नाम के आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को बड़ा होने के कारण वृहत्त्रय नाम दे दिया हो। किन्तु अभी तक 'वृहत्त्रय' का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया और हमें यह एक कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। अतः अकलंककृत ग्रन्थावली में से इस नाम को निकाल देना चाहिये।

न्यायचूलिका—इसका उल्लेख भी जैनहितैषी के उक्त लेख में ही सर्वप्रथम मिलता है। उसमें लिखा है—"न्यायचूलिका नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है कि वह अकलंकदेव का बनाया हुआ है।" किन्तु न तो लेखक ने ही उसके स्थान का निर्देश किया और न किसी स्थल से हमें ही इस ग्रन्थ के अस्तित्व का निर्देश मिल सका। अतः जब न्यायचूलिका नाम के किसी ग्रन्थ तक का भी पता नहीं है, तब उसको अकलंकरचित ठहराना निराधार है

स्वरूपसम्बोधन—स्व० डा० विद्याभूषण[1] ने अकलंकरचित ग्रन्थों में इसका निर्देश किया है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित लघीयस्त्रयादिसंग्रह नामक पुस्तक में अकलंक के नाम से यह प्रकाशित भी हो चुका है। उसकी प्रस्तावना में श्रीयुत प्रेमीजी ने इसे अकलंकरचित बतलाया है। सप्तभंगीतरङ्गिणी में इसकी तीसरी कारिका 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके उद्धृत की गई है। तथा अकलंक के अन्य ग्रन्थों के साथ स्वरूपसम्बोधन का अध्ययन करने से उसका कहीं कहीं अकलंक के अन्य प्रकरणों से मेल खाता है। यथा—

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्फलानां स एव तु ॥ स्व० स०
कर्मणामपि कर्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ॥ न्या० वि०

इसके अतिरिक्त इसमें अनेकान्त की शैली का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातों के आधार पर इसे अकलंकरचित कहा जा सकता है किन्तु इसके विरुद्ध अनेक ठोस प्रमाण हैं जिनके आधार पर इसे अकलंक की रचना नहीं कहा जा सकता।

भण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३. पृ० ८८ पर स्वरूपसम्बोधन के कर्ता के सम्बन्ध में प्रो० ए० एन० उपाध्ये का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने लिखा है कि कोल्हापुर के लक्ष्मीसेनमठ में स्वरूपसम्बोधन की एक कनड़ी टीका मौजूद है। उसमें नयसेन के शिष्य महासेन को उसका कर्ता बतलाया है। तथा नियमसार की संस्कृत टीका में पद्मप्रभमलधारी देव ने 'उक्तञ्च षण्णवतिपाषंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः' और 'तथा चोक्तं श्रीमहासेनपण्डितदेवैः' करके स्वरूपसम्बोधन की १२ वीं और ४थी कारिका उद्धृत की है। उसी लेख के एक फुटनोट में यह भी लिखा है कि पण्डित

१ अनेकान्त वर्ष १, पृ० १३५. २ हिस्ट्री ओफ दि मिडीवल स्कूल ओफ इण्डियन लॉजिक पृ० २६। ३ पृ० ७९।

जुगलकिशोरजी ने मूडबिदुरे के पडुबस्ती भण्डार की ग्रन्थसूची देखी थी, उसमें भी स्वरूप-सम्बोधन को महासेन की रचना बतलाया है। तथा उसी सूची में महासेन के एक प्रमाण-निर्णय नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। उक्त प्रतियों तथा उद्धरणों के आधार पर यह ग्रन्थ महासेन का सिद्ध होता है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वरूपसम्बोधन के रचयिता के बारे में दो परम्पराएँ प्रचलित हैं,एक के अनुसार उसके कर्ता अकलंक हैं और दूसरी के अनुसार नयसेन के शिष्य महासेन। भरतेशवैभव में तत्त्वोपदेशप्रसङ्ग में कुछ जैन ग्रन्थों के नाम दिये हैं। उनमें पद्मनन्दिकृत स्वरूपसम्बोधन का नाम आया है। संभव है कि पद्मनन्दि ने भी स्वरूपसम्बोधन के नाम से कोई ग्रन्थ रचा हो। किन्तु पूर्वोक्त दो परम्पराएं तो एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रचलित हैं और दोनों ही प्राचीन हैं। शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में लिखा है कि शुभचन्द्र ने स्वरूपसम्बोधन पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के अवलोकन से स्वरूपसम्बोधन और उसके कर्ता के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत मालूम हो सकता है। किन्तु पता नहीं, वह प्राप्य भी है या नहीं। अतः वर्तमान परिस्थिति में हम उसके कर्ता का निश्चय कर सकने में असमर्थ हैं, किन्तु उसकी रचना आदि पर से वह हमें अकलंक की कृति नहीं प्रतीति होती।

अकलङ्कस्तोत्र—यह स्तोत्र मुद्रित हो चुका है। इसमें १२ शार्दूलविक्रीडित और ४ स्रग्धरा छन्द हैं। महादेव, शङ्कर, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध आदि *नामधारी देवताओं के सम्बन्ध में* जो कुछ कहा जाता है उसकी आलोचना करते हुए, निष्कलङ्क, ध्वस्तदोष, वीतराग परमात्मा को ही बुद्ध, वर्द्धमान, ब्रह्मा, केशव, शिव आदि नामों से पुकारते हुए उसी का स्तवन और बन्दन किया गया है, इसी से इस स्तोत्र को अकलङ्कस्तोत्र अर्थात् दोषरहित परमात्मा का स्तवन कहा जाता है। इसके ११ वें और १२ वें पद्य का अन्तिम चरण "नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्।" है। इन दोनों पद्यों के प्रारम्भ के तीन चरणों में बतलाया गया है कि संसार पर न तो ब्रह्मा के वेष की छाप है, न शम्भु के, न विष्णु के और न बुद्ध के ही वेष की। और उक्त अन्तिम चरण में कहा गया है कि हे वादियों देखो, यह संसार जैनेन्द्रमुद्रा अर्थात् नग्नता की छाप से चिह्नित है (प्रत्येक प्राणी नग्न ही पैदा होता है)।

इन श्लोकों के बाद मल्लिषेणप्रशस्ति का 'नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा' आदि श्लोक आता है। इस श्लोक के बाद पुनः पुराना राग अलापा जाता है और शिव के खट्वांग, मुण्डमाला, भस्म, शूल आदि की चर्चा शुरू हो जाती है। इसके बाद १५ वें और १६ वें पद्यों में अकलङ्क परमात्मा के स्थान में शास्त्रार्थी अकलङ्कदेव की प्रशंसा होने लगती है, और इस स्तोत्र की विचित्र रचना को देखकर तारादेवी के साथ साथ बेचारे पाठक को भी सिर धुनना पड़ता है। स्तोत्र को देखकर थोड़ासा भी समझदार मनुष्य बिना किसी सङ्कोच के कह सकता है कि इसका तेरहवां पन्द्रहवां और सोलहवां पद्य प्रक्षिप्त है, किसी ने इसे अकलङ्कर्रचित प्रसिद्ध करने की धुन में उन्हें पीछे से जोड़ दिया है। जोड़नेवाले ने अपनी दृष्टि में बहुत बुद्धिमानी से काम लिया है क्यों कि ११ वें और १२ वें श्लोकों के, जिसमें वादियों को ललकारा है, बाद ही मल्लिषेण प्रशस्तिवाला १३ वां पद्य आता है। मानों, अकलङ्कदेवने किसी राजसभा में खड़े होकर स्तोत्र की रचना की है। किन्तु उसके बाद का 'खट्वाङ्गं नैव हस्ते' आदि श्लोक उसकी

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ३३४। २ 'नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा' आदि। यह पहले उद्धृत किया जा चुका है।

बुद्धिमानी का रहस्य उद्घाटित कर देता है। तथा अकलङ्कदेव की प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक[1] उसके अकलङ्करचित होने की मान्यता का समूल उच्छेद कर देते हैं। किसी किसी का विचार[2] है कि—"मल्लिषेणप्रशस्तिवाले पद्य को स्वयं अकलङ्क के द्वारा कहा गया मानने में कोई बाधा नहीं दीखती। शेष अन्तिम दो पद्यों को अकलङ्क के किसी शिष्य ने रचा होगा, और उनका स्तोत्र के अन्त में होना यही सिद्ध करता है कि स्तोत्र अकलङ्क का रचा हुआ है। कम से कम उस समय और उस व्यक्ति के निकट तो यह अवश्य ही उनकी रचना थी, जिस समय जिस व्यक्ति ने उक्त दो प्रशंसात्मक श्लोक स्तोत्र के अन्त में जोड़े थे।" आदि। अकलङ्कस्तोत्र के अन्तिम दो पद्य तो अवश्य ही अकलङ्क के किसी भक्तजन के बनाये हुए हैं। हां, मल्लिषेणप्रशस्ति वाले श्लोक के स्वयं अकलङ्करचित होने में इतिहासज्ञों को विवाद हो सकता है। मल्लिषेणप्रशस्ति में यह श्लोक 'राजन्[3] साहसतुंग' आदि अन्य दो श्लोकों के बाद आता है और उससे ऐसा मालूम होता है कि साहसतुङ्ग राजा की सभा में अकलङ्क ने वे श्लोक कहे थे।

इतिहासप्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि स्वामी समन्तभद्र के बारे में भी इसी तरह के कुछ श्लोक सर्वविश्रुत हैं, जिनमें उनके दिग्विजय तथा किसी राजा की सभा में शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज देने का वर्णन उनके मुख से कराया गया है। मल्लिषेणप्रशस्ति के अकलङ्कसम्बन्धी प्रारम्भिक दो श्लोक भी उन्हीं श्लोकों की छाया में बनाये जान पड़ते हैं। इसी से अकलङ्क के श्लोक का एक चरण "वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्।" समन्तभद्र के श्लोक के एक चरण 'राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी' का बिल्कुल प्रतिरूप जान पड़ता है। तथा अकलङ्क का अपने मुख से राजासाहसतुंग की और अपनी प्रशंसा में उस तरह के शब्द निकालना भी संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रशस्ति में संकलित आरम्भिक दो श्लोक तो बनावटी जान पड़ते है किन्तु हिमशीतलवाला श्लोक, जो अकलङ्कस्तोत्र में भी है, अकलङ्करचित हो सकता है क्यों कि उसमें वही कारुण्यभाव झलकता है जो न्याय-विनिश्चय के द्वितीय[4] पद्य में अङ्कित है। अतः पूर्वदर्शित विचारों के पूर्वार्ध से सहमत होने में हमें भी कोई बाधा नहीं दीखती किन्तु उस श्लोक के अस्तित्व से स्तोत्र का अकलङ्करचित होना प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि स्तवन में उस श्लोक की स्थिति उतनी भी उपयुक्त नहीं है जितनी

---

१ किंवाद्यो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलङ्कः कलौ
काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलङ्को जिनः।
यस्य स्फारविवेकमुद्रलहरीजालेऽप्रमेयाकुला
निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ॥ १५ ॥
सा तारा खलु देवता भगवतीमन्यापि मन्यामहे
षण्मासावधिजाड्यसंख्यभगवद्भट्टाकलङ्कप्रभोः।
वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनोमज्जन-
व्यापारं सहतेस्म विस्मितमतिः सन्ताडितेतस्ततः ॥ १६ ॥

२ देखो, जै० सि० भास्कर, भाग ३, पृ० १५५।

३ प्रशस्ति के तीनो श्लोक 'शास्त्रार्थी अकलङ्क' नामक स्तम्भ में उद्धृत किये जा चुके हैं।

४ यह श्लोक 'ग्रन्थकार अकलंक' शीर्षक में उद्धृत है।

कटे वस्त्र में पेबन्द (थेगरा) की होती है, वह तो वहां जबरन ठूसा गया जान पड़ता है, और इस कार्य को करने का सन्देह उन्हीं महात्मा पर किया जा सकता है जिन्होंने स्वरचित या पररचित प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक जोड़े हैं।

अकलङ्कदेव को शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करना विशेष प्रिय था, अकलङ्क के प्रकरणों के उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारात्मक पद्यों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है। प्रकृत स्तोत्र भी उक्त दो छन्दों में ही रचा गया है। किन्तु उसका विषय अकलङ्क के व्यक्तित्व के बिल्कुल प्रतिकूल है, उसमें उनकी दार्शनिकता की छाया रंचमात्र भी नहीं है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के स्तोत्रों में गहन तत्त्वचर्चा का निरूपण देखने में आता है, तब अकलङ्क जैसे वाग्मी की लेखनी से इस प्रकार की तात्त्विक-चर्चा से शून्य और अक्रमबद्ध स्तवन की आशा कैसे की जा सकती है ? हम ऊपर लिख आये हैं कि अकलङ्कदेव अपने सभी प्रकरणों के अन्त में किसी न किसी रूप में अपना नाम देते हैं, किन्तु अकलङ्कस्तवन में किसी स्थल पर भी अकलङ्क नाम का निर्देश नहीं है। अतः अकलङ्कस्तवन को प्रसिद्ध अकलङ्करचित तो नहीं माना जा सकता। संभव है अकलङ्क नाम के किसी दूसरे विद्वान ने उसे रचा हो और हिमशीतलवाले श्लोक की उपस्थितिने उसे प्रसिद्ध अकलङ्कदेव रचित होने की जनश्रुति देदी हो।

अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी ग्रन्थपरीक्षा के तीसरे भाग में इस प्रतिष्ठापाठ की समीक्षा करके प्रमाणित किया है कि यह प्रतिष्ठापाठ प्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेव की कृति नहीं है किन्तु उनके समाननामा किसी दूसरे पंडित की कृति है। क्यों कि उसमें आदिपुराण, ज्ञानार्णव, एकसंधिसंहिता, सागारधर्मामृत, आदि ग्रन्थों से बहुत से पद्य दिये गये हैं। उन्होंने इसका रचनाकाल वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्य में प्रमाणित किया है।

अकलंकप्रायश्चित्त—यह ग्रन्थ इसी ग्रन्थमाला के १८वें ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें २९ श्लोक और अन्त में एक पद्य है। मंगलाचरण में 'जिनचन्द्र' के विशेषणरूप अकलङ्क पद आया है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसमें विभिन्न प्रकार के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। प्रायश्चित्त में अभिषेक का विधान बहुतायत से किया गया है। इससे यह ग्रन्थ भट्टारकयुग की रचना जान पड़ता है। मद्रास से प्रकाशित सूचीपत्र के अनुसार अकलंक नाम के विद्वानों की जो तालिका दी है उसमें भट्टारक अकलंक का उल्लेख है, जिन्हें श्रावकप्रायश्चित्त का रचयिता लिखा है। यह प्रायश्चित्त ग्रन्थ वि० सं० १२५६ में रचा गया था। संभवतः यह श्रावकप्रायश्चित्त ही अकलंकप्रायश्चित्त है और भट्टारक अकलंक उसके रचयिता हैं। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो इसे विक्रम की १३ वीं शताब्दी की रचना मानना होगा।

प्रमाणरत्नदीप और जैनवर्णाश्रम नामक कन्नड़ ग्रन्थ भी अकलंक की कृतियाँ कही जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ भी अकलंक नाम के किसी अन्य ग्रन्थकार की रचना प्रतीत होते हैं। कन्नड़ ग्रन्थ तो संभवतः शब्दानुशासन के रचयिता अकलंक (१६ वीं शताब्दी) का होगा। मद्रास के 'सूचीपत्रों के सूचीपत्र' में 'वादसिन्धु' नामक ग्रन्थ को भी अकलंक की कृति लिखा है

तथा लिखा है कि सीतम्बूर तिन्दीवनम् के मठ में 'अकलंकवाद' नामक एक ग्रन्थ है, किन्तु इन ग्रन्थों को देखे बिना इनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस विस्तृत चर्चा के आधार पर, वर्तमान में, केवल तत्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय (सविवृति), न्यायविनिश्चय (सविवृति), सिद्धिविनिश्चय (सविवृति) और प्रमाणसंग्रह, ये ६ ग्रन्थ ही अकलंकदेवरचित प्रमाणित होते हैं। संभव है कुछ अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे हों और वे यदि मूषकों के आक्रमण से बचे हों तो किसी भण्डाररूपी कारागार में अपने जीवन की शेष घड़ियाँ गिनते हों, किन्तु अकलंकदेव के विरुद की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उक्त ग्रन्थरत्न ही पर्याप्त हैं। उनके अनुशीलन से प्रत्येक विद्वान् इस निर्णय पर पहुंचता है कि उनका रचयिता एक प्रौढ़ विद्वान् और उच्चकोटि का ग्रन्थकार था।

अकलंक का व्यक्तित्व

(उनके साहित्य के आधार पर)

किसी ने कहा है और ठीक कहा है कि साहित्य कवि के मनोभावों का न केवल मूर्तिमान् प्रतिबिम्ब है किन्तु उसकी सजीव आत्मा है। कवि जो कुछ विचारता है और जो कुछ करता है उसकी प्रतिध्वनि उसके साहित्य में सर्वदा गूँजती रहती है। अतः कवि के व्यक्तित्व का प्रामाणिक परिचय उसके साहित्य से मिलता है।

यद्यपि अकलंकदेव का साहित्य तर्कबहुल और विचारप्रधान है, उसका बहुभाग इतर दर्शनों की समीक्षा से ओतप्रोत है, तथापि किसी किसी स्थल पर कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर हम उनके व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

अकलंक के प्रकरणों के अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अल्पभाषी और सतत विचारक थे, और ज्यों ज्यों वे वयस्क होते गये उनके ये गुण भी अधिक अधिक विकसित होते गये। उन्होंने जो कुछ लिखा बहुत थोड़े शब्दों में लिखा और खूब मनन कर लेने के बाद लिखा। इसी से उनकी रचना गहन और चिन्तनीय है, खोजने पर भी उसमें एक भी शब्द व्यर्थ नहीं मिल सकता। किन्तु वे शुष्क दार्शनिक नहीं थे, बल्कि बड़े विनोदी और परिहासकुशल व्यक्ति थे। उनके गहन साहित्यकानन में विचरण करते करते जब पाठक कुछ क्लान्ति सी अनुभव करने लगता है, तब दार्शनिक परिहास की पुट उसकी क्लान्ति को दूर करके पुनः उसके मस्तिष्क को तरोताजा बना देती है।

जिस समय अकलङ्कदेव ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था वह समय बौद्धयुग का मध्याह्नकाल था। भारत के दार्शनिक धार्मिक राजनैतिक और साहित्यिक आकाश में, सर्वत्र उसकी प्रखरकिरणों का साम्राज्य था, उसके प्रताप से इतर दार्शनिक त्रस्त थे। इसी से अकलंक के साहित्य में बुद्ध और उसके मन्तव्यों की आलोचना बहुतायत से पाई जाती है और उनके परिहास का लक्ष्य भी वही है। मध्यकालीन खण्डनमण्डनात्मक साहित्य के देखने से पता चलता है कि उस समय इतर दर्शनों की आलोचना करते करते आलोचक मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे, और अपने विपक्षी को पशु तक कह डालने में संकोच न करते थे, किन्तु सदाशय अकलंक के व्यङ्ग-विनोद में हमें उस कटुता के दर्शन नहीं होते। कहीं कहीं वे 'देवानांप्रिय' जैसे शब्दों का प्रयोग श्लेषरूप में करते हैं और कहीं कहीं बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा जैनों के

लिये प्रयुक्त शब्दों को ही उनके लिये प्रयुक्त कर देते हैं, किन्तु अधिकतर वे अपने विपक्षी की किसी दार्शनिक भूल को पकड़कर ही उसका उपहास करते हैं। उनके उपहास के कुछ उदाहरण देखिये—अद्वैतवाद में साध्य और साधन के द्वैत के लिये भी स्थान नहीं है, किन्तु उसके बिना अद्वैतवाद का स्थापन नहीं किया जा सकता, अतः अद्वैतवादी योगाचारसम्प्रदाय का समर्थक धर्मकीर्ति उसे परिकल्पित कहता है। इस पर उपहास करते हुए अकलंक लिखते हैं–

"साध्यसाधनसंकल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः।
परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः॥
अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः।
केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना॥" न्या० वि०

"साध्य और साधन का समर्थन तात्त्विक नहीं है, परिकल्पित है। श्रोताओं के हृदय में परमार्थ अद्वैत का अवतार कराने के लिये उसकी कल्पना की गई है, क्योंकि उसके बिना परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अपने बुद्धिकौशल का प्रदर्शन करनेवाला धर्मकीर्ति अवश्य ही किसी निर्दयी के द्वारा ठगा गया है, हा, कष्ट !!!"

और सुनिये—

धर्मकीर्ति ने अनेकान्तवादियों का उपहास करते हुए लिखा है–एक को अनेक और अनेक को एक कहना बड़ी ही विचित्र बात है। अकलंक उसका प्रत्युपहास करते हुए लिखते हैं—

"चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः।
चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः॥" न्या० वि०

"निस्सन्देह, एक को अनेक और अनेक को एक कहना एक विचित्र सिद्धान्त है किन्तु दृश्यमान इस विचित्र जगत को शून्य कहना उससे भी बढ़कर विचित्र सिद्धान्त है।" कितना सात्त्विक और युक्तिपूर्ण परिहास है।

निरंशसंवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हमारा अद्वैत तत्त्व न तो किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ करता ही है। इस पर अकलंक कहते हैं—

"न जातो न भवत्येव न च किञ्चित् करोति सत्।
तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते॥" न्या० वि०

"यदि आपका संवेदनाद्वैत न तो कभी उत्पन्न हुआ, न होता है और न कुछ कार्य ही करता है फिर भी वह है अवश्य। तो बुद्ध के मस्तक पर एक ऐसा तीक्ष्ण सींग भी क्यों नहीं मान लेते, जो न तो उत्पन्न होता है और न है।"

संभवतः बौद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अपने विपक्षियों के लिये जड़, अह्रीक, पशु आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैनों के लिये 'अह्रीक' शब्द का प्रयोग तो एक रूढ़ शब्द बन गया है, क्योंकि उनके दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते हैं। अकलंकदेव ने इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या कुछ दार्शनिक मन्तव्यों के आधार पर इस रीति से की है, कि वे शब्द प्रकारान्तर से उनके प्रबल विपक्षी बौद्ध पर ही लागू हो जाते हैं। जैसे, शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत आदि की कथा, परमाणुसञ्चयवाद, अपोहवाद, सन्तानवाद

आदि सात बातें जड़ता के कारण हैं अर्थात् जो उन्हें मानता है वही जड़ है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा का साधन न करना आदि तीन बातों को 'अह्रीक' का लक्षण बतलाया है इस नूतन प्रकार से विपक्षी के अपशब्दों का परिहार और आपादन सज्जनोचित रीति से होजाता है और उससे हम उसके अविष्कर्ता के सौम्य स्वभाव और चातुर्य का विश्लेषण सरलता से कर सकते हैं।

अकलङ्कदेव बौद्धों के प्रबल विपक्षी थे और अवसर मिलते ही उन पर वार करने से नहीं चूकते थे। किन्तु किसी व्यक्तिगतद्वेष के कारण उनका यह भाव न था, बल्कि सिद्धान्तभेद के कारण था, और सिद्धान्तभेद में भी कदाग्रह कारण न था, किन्तु कारण था उनका परीक्षाप्रधानत्व। आप्तमीमांसा नामक स्तवन की प्रथमकारिका पर अष्टशती भाष्य का निर्माण करते हुए जब वे कहते हैं–"आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः।" अर्थात् "परमेष्ठी में पाई जाने वाली देवताओं का आगमन, आकाश में गमन आदि बातों को आज्ञाप्रधान भक्तजन परमात्मत्व का चिह्न मान सकते हैं किन्तु हमारे जैसे परीक्षाप्रधान व्यक्ति नहीं मान सकते क्योंकि ये बातें तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं।" तब उनकी तेजस्विता साकाररूप धारण करके आखों के सामने नर्तन करने लगती है, और पाठक बरबस कह उठता है–कितने गजब का व्यक्तित्व है इन पंक्तियों के लेखक का। सचमुच यह एक ही पंक्ति अपने रचयिता के व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिये पर्याप्त है, इससे आत्मविश्वास, अप्रभावित प्रज्ञाशालीनता आदि कितने ही सद्गुणों का बोध होता है। अतः अकलंकदेव का सिद्धान्तमूलक मतभेद केवल जन्मागत नहीं था किन्तु उसमें उनका परीक्षाप्रधानत्व भी कारण था। वे बौद्ध सिद्धान्तों को न्यायसम्मत न होने के साथ ही साथ जनता के लिये कल्याणकारी भी नहीं समझते थे और इसी से उनका प्रसार देखकर दुःखी होते थे। तभी तो न्यायविनिश्चय का प्रारम्भ करते हुए उनका कारुण्यभाव जागृत हो उठता है और वे मलिनीकृत न्याय का शोधन करने के लिये उद्यत होते हैं। परीक्षाप्रधान होते हुए भी अकलङ्कदेव में श्रद्धा का अभाव न था, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी श्रद्धा परीक्षामूलक थी। अनेकान्ती होने के कारण वे न केवल हेतुवाद के ही अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद के ही, प्रत्युत दोनों का समन्वय ही उनके जीवन का मंत्र था। इसी से वे दोनों को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं–"सिद्धे पुनराप्तवचने यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम्"। अर्थात् आज्ञा के सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो जाना आवश्यक है कि वह आज्ञा किसी आप्तपुरुष के द्वारा दी गई है। यह प्रमाणित हो जाने पर जैसे हेतुवाद प्रमाण है वैसे ही आज्ञावाद भी प्रमाण है।

इस प्रकार अकलङ्क के साहित्य के आधार पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की झलक का थोड़ा सा आभास मिलता है और उससे हम उनके जीवन की रूपरेखा का अनुमान करने में समर्थ होते हैं।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलङ्क

अकलङ्क जैनन्याय के प्रस्थापक थे। उनके पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों ने उनके न्याय का 'अकलङ्कन्याय' शब्द से उल्लेख किया है और उनके द्वारा निर्धारित की गई रूपरेखा को दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने समान रूप से अपनाया है। अकलङ्क के द्वारा स्थापित की गई रूपरेखा कितनी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक थी? इस बात का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकार ने उसमें परिवर्तन या संवर्द्धन

करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और प्रायः सभी ने उनके मन्तव्यों को लेकर न्यायशास्त्र के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना की। यथार्थ में सातवीं शताब्दी के बाद में होने वाले जैन नैयायिकों को उत्पन्न करने का श्रेय अकलङ्कदेव को ही प्राप्त है। उन्हीं के सत्प्रयत्न से जैनवाङ्मय के भण्डार में आज न्यायशास्त्रविषयक अमूल्य ग्रन्थरत्नों के दर्शन होते हैं और उनसे न केवल जैनदर्शन का किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र का मस्तक गौरव से उन्नत हो जाता है।

अकलङ्क ने जैनन्याय में किन किन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की, यह जानने के लिये अकलङ्क के पूर्ववर्ती जैनन्याय की रूपरेखा का जानलेना आवश्यक है। अतः प्रथम उसी पर प्रकाश डाला जाता है।

अकलङ्क के पहले जैनन्याय की रूपरेखा

न्यायशास्त्र के इतिहास का परिशीलन करने से पता चलता है कि ईस्वी सन् से पहले न तो न्यायशब्द उस अर्थ में ही प्रचलित था जिसमें आज है, और न उस पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की ही पद्धति थी। तत्त्वचर्चा और वाद-विवाद में युक्तियों का उपयोग अवश्य किया जाता था किन्तु युक्तियों पर शास्त्र रचने की आवश्यकता का अनुभव संभवतः किसी ने भी न किया था। इसी से भगवान महावीर के उपदेश के सारभूत द्वादशाङ्ग श्रुत में अनेकान्तदृष्टि का अनुसरण होते हुए भी, उनमें से एक भी श्रुत स्वतंत्ररीति से प्रमाण, नय, स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा से सम्बन्ध नहीं रखता था।

प्रथम शताब्दी के विद्वान् आचार्य श्री कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में यद्यपि तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया गया तथापि उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण और सात भंगों के परिगणन के सिवाय, उक्तदिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं की गई। किन्तु उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में 'मतिः स्मृतिःसंज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।' सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का सङ्केत किया और नयों की भी परिगणना की।

उसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर में कालक्रम से दो जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी प्रभा से जैनवाङ्मय को आलोकित किया। ये दो नक्षत्र थे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे, बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण से उनका उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्तवाद की स्थापना की, तथा उपेयतत्त्व के साथ ही साथ उपायतत्त्व—आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करके अनेकान्त के क्षेत्र को व्यापक बनाया। आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के समय में हेतुवाद आगमवाद से पृथक् होगया था और उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करली थी। इसी से उन्हें आप्त की आगमसम्मत विशेषताओं में व्यभिचार की गन्ध आई और हेतुवाद के आधार पर आप्त की मीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। स्वामी समन्तभद्र का सम्पूर्ण विवेचन हेतुपरक होने पर भी उन्होंने हेतुशास्त्र-युक्तिशास्त्र या न्यायशास्त्र के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, उनकी लेखनी का केन्द्रविन्दु था केवल अनेकान्तवाद, उसी के स्थापन और विवेचन में उन्होंने अपनी लेखनी को चमत्कृत कर दिया, इसी से उनके ग्रन्थों

में अनेकान्तवाद के फलितवाद नयवाद और सप्तभंगीवाद का भी निरूपण मिलता है। फिर भी उनकी शैली हेतुवाद के कुछ मन्तव्यों पर प्रकाश डालती है और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने उसके आधार पर कई एक रहस्यों का उद्घाटन करके उन्हें जैनन्याय में स्थान दिया है।

समन्तभद्र ने जैनन्याय को जो कुछ दिया, संक्षेप में उसकी विगत निम्न प्रकार है—

१ जैनवाङ्मय के जीवन अनेकान्तवाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा स्थिर करके दर्शन-शास्त्र की प्रत्येकदिशा में उसका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली को प्रचलित किया।

२ प्रमाण का दार्शनिक लक्षण[2] और फल[3] बतलाया।

३ स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की।

४ श्रुतप्रमाण को स्याद्वाद और उसके विशकलित अंशों को नय बतलाया।

५ सुनय और दुर्नय की व्यवस्था[4] की।

२ अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद, प्रमाण और नय का स्पष्ट विवेचन करके जैनन्याय की नींव रक्खी। जैनसाहित्य में न्यायशब्द का सब से पहले प्रयोग भी इन्हीं के ग्रन्थों में देखा जाता है।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् जैन साहित्य के क्षितिज पर दूसरे नक्षत्र का उदय हुआ। यह नक्षत्र थे सिद्धसेन दिवाकर, जो न्याय के लिये तो सचमुच दिवाकर ही थे। इन्होंने सन्मति-तर्क नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्ननयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया। इनके समय में बौद्ध दार्शनिकों में न्यायशास्त्र के विविध अंगों पर प्रकरण रचने की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः न्यायशास्त्र विषयक उनके प्रकरणों को देख-कर ही दिवाकरजी का ध्यान जैनसाहित्य की इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने न्यायावतार नामक प्रकरण को रचकर जैनसाहित्य में सर्वप्रथम न्याय का अवतार करने का श्रेय प्राप्त किया। इस छोटे से प्रकरण में दिवाकरजो ने प्रमाण की चर्चा की है। उन्होंने समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद को स्थान दिया और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई। यद्यपि स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञ-सिद्धि में अनुमान का उपयोग किया था किन्तु अनुमान प्रमाण की परिभाषा और उसका स्वार्थ और परार्थ के भेद से विभाजन, जैनवाङ्मय में सबसे पहले न्यायावतार में ही मिलता है। और इसी लिये इसका 'न्यायावतार' नाम सार्थक है, क्योंकि न्यायशब्द का पारिभाषिक अर्थ परार्थानुमान ही किया गया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तदाभासों का संक्षिप्त विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार

---

१ देखो, आप्तमीमांसा। २ "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।" स्वयंभूस्तो० श्लो० ६३। ३ "उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः॥ १०२॥" आ० मी०। ४ आ०मी० कारि० १०४। ५ आ० मी० कारि० १०६। ६ आ० मी० कारि० १०८। ७ स्वयंभूस्तो० श्लो० १०३। ८ तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि ? संशयितेऽर्थे॥ न्या० भा० १-१-१ दिङ्नाग ने परार्थानुमान के पाँच अवयवों को 'न्यायावयव' लिखा है। विद्याभूषण का 'इन्डियनलॉजिक' पृ० ४२।

श्री सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायोपयोगी तत्त्वों का समावेश करके जैनसाहित्य में न्याय पर स्वतंत्र प्रकरण लिखने की पद्धति को जन्म दिया।

अकलङ्कदेव के पहले पात्रकेसरि श्रीदत्त आदि अन्य भी कई जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन, जल्पनिर्णय आदि ग्रन्थों को रचकर जैन्य न्याय के अन्य अंगों का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना संभव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-न्याय की दिशा में प्रशंसनीय उद्योग किया और उन्हीं के द्वारा किये गये शिलान्यास के आधार पर कुशल शिल्पी अकलंक ने जैनन्याय के भव्य प्रासाद का निर्माण किया।

स्पष्टीकरण के लिये जैनन्याय के दो विभाग किये जा सकते हैं—एक विशेष और दूसरा सामान्य। विशेष विभाग का सम्बन्ध जैनन्याय के उन मन्तव्यों से है जो केवल जैनों की अनेकान्तदृष्टि से ही सम्बन्ध रखते हैं और इसलिये एकान्तवादी दर्शनों में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। और सामान्य विभाग का सम्बन्ध न्यायशास्त्र के उन मन्तव्यों से है जिनके कारण ही न्याय न्याय कहा जाता है। प्रथम विभाग में स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद का समावेश है और दूसरे में प्रमाणवाद, विशेषतया अनुमानप्रमाण और उसके परिकर हेतु हेत्वाभास आदि का। स्वामी समन्तभद्र ने प्रथम विभाग पर लेखनी चलाई और उसका ऐसा साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया कि बाद के लेखकों को उसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इसका यह आशय नहीं है कि समन्तभद्र के बाद के ग्रन्थकारों ने स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, उन्होंने लिखा और खूब लिखा, किन्तु उनके लेख से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे उक्त विषय में कुछ नूतन वृद्धि कर रहे हैं या उन्होंने किसी ऐसे नूतन सिद्धान्त का समावेश उसमें किया है जो समन्तभद्र के वर्णन में नहीं था। हाँ, ऐसे कुछ तत्त्व अवश्य मिलते हैं, जो समन्तभद्र के लेख में अव्यक्त थे और बाद के लेखकों ने उन्हें व्यक्त किया। जैसे प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी का अस्पष्टसा उल्लेख समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्रकरणों में मिलता है, अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिये। सिद्धसेन दिवाकर ने न्याय के पहले विभाग के साथ ही साथ दूसरे विभाग पर भी लेखनी उठाई। और जैसा कि लिखा जा चुका है इस दिशा में उनका यह प्रथम ही प्रयास था। अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र में बहुत उन्नति हो चुकी थी, बौद्धदर्शन के पिता दिङ्नाग के अस्त के बाद धर्मकीर्ति का अभ्युत्थान हो रहा था, बौद्धदर्शन का मध्याह्नकाल था, शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किये जानेवाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि अस्त्र-शस्त्रों के सञ्चालन में निपुण हुए बिना विजय पाना दुर्लभ था, तथा यदि शास्त्रार्थ के मध्य में उपेयतत्त्व पर वाद-विवाद होते-होते उपायतत्त्व पर भी वाद-विवाद होने लगे तो उस पर भी अपना शास्त्रीय अभिमत प्रकट करना आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति में जैन-न्याय के उत्तराधिकारी के रूप में अकलंकदेव को जो निधि मिली, वह उस समय के लिये पर्याप्त नहीं थी। विपक्षीदल ने अपनी विरासत को खूब समृद्ध बना लिया था, तथा कुछ ऐसे उपायों का भी आविष्कार किया गया था जिनसे न्याय की हत्या हो रही थी, अतः न्याय का

१ तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥ आप्तमीमांसा
२ नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि। संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥ ३० ॥ न्यायावतार

शोधन और अन्याय का परिमार्जन करने के लिये यह आवश्यक था कि वीर प्रभु के अनेकान्तवाद और अहिंसावाद के आधार पर सदुपायों की स्थापना की जाये और एकान्तवादियों के द्वारा अनेकान्तवाद पर किये गये आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में उनका उपयोग किया जाये।

अकलंकदेव ने इस आवश्यकता और कमी का अनुभव किया और उसे पूर्ण करने में अपनी समस्त शक्ति लगादी। सब से पहले उनका ध्यान जैनदर्शन की प्रमाणपद्धति की ओर आकर्षित हुआ। जैनदर्शन में प्रमाण के मूलभेद दो हैं एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और उनकी सहायता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें प्रारम्भ के दो ज्ञान केवल रूपीपदार्थों को ही जान सकते हैं इसलिये इन्हें विकलप्रत्यक्ष के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु केवलज्ञान त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तु को जान लेता है अतः इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। परोक्ष के दो भेद हैं मति और श्रुत। ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। जैनधर्म में प्रमाणपद्धति की यही प्रचीन परम्परा है। इस प्राचीन परम्परा में आचार्य उमास्वाति ने थोड़ा सा विकास किया। उन्होंने अपने समय के प्रचलित स्मृति, संज्ञा (प्रत्य- भिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैनदर्शन में तार्किक प्रमाणपद्धति को स्थान दिया। इस कार्य में सूत्रकार ने बहुत दूरदर्शिता से काम लिया, कारण, जैनप्रमाणपरम्परा की प्रक्रिया और उसके नाम इतने विलक्षण थे कि इतर दार्शनिकों से उनका मेल खाना असम्भव था, तथा उसमें न्यायदर्शन के अनुमान उपमान आदि प्रमाणों का संकेत तक भी न था और चर्चा वार्ता में इन्हीं का प्रयोग बहुतायत से होता था। अतः इतर प्रमाणों का समन्वय करने की आवश्यकता संभवतः सूत्रकार के समय में उतनी न रही हो जितनी उनके उत्तराधिकारियों को हुई। उमास्वाति ने तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर्भूत करके अपने उत्तराधिकारियों को मार्गप्रदर्शन तो कर दिया किन्तु उससे प्रमाणपद्धति की गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकीं। सब से प्रबल समस्या थी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहने की और उसके मतिज्ञान नाम की। जैनों के सिवाय किसी भी दार्शनिक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते थे। तथा उसका यह मतिज्ञान नाम भी सब के लिये एक अजीब ही गोरखधन्धा था। यदि एक आधा दार्शनिक भी जैनों की इस परिभाषा और नाम में उनका सहयोगी होता तो भी एक और एक मिलकर दो हो जाते, किन्तु यहाँ तो अपने राम अकेले ही थे। इसलिये जिस किसी भी दार्शनिक के समक्ष ये अजीब बातें उपस्थित होतीं वही उनके उपस्थित कर्ता को नक्कू बनाता।

संभवतः दिवाकरजी के सन्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई थी इसी से न्यायावतार में प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष की कुछ अजीब सी परिभाषा करने के बाद किसी के भेद प्रभेद बतलाये बिना केवल शाब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण का ही निरूपण उन्होंने किया है।

अकलंकदेव ने इस तथा अन्य समस्याओं को बहुत ही सुन्दर रीति से हल करके प्रमाणविषयक गुत्थियों को सर्वदा के लिये सुलझा दिया। उन्होंने अपनी प्रमाणशैली का आधार तो वही स्थिर रक्खा जो उमास्वाति ने अपनाया था। तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर उन्होंने भी प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये। किन्तु प्रत्यक्ष के विकल-

प्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के स्थान में [1]सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष इस प्रकार दो भेद किये, और इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकाल कर और सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से प्राचीन परम्परा को भी कोई क्षति नहीं पहुँची और विपक्षी दार्शनिकों को भी क्षोदक्षेम करने का स्थान नहीं रहा, क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् पारमार्थिक नहीं किन्तु लौकिकप्रत्यक्ष नाम दे देने से न तो जैनाचार्यों को ही कोई आपत्ति हो सकती थी क्योंकि परिभाषा और उसके मूल में जो दृष्टि थी वह सुरक्षित रखी गई थी, और न विपक्षी दार्शनिक ही कुछ कह सकते थे क्योंकि नाम में ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम देदेने से वह विवाद जाता रहा। मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लेने पर उसके सहयोगी[3] स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध प्रमाण भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत कर लिये गये। किन्तु इन सहयोगी प्रमाणों में मन की प्रधानता होने के कारण सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष[4] के दो भेद किये गये एक इन्द्रियप्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष में मति को स्थान मिला और अनिन्द्रिय में[5] स्मृति आदिक को। परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई अतः उसकी आगमिक परिभाषा के स्थान में अति संक्षिप्त और स्पष्ट परिभाषा निर्द्धारित की—स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

मति स्मृति आदि प्रमाणों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाते हुए अकलंकदेव ने लिखा है[6] कि मति आदि प्रमाण तभी तक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं, जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती। शब्दयोजनासापेक्ष होने पर वे परोक्ष ही कहें जायेंगे और उस अवस्था में वे श्रुतज्ञान के भेद होंगे। इस मन्तव्य से प्रमाणों की दिशा में एक नवीन प्रकाश पड़ता है और उसके उजाले में कई रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। अतः उनके स्पष्टीकरण के लिये ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

गौतम ने अनुमान के–स्वार्थ और परार्थ–दो भेद किये थे, किन्तु उद्योतकर से पहले नैयायिक किसी व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिये परार्थानुमान की उपयोगिता नहीं मानते थे। दिङ्नाग ने दोनों भेदों का ठीक ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के मध्य में भेद की रेखा खड़ी की। दिवाकरजी ने परार्थानुमान को जैन न्याय में स्थान तो दिया किन्तु

---

१ "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम्। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाण इति संग्रहः ॥३॥" लघीयस्त्रय

२ "आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुरंजसा। केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसंग्रहः ॥" न्या० वि०।

३ "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥" तत्त्वार्थसूत्र

४ "तत्र सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।" लघी० वि० कारि० ४।

५ "अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् ॥" लघी० विवृ० का० ६१।

६ "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥" लघीयस्त्रय

७ देखो, प्रो० चिरवट्स्की का 'बुद्धिस्ट लॅजिक'।

उसका समन्वय करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। पूज्यपाद देवनन्दि ने इस ओर ध्यान दिया और प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ दो भेद करके श्रुतप्रमाण को उभयरूप बतलाया, अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान को स्वार्थ और वचनात्मक को परार्थ कहा, किन्तु शेष मति आदि प्रमाणों को स्वार्थ ही बतलाया। अकलंकदेव ने आगमिक परम्परा और तार्किक पद्धति को दृष्टि में रखकर उक्त प्रश्न को दो प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया। आगमिक[1] परम्परा में तो उन्होंने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया और श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक–दो भेद करके स्वार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में और परार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में किया। किन्तु तार्किक क्षेत्र में उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि श्रुतज्ञान का रूढ़ अर्थ तार्किक क्षेत्र में मान्य नहीं किया जा सकता था। सांख्य आदि दर्शनों में शाब्दप्रमाण या आगमप्रमाण के नाम से एक प्रमाण माना गया था और वह केवल शब्दजन्य ज्ञान से ही सम्बन्ध रखता था, और श्रुतप्रमाण से भी उसी अर्थ का बोध होता था क्योंकि श्रुत का अर्थ 'सुना हुआ' होता है। अतः अकलंकदेव ने शब्दसंसृष्ट ज्ञान को श्रुत और शब्द-असंसृष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्धारित किया जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

लघीयस्त्रय में स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध प्रमाणों का अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में जो अन्तर्भाव किया गया है, उसके मूल में केवल एक ही दृष्टि प्रतीत होती है और वह दृष्टि है सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना। सिद्धिविनिश्चय टीका के अवलोकन से भी यही प्रतीत होता है। अकलंक का मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी विवृति उपलब्ध होती तो इस सम्बन्ध में और भी विशेष प्रकाश डाला जा सकता था। किन्तु अकलंक के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द को न तो स्मृति[3] आदिक को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मानना ही अभीष्ट था और न वे परम्परा के विरुद्ध केवल शब्दसंसृष्ट ज्ञान को ही श्रुत मानने के लिये तैयार थे। विद्यानन्द ने अपनी प्रमाणपरीक्षा[4] में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भेद करके भी अवग्रहादि धारणापर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माना है और शेष स्मृति आदि को परोक्ष ही माना है। तथा श्लोकवार्तिक[5] में लघीयस्त्रय की उक्त कारिका के मन्तव्य की आलोचना भी की है और 'शब्दसंसृष्ट ज्ञान को ही श्रुत कहते हैं' इस परिभाषा की रचना में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद को कारण बतलाया है, क्यों कि भर्तृहरि के मत से कोई ज्ञान शब्दसंसर्ग के बिना नहीं हो सकता था अतः उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि शब्दसंसर्गरहित ज्ञान मति है और शब्दसंसर्गसहित ज्ञान श्रुत है। अकलंक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि उन्होंने प्रमाणों के स्वार्थ और परार्थ भेद को मानकर भी स्वतंत्र रूप से कहीं अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नहीं किये, क्योंकि उनके मत से केवल अनुमान प्रमाण ही परार्थ नहीं होता है बल्कि इतर प्रमाण भी परार्थ होते हैं और वे सब श्रुत कहे जाते हैं।

---

१ "श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्॥" सर्वार्थ० पृ० ८। २ देखो, राजवार्तिक पृ० ५४। ३ "एवमनन्तरप्रस्तावद्वयेन अशब्दयोजनं स्मरणादिश्रुतं व्याख्यातम्।" सि० वि० टी० पृ० २५३ पू०। ४ पृ० ६८-६९। ५ देखो 'श्रुतं मतिपूर्वम्' सूत्र की व्याख्या।

अकलंक के प्रमाणविषयक उक्त मन्तव्यों का सार संक्षेप में इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्ष तीन तरह का होता है इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें प्रारम्भ के दो प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और अन्तिम पारमार्थिक।

२ मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान यदि शब्द-असंसृष्ट हो तो सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के भेद हैं और यदि शब्द-संसृष्ट हों तो परोक्ष श्रुतप्रमाण के भेद जानने चाहिये।

३ दूसरों के द्वारा माने गये अर्थापत्ति, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुत प्रमाण में होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान को केवल शब्दसंसृष्ट कहने पर भी अकलंक को स्मृति आदि का परोक्षत्व और श्रुतज्ञान का अनक्षरत्व अभीष्ट था और उनके ग्रन्थों में इसका स्पष्ट आभास मिलता है। उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एक मत से सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया, किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना, और इस प्रकार अकलंक ने सूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिये जो प्रयत्न किया था वह तो सफल न हो सका किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाणपद्धति को सब ने एक स्वर से अपनाया।

परोक्षप्रमाण

परोक्ष प्रमाणों में, नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए, अकलंक ने प्रत्यभिज्ञानप्रमाण के एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदों का उपपादन किया। अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति बतलाकर उसका साकल्येन ग्रहण करने के लिये तर्कप्रमाण[1] की आवश्यकता सिद्ध की। साध्य[2] और साध्याभास का स्वरूप स्थिर किया। हेतु और हेत्वाभास[3] की व्यवस्था की। बौद्ध दार्शनिक हेतु के केवल तीन ही भेद मानते हैं स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, किन्तु अकलंक ने उनके अतिरिक्त कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर को भी हेतु स्वीकार किया, तथा बौद्धों की तरह अनुपलब्धि हेतु को केवल अभावसाधक न मानकर, उसे उभयसाधक माना।

हेत्वाभास और जाति का जो विवेचन अकलंक के प्रकरणों में मिलता है वह उससे पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु उसे अकलंक की देन नहीं कहा जा सकता, क्यों कि अकलंक ने उसे अपने पूर्वज पात्रकेसरि के 'त्रिलक्षणकदर्थन' से लिया[4] है। किन्तु यतः वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है अतः अकलंक के हेत्वाभास और जाति का भी संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

हेत्वाभास

नैयायिक[5] हेतु के पाँच रूप मानता है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व, अबाधितविषय और असत्प्रतिपक्ष, अतः उसने पाँच हेत्वाभास माने हैं। बौद्ध हेतु को त्रैरूप्य मानता है अतः

१ लघीयस्त्रय का० १९, २१ की विवृति। २ लघीयस्त्रय का० ११। ३ न्या० वि० २-३। ४ न्या० वि० २-१७३। ५ लघी० का० १४। ६ इसके लिये देखो 'पात्रकेसरि और अकलंक' शीर्षक स्तम्भ। ७ नैयायिक के हेत्वाभासों पर दिङ्नाग का प्रभाव जानने के लिये प्रो० चिरवित्स्की का बुद्धिस्ट लॉजिक दर्शनीय है।

उसने तीन ही हेत्वाभास माने हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। किन्तु जैन केवल एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी यथार्थ में एक ही है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकारों से देखा जाता है अतः हेत्वाभासों के भी असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद किये गये हैं। जो हेतु त्रिरूपात्मक होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के अभाव से गमक नहीं हो सकते, उन सबको अकिञ्चित्कर[1] हेत्वाभास में गर्भित किया जाता है। किन्तु कोई कोई अकिञ्चित्कर को पृथक् हेत्वाभास नहीं मानते।

जाति

मिथ्या उत्तर को जाति कहते हैं, अर्थात् वाद के समय येन केनापि प्रकारेण प्रतिवादी को पराजित करने के लिये जो असत् उत्तर दिये जाते हैं उन्हें जाति कहते हैं। अकलंक ने अपने प्रकरणों में साधर्म्यसमा आदि जातियों का वर्णन नहीं किया और ऐसा करने में वे दो हेतु देते हैं[3]—एक तो असत् उत्तरों का कोई अन्त नहीं है और दूसरा शास्त्रान्तर में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जल्प या वाद

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से पता चलता है कि आचार्य श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे इस विषय को भी अकलंक की देन तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु एक तो वह ग्रन्थ अनुपलब्ध है और दूसरे, अकलंकदेव अपने समय के एक प्रबल वादी थे, तीसरे धर्मकीर्ति के वादन्याय की रचना के बाद उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रतिपादन किया था अतः उसमें बहुत कुछ मौलिकतत्त्व होने की संभावना है।

न्यायदर्शन में कथा के तीन भेद किये हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। न्यायसूत्रकार के मत से वीतराग कथा को वाद और विजिगीषुकथा को जल्प और वितण्डा कहते हैं। किन्तु अकलंकदेव जल्प और वाद में अन्तर न मानकर वाद को भी विजिगीषुकथा में ही सम्मिलित करते हैं। और वास्तव में लोकप्रसिद्धि से भी यही प्रमाणित है, क्योंकि गुरु-शिष्य की वीतरागकथा को कोई वाद नहीं कहता। दो वादियों के बीच में जब किसी बात को लेकर नियमानुसार पक्ष और प्रतिपक्ष की चर्चा छिड़ती है तभी वाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। न्यायसूत्रकार ने जल्प वितण्डा को विजिगीषुकथा मानकर, प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये छल जाति आदि असदुपायों का अवलम्बन करने का भी निर्देश किया है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक एक स्वर से इसका विरोध करते हैं। वाद को चतुरङ्ग कहा जाता

---

१ "अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः।
विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥" न्या० वि० २--१९६।

२ "अन्यथानुपपन्नत्वरहिताः ये त्रिलक्षणाः।
अकिञ्चित्कारकाः सर्वाः तान् वयं संगिरामहे॥" न्या० वि० २-२०१।

३ "असदुत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः।
साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते॥" न्या० वि० २--२०६॥

दिङ्नाग ने भी 'इस प्रकार के असदुत्तर अनन्त होते हैं' लिखकर जातियों का वर्णन करने में विशेष तत्परता नहीं दिखलाई। बुद्धिस्ट लॉजिक (चिरविट्स्की) पृ० ३४२। ४ पृ० २८०, का० ४५।

है क्योंकि उसके चार अङ्ग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। अकलंकदेव[1] ने सभापति के स्थान में राजा को वाद का अङ्ग माना है। इससे यही आशय व्यक्त होता है कि अध्यक्ष के आसन पर शक्तिशाली शास्त्रज्ञ पुरुष स्थित होना चाहिये जो वादी और प्रतिवादी को असद् उपायों का अवलम्बन करने से रोक सके।

जल्प और वाद को एक मान लेने से केवल एक वितण्डा ही शेष रह जाता है। वितण्डा-कथा में वादी और प्रतिवादी अपने अपने अपने पक्ष का समर्थन न करके केवल प्रतिपक्षी का खण्डन करने में ही लगे रहते हैं। अतः अककङ्क ने उसे वादाभास कहा है[2]। क्योंकि वाद में स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-दूषण, दोनों का होना आवश्यक है।

वाद में सबसे मुख्य प्रश्न जय और पराजय की व्यवस्था का है। प्रतिपक्षी को निगृहीत करने के लिये न्यायदर्शन में २२ निग्रहस्थानों की व्यवस्था की गई है। और धर्मकीर्ति ने वादी और प्रतिवादी के लिये एक एक निग्रहस्थान आवश्यक माना है। यदि वादी अपने पक्ष को सिद्धि करते हुए किसी ऐसे अङ्ग का प्रयोग कर जाये जो 'असाधनाङ्ग' माना गया है या साधनाङ्ग को न कहे तो वह निगृहीत हो जाता है। इसी प्रकार वादी के अनुमान में दूषण देते हुए यदि प्रतिवादी किसी दोष का उद्भावन न कर सके या अदोष का उद्भावन करे तो वह निगृहीत कर दिया जाता है। अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए इस प्रकार के निग्रह को अनुचित बतलाया है। वे कहते हैं[3]—"वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय है। यदि वादी अपने पक्ष का साधन करते हुए कुछ अधिक कह जाता है या प्रतिवादी अपने पक्ष की सिद्धि करके वादी के किसी दोष का उद्भावन नहीं कर सकता तो वे निगृहीत नहीं कहे जा सकते। कहावत प्रसिद्ध है–'स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्'। प्रमाण के बल से प्रतिपक्षी के अभिप्राय को निवृत्त कर देना ही सम्यक् निग्रह है। अतः जो वादी समीचीन युक्तिबल के द्वारा अपने पक्ष को सभ्यों के चित्त में अङ्कित कर देने में पटु है उसी को ही विजय मानना चाहिये, और जो चुप हो जाता है या अंट संट बोलता है वह पराजित समझा जाना चाहिए।"

इस प्रकार स्वाधिगम और पराधिगम के निमित्तभूत प्रमाणों की व्यवस्थापना करके अकलंकदेव ने जैन न्यायशास्त्र को सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध किया। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग, मीमांसक, वैयाकरण और बौद्ध दर्शन के विविध मन्तव्यों पर सर्वप्रथम लेखनी चलाकर अपने उत्तराधिकारियों का मार्ग प्रशस्त किया।

अकलंक और इतर आचार्य

हम ऊपर बतला आये हैं कि अकलंक के पहले जैनन्याय की क्या रूपरेखा थी और उन्होंने उसमें किन किन सिद्धान्तों को सम्मिलित करके उसे पूर्ण और परिष्कृत बनाया था। तथा यह भी लिख आये हैं कि उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण किया है। इन बातों पर विशेष प्रकाश डालने के लिये पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा करना दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों के लिये विशेष रुचिकर होगा और उससे वे जान सकेंगे कि साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० २५६ उ०। २ न्या० वि० २-२१४।

३ असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन के विविध अर्थों के लिये वादन्याय देखना चाहिये।

४ अष्टशती, अष्टस० पृ० ८१ तथा न्या० वि० २-२०७, ९।

तथा उसकी रचना में उसके समकालीन तथा पूर्वकालीन विचारों का कहाँ तक हाथ रहता है ? अतः जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा क्रमशः की जाती है।

अकलंक और जैनाचार्य

कुन्दकुन्द और अकलंक—कुन्दकुन्द सैद्धान्तिक थे और उनके समय में तर्कशैली का विकास भी न हो सका था। किन्तु अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में उन्होंने द्रव्यानुयोग का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है और उसमें उनकी तार्किक प्रतिभा झलकती है। अकलंकदेव ने अपने राजवार्तिक और अष्टशती में द्रव्य, गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की जो चर्चा की है वह कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए की है। कुन्दकुन्द[1] लिखते हैं—"द्रव्य ही सत्ता है, सत् और द्रव्य दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं।" इसी बात को प्रकारान्तर से दोहराते हुए अकलंक[2] भी कहते हैं—"द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सत्ता के ही विशेष हैं, सत्ता ही द्रव्य है, सत्ता ही क्षेत्र है, सत्ता ही काल है और सत्ता ही भाव है।" कुन्दकुन्द[3] लिखते हैं—"उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्यस्वरूप हैं अतः द्रव्य ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।" इस सीधीसी बात को तार्किकदृष्टि से पल्लवित करते हुए अकलंक[4] लिखते हैं—"उत्पित्सु ही नष्ट होता है, नश्वर ही स्थिर रहता है और स्थिर ही उत्पन्न होता है। और यतः द्रव्य और पर्यायें अभिन्न हैं अतः—स्थिति ही उत्पन्न होती है, विनाश ही स्थिर रहता है, और उत्पत्ति ही नष्ट होती है।" अष्टशती की व्याख्या करते हुए विद्यानन्द ने इस प्रकरण[5] में 'तथाचोक्तं' करके कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय के एक गाँथा की संस्कृत छाया उद्धृत की है। इससे प्रतीत होता है कि विद्यानन्द भी अकलंकदेव को उक्त विवेचन के लिये कुन्दकुन्द का ऋणी समझते थे। अतः अकलंक कुन्दकुन्द के अनुयायी थे और उनके ग्रन्थों का उनपर अच्छा प्रभाव था।

उमास्वाति और अकलंक—दिगम्बरसमाज में आचार्य उमास्वाति, उमास्वामी नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सबसे पहले जैनवाङ्मय को सूत्ररूप में निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी। वर्तमान में इस सूत्रग्रन्थ के दो पाठ पाये जाते हैं। एक पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ कहलाता है और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सूत्रपाठ के ऊपर अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक वृहद् ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में उन्होंने स्थान स्थान पर श्वेताम्बर सूत्रपाठ की आलोचना भी की है। अकलंकदेव ने उमास्वाति के द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणपद्धति का कितना और कैसा अनुसरण किया है यह हम पहले बतला आये हैं। उनके प्रमाणविषयक प्रकरणों का आधार 'तत्प्रमाणे' सूत्र है और 'प्रमाण इति संग्रह' लिखकर प्रत्येक प्रकरण में उन्होंने उक्त सूत्र का निर्देश किया है।

---

१ "तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥" २-१३ ॥ प्रवचनसार

२ "सत्तैव विशिष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना।" अष्टशती, अष्टस० पृ० ११३।

३ "उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु, पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सत्तं ॥" २-९ ॥ प्रवच०

४ "उत्पित्सुरेव विनश्यति, नश्वर एव तिष्ठति, स्थास्नुरेवोत्पद्यते।" अष्टश० अष्टस० पृ० ११२।

५ "स्थितिरेवोत्पद्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति।" अष्टश०, अष्टस० पृ० ११२

६ अष्टसहस्री पृ० ११३। ७ गा० ८।

भाष्यकार और अकलंक—श्वेताम्बर सूत्रपाठ के ऊपर एक भाष्यग्रन्थ भी है जो स्वोपज्ञ कहा जाता है। किन्तु कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों को इसमें विवाद है और उसे वे बाद की रचना समझते हैं। अकलंक के वार्तिकग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अकलंकदेव के सन्मुख उक्त भाष्य उपस्थित था। कई स्थलों पर उन्होंने उसके मन्तव्यों की आलोचना की है और कहीं कहीं अनुसरण सा भी किया प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, 'अणवः स्कन्धाश्च' सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'कारणमेव तदन्त्यः' आदि पद्य उद्धृत किया है। अकलंकदेव ने उसकी आलोचना की है। तथा 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र की व्याख्या में 'वृत्तौ पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघातः' वार्तिक[2] का व्याख्यान करते हुए लिखा है—"वृत्तौ उक्तम्—अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित् पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति।" यह वाक्य भाष्य[3] में इस प्रकार है—"अवस्थितानि च, न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्ति शब्द से अकलंक ने भाष्य का निर्देश किया है।

प्रथम अध्याय के 'एकादीनि' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने किसी आचार्य के मत का उल्लेख 'केचित्' करके किया है, जो केवलज्ञान की दशा में भी मति आदि ज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव ने इस मत का खण्डन किया है। 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं' आदि एक श्लोक भी उद्धृत किया[4] है जो भाष्य में पाया जाता है। तथा ग्रन्थ के अन्त में भी 'उक्तं च' करके कुछ श्लोक दिये हैं जो भाष्य में मिलते हैं। इसके सिवा भाष्य में सूत्ररूप से कही गई कई पंक्तियों का विस्तृत व्याख्यान राजवार्तिक में पाया जाता है। यथा, 'शुभं विशुद्धमव्याघाति' आदि सूत्र के भाष्य में शरीरों में संज्ञा, लक्षण आदि से भेद बतलाया है। अकलंकदेव ने उसका विवेचन[5] दो पृष्ठों में किया है। तथा 'सम्यग्दर्शन' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्, उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः' लिखा है। अकलंकदेव ने इन्हें वार्तिक[6] बनाकर उनका आशय स्पष्ट किया है। कहा जा सकता है कि वार्तिकग्रन्थ से भाष्यकार ने इन्हें ले लिया होगा। किन्तु पूर्वोक्त अन्य सब बातों के साथ इसकी समीक्षा करने पर यही प्रतीत होता है कि अकलंकदेव के सन्मुख उक्त भाष्यग्रन्थ उपस्थित था और उन्होंने उसके कुछ मन्तव्यों की आलोचना और कुछ का आदान करके अपनी न्याय्यबुद्धि का ही परिचय दिया है।

समन्तभद्र और अकलंक—स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के प्रतिष्ठाता समन्तभद्र के प्रकरणों का अकलंकदेव पर बड़ा गहरा प्रभाव है। उनके 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण पर उन्होंने अष्टशती भाष्य की रचना की थी। आप्तमीमांसा में प्रत्येक तत्त्व को अनेकान्त की तुला में तोला गया है। उसी का अनुसरण हम अकलंकदेव के राजवार्तिक में पाते हैं। क्योंकि राजवार्तिक में अनेकान्त के आधार पर तत्त्वस्थितिविषयक प्रायः प्रत्येक प्रश्न को हल करने का प्रयत्न अकलंक ने किया है। समन्तभद्र[7] ने प्रमाण को 'स्याद्वादनयसंस्कृत' बतलाकर श्रुतज्ञान

१ भाष्य पृ० ११६ और राजवार्तिक पृ० २३६। २ राजवा० पृ० १९७। ३ पृ० १०७। ४ राजवा० पृ० ३६१। यह श्लोक तथा कुछ अन्त के श्लोक अमृतचन्द्र सूरि के तत्त्वार्थसार में भी पाये जाते हैं। जो ज्यों के त्यों मूल में सम्मिलित कर लिये गये हैं। किन्तु ये श्लोक तत्त्वार्थसार के नहीं हैं क्योंकि अमृतचन्द्र अकलंक के कई सौ वर्ष बाद हुए हैं। ५ राजवा० पृ० १०८-१०९। ६ राजवा० पृ० १२। ७ "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥" आ०मी०।

को 'स्याद्वाद' शब्द से अभिहित किया है। लघीयस्त्रय में अकलंक ने भी उसी का अनुसरण करते हुए श्रुत[1] के दो उपयोग बतलाये हैं एक स्याद्वाद और दूसरा नय। हम पहले बतला आये हैं कि समन्तभद्र के द्वारा स्थिर की गई स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा इतनी परिष्कृत थी कि अकलंक को जैनन्याय के इस अंग में परिवर्तन और विशेष परिवर्द्धन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और उसे उन्होंने ज्यों का त्यों अपना लिया।

इसके सिवा समन्तभद्र के कथनों के आधार पर उन्होंने न्यायशास्त्र के कई आवश्यक अंगों की स्थापना की। यथा, आप्तमीमांसा[3] में समन्तभद्र ने जिनोक्त तत्त्व को प्रमाण से अबाधित बतलाकर एकान्तवादियों के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को प्रमाणबाधित लिखा है। इस पर आशङ्का की गई कि दोनों बातों को कहने की क्या आवश्यकता थी? जिनोक्त तत्त्व को प्रमाण से अबाधित कह देने से ही 'इतरोक्त तत्त्व प्रमाण से बाधित हैं' यह स्पष्ट हो जाता है। इसका समाधान करते हुए अकलंकदेव[4] ने वादन्याय के स्वरूप का निर्धारण किया और बतलाया कि विजिगीषु को स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण दोनों करना चाहिये। इसी लिये स्वामी समन्तभद्र ने दोनों बातों का निर्देश किया है।

सारांश यह है कि जैसे अपने प्रमाणशास्त्रों का प्रणयन करते हुए अकलंक ने उमास्वाति के दृष्टिकोण का ध्यान रखा और द्रव्यानुयोग की चर्चा में कुन्दकुन्द का अनुसरण किया, उसी तरह जैनन्याय की रूपरेखा के निर्धारण में उन्होंने समन्तभद्र की उक्तियों का अनुशीलन किया।

सिद्धसेनदिवाकर और अकलंक—यद्यपि सिद्धसेन का न्यायावतार[5] जैनन्याय का आद्यग्रन्थ माना जाता है फिर भी अकलंक के प्रकरणों पर उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु उनके ख्यातग्रन्थ सन्मतितर्क[6] का हम उनपर पर्याप्त प्रभाव देखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द[7] और उमास्वाति[8] ने गुण को पर्याय से जुदा मानकर द्रव्य का लक्षण 'गुणपर्ययवत्' किया था। किन्तु सिद्धसेन[9] दिवाकर ने शास्त्रीय युक्तियों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि गुण और पर्याय ये दो जुदी जुदी वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। द्रव्य और पर्याय की तरह यदि गुण भी कोई स्वतंत्र वस्तु होती तो उसके लिये गुणार्थिक नाम का तीसरा नय भी होना आवश्यक था। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंक[10] ने सिद्धसेन के इस मत का पूर्वपक्षरूप से निर्देश किया है और प्रारम्भ में उसका समाधान करते हुए, शास्त्र तथा युक्तियों के आधार पर, गुण का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु अन्त में 'गुणा एव पर्यायाः' निर्देश करके गुण और पर्याय का अभेद स्वीकार कर लिया है।

गुण और पर्याय के अभेदवाद के सिद्धान्त की तरह आचार्य सिद्धसेन ने नयों में भी एक नवीन परिपाटी को स्थान दिया था। प्राचीन परम्परा के अनुसार नय सात हैं किन्तु सिद्धसेन ने नैगमनय को संग्रह और व्यवहार में सम्मिलित करके षड्नयवाद की स्थापना की थी। अकलंकदेव ने सिद्धसेन का अनुकरण करते हुए नयप्रवेश में संग्रह नय का पहले निरूपण किया है किन्तु वाद में नैगम का भी वर्णन कर दिया है। राजवार्तिक में भी सप्तभंगी का

---

१ स्याद्वादकेवलज्ञाने ॥ १०५ ॥ आ० मी०। २ उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ॥ ६२ ॥ ३ कारिका ६-७। ४ अष्टश०, अष्टसहस्री पृ० ८१। ५ प्रवचनसार अ० २, गा० ३। ६ तत्त्वार्थसूत्र ५-३७। ७ सन्मतितर्क, काण्ड ३, गा० ८-१५। ८ राजवार्तिक पृ० २४३। ९ सन्मति० कांड १, गा० ४। १० पृष्ठ १८६।

वर्णन करते हुए द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय को 'संग्रहाद्यात्मक' ही बतलाया है। तथा उसी के बाद अर्थनयों में जो सप्तविध वचनमार्ग और शब्दनय में द्विविध वचनमार्ग बतलाया है वह भी सन्मतितर्क का ही अनुकरण करते हुए लिखा है। लघीयस्त्रय[1] में तो सन्मतितर्क की तीसरी गाथा की संस्कृतछाया मूल में सम्मिलित कर ली गई है। इस प्रकार सिद्धसेन के सन्मतितर्क का अकलंक के प्रकरणों पर खूब प्रभाव पड़ा है। किन्तु सन्मति में प्रतिपादित केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाद की चर्चा का अकलङ्क ने अनुसरण नहीं किया। लघीयस्त्रय के तीन प्रवेश सन्मतितर्क के तीन काण्डों का स्मरण कराते हैं। सिद्धसेन की एक द्वात्रिंशतिका से भी अकलंक ने एक पद्य उद्धृत[2] किया है।

श्रीदत्त और अकलङ्क—अकलङ्क से पहले श्रीदत्त नाम के एक तार्किक विद्वान् हो गये हैं। आचार्य देवनन्दि ने अपने व्याकरण[3] में उनका उल्लेख किया है। आचार्य विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट होता है कि श्रीदत्त त्रेसठ वादियों के विजेता थे और उन्होंने 'जल्पनिर्णय' नाम का कोई महत्त्वशाली ग्रन्थ रचा था। अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थ में भी 'जल्पसिद्धि' नाम से एक प्रकरण है और उसमें वाद और जल्प को एक ही बताया है। संभव है जल्पसिद्धि पर 'जल्पनिर्णय' का प्रभाव हो। ग्रन्थ उपलब्ध न होने से इसके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

पूज्यपाद और अकलङ्क—पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति को अन्तर्भूत करके अकलंक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक नामक ग्रन्थ की रचना की है और उसकी बहुत सी पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। तथा शब्दों की सिद्धि करते हुए, पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण से अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। जिससे पता चलता है कि वे जैनेन्द्रव्याकरण के अच्छे अभ्यासी थे और उसपर उनकी बड़ी आस्था थी।

पात्रकेसरी और अकलङ्क—अकलङ्क से पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं। उन्हें पात्रस्वामी भी कहते थे। उन्होंने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम का एक शास्त्र रचा था। हम पहले कह आये हैं कि बौद्ध आचार्य हेतु का लक्षण त्रैरूप्य मानते हैं। आचार्य वसुबन्धु ने यद्यपि त्रैरूप्य का निर्देश किया था किन्तु उसका विकास दिङ्नाग ने ही किया है। इसी से वाचस्पति उसे दिङ्नाग का सिद्धान्त बतलाते हैं। इसी त्रैरूप्य या त्रिलक्षण का कदर्थन करने के लिये पात्रकेसरी ने उक्त शास्त्र की रचना की थी। अतः पात्रकेसरी, दिङ्नाग (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के बाद के विद्वान् थे। त्रिलक्षण का कदर्थन करनेवाला उनका निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह के 'अनुमानपरीक्षा' नामक प्रकरण में पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएं पूर्वपक्षरूप से दी हैं। उनमें उक्त श्लोक भी है और

---

१ का० १, गा० ४१। २ कारिका ६६-६७ की विवृति। ३ राजवार्तिक पृ० २९५। ४ जैनेन्द्रव्याकरण, १-४-३४। ५ "द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्। त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥ ४५॥" त०श्लो० वा० पृ० २८०।

उसकी क्रमिकसंख्या १३६९ है। श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि ने भी पात्रस्वामी के नाम से उक्त श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक अकलंक के न्यायविनिश्चय के अनुमानप्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेद में भी गर्भित है। न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि इस श्लोक की उत्थानिका में लिखते हैं—

"तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्य भेदं ? स्वबुद्धिपरिकल्पितम् अपि तूपरागसिद्धम् इत्युपदर्शयितुकामः भगवत्सीमन्धरस्वामितीर्थकरदेवसमवसरणाद् गणधरदेवप्रसादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह—"

अर्थात्—"भगवान् सीमन्धरस्वामी के समवशरण से, गणधर देव के प्रसाद से प्राप्त करके, पद्मावती देवी ने जो वार्तिक पात्रकेसरी स्वामी को समर्पित किया था, उसे कहते हैं।"

अकलंक के ही दूसरे ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चय की टीका में भी इस विषय की मनोरञ्जक चर्चा पाई जाती है। उक्त ग्रन्थ के 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठवें प्रस्ताव का प्रारम्भ करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि—"हेय-उपादेय के विवेक से शून्य मनुष्य *स्वामी* के *अमलालीढ* पद को नहीं समझ सकता"। रेखाङ्कित पदों की व्याख्या करते हुए टीकाकार अनन्तवीर्य लिखते हैं—

'अमलालीढम्'—अमलैर्गणधरप्रभृतिभिरालीढमास्वादितं न हि ते सदोषमालिहन्ति अमलत्वहानेः। कस्य तदित्यत्राह—'स्वामिनः' पात्रकेसरिणः इत्येके। कुत एतत्, तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमितिचेत्, नन्वेवं सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थकरस्य स्यात् तेन हि प्रथमं "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।" इत्येतत् कृतम्। कथमिदमवगम्यते ? इति चेत्, 'पात्रकेसरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतम्' इति कथमवगम्यते इति समानम्। आचार्यप्रसिद्धेः, इत्यपि समानम्, उभयत्र च कथा महती सुप्रसिद्धा तस्य तत्कृतत्वे प्रमाणप्रामाण्ये तत्प्रसिद्धौ कः समाश्वासः ? तदर्थं करणात् तस्य, इति चेत्, तर्हि सर्वं शास्त्रं तदविधेय चात एव शिष्याणामेव न 'तत्कृतम्' इति व्यपदिश्येत। पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत् तेनाप्यन्यार्थं तत्करणात्तेनाप्यन्यार्थम् इति न कस्यचित् स्यात् येन तद्विषयप्रबन्धकरणात् पात्रकेसरिणस्तत् इति चिन्तितं मूलसूत्रकारेण कस्यचिद् व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् साकल्येन साक्षात्कृत्योपदिशत एवायं भगवतः तीर्थकरस्य हेतुः, इति निश्चीयते।"

इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि 'पद' शब्द से टीकाकार ने 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि पद का ग्रहण किया है और उसके विशेषण 'अमलालीढ' पद का अर्थ 'गणधरों के द्वारा आस्वादित' किया है। तथा 'स्वामिनः' शब्द के अर्थ के बारे में उत्तर-प्रत्युत्तर करते हुए लिखा है—"स्वामी शब्द से कोई कोई पात्रकेसरी का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम के उत्तरभाष्य की रचना की थी और यह हेतुलक्षण उसी ग्रन्थ का है।

१ स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५२१। २ न्या० वि० वि० पृ० ५०० पू०।

यदि ऐसा है तो इस हेतुलक्षण को सर्वदर्शी भगवान् सीमन्धर स्वामी का मानना चाहिये, क्योंकि पहले उन्होंने ही "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" इस वाक्य की रचना की थी। यदि कहा जाये कि इसके जानने में क्या साधन है तो 'पात्रकेसरी ने त्रिलक्षणकदर्थन की रचना की थी' इस बात के जानने में क्या साधन है ? यदि कहा जाये कि यह बात आचार्यपरम्परा से प्रसिद्ध है तो उक्त श्लोक के सीमन्धरस्वामिरचित होने में भी आचार्यप्रसिद्धि है ही। तथा उसके सीमन्धर रचित होने की कथा भी सुप्रसिद्ध है।..... यदि यह कहा जाये कि सीमन्धर स्वामी ने पात्रकेसरी के लिये उक्त श्लोक की रचना की थी, अतः वह श्लोक पात्रकेसरिरचित कहा जाता है तो समस्त शास्त्र तीर्थंकरविहित न कहे जाकर शिष्यरचित कहे जाने चाहिये, क्योंकि शिष्यों के लिये ही उनका विधान किया गया था। अथवा वह पात्रकेसरिरचित भी न कहा जाना चाहिये क्योंकि उन्होंने भी दूसरों के लिये ही उसे रचा था। इसी प्रकार दूसरों ने भी दूसरों के लिये और उन दूसरों ने भी और दूसरों के लिये रचना की थी, अतः वह किसी का भी रचित नहीं कहा जायेगा। और ऐसी अवस्था में मूल सूत्रकार (अकलंक) उसे किसी का भी नहीं बतला सकते थे। अतः समस्त जगत का साक्षात्कार करके उपदेश देनेवाले तीर्थङ्कर भगवान् का ही उक्त हेतु है यह निश्चित है, और इसी लिये उसे 'अमलालीढ' बतलाया है।"

इस चर्चा से यही निष्कर्ष निकलता है कि अकलंकदेव ने भी उक्त हेतुलक्षण को स्वामी का बतलाया है और टीकाकार अनन्तवीर्य उसके 'अमलालीढ' विशेषण के आधार पर, प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार स्वामी का अर्थ सीमन्धरस्वामी करते हैं, जब कि कोई कोई विद्वान् 'स्वामी' से पात्रकेसरी का ग्रहण करते हैं। भट्टारक प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश में पात्रकेसरी की कथा दी गई है। उसमें बतलाया गया है कि बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के अवसर पर, पद्मावती देवी ने सीमन्धर स्वामी के समवशरण से उक्त श्लोक लाकर पात्रकेसरी को दिया था, जिससे वे बौद्धों के त्रिलक्षणवाद का कदर्थन करने में समर्थ हुए थे। श्रवणबेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी एक श्लोक इसी आशय का इस प्रकार दिया है—

"महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥"

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंक के पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रभावशाली आचार्य हुए थे। उन्होंने त्रिलक्षणकदर्थन नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था और उसमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि श्लोक मौजूद था। उसे अकलंक ने अपने प्रकरणों में ज्यों का त्यों सम्मिलित कर लिया।

'सम्यक्त्वप्रकाश' आदि कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर ऐतिहासिकों में एक गलतफहमी फैल गई थी कि विद्यानन्द का ही अपरनाम पात्रकेसरी है और 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' आदि श्लोक भी उन्हीं का रचा हुआ है। विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में एक स्थल पर तो उक्त श्लोक को 'तथाह च' लिखकर मूल में सम्मिलित कर लिया है, और

---

१ इस गलतफहमी को दूर करने के लिये, अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ६७ पर मुद्रित 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये। २ पृ० २०३।

दूसरे स्थल पर 'हेतुलक्षणं वार्तिककारेण एवमुक्तम्' लिखकर उद्धृत किया है। स्वर्गीय डाक्टर पाठक उसी गलतफहमी के आधार पर लिखते हैं कि विद्यानन्द ने 'वार्तिककार' शब्द से स्वयं अपना ही उल्लेख किया है (क्योंकि वे श्लोकवार्तिक के रचयिता हैं)। यदि डाक्टर पाठक पात्रकेसरी और विद्यानन्द के पृथक् व्यक्तित्व से परिचित होते और अकलंक के न्यायविनिश्चय का अवलोकन कर पाते तो उनसे उक्त भूल न हुई होती। यथार्थ में 'वार्तिककार' पद से विद्यानन्द, राजवार्तिककार अकलंकदेव को ओर संकेत करते हैं। क्योंकि उन्होंने न्यायविनिश्चय में उक्त श्लोक को देखा होगा और संभवतः पात्रकेसरी का त्रिलक्षणकदर्थन या उसके सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्ती का उन्हें पता न होगा, अतः उसे अकलंकरचित ही समझा होगा। विद्यानन्द और पात्रकेसरी में ऐक्य मान लेने के कारण डा० पाठक से एक अन्य भूल भी हो गई है। वे लिखते हैं कि पात्रकेसरि ने धर्मकीर्ति के त्रिलक्षण हेतु पर आक्रमण किया है। विद्यानन्द को पात्रकेसरी मान लेने की दशा में तो डा० पाठक का लिखना ठीक है क्योंकि विद्यानन्द धर्मकीर्ति के बाद में हुए हैं। किन्तु पात्रकेसरी का एक स्वतंत्र विद्वान् होना और अकलंक के पूर्ववर्ती होना डाक्टर पाठक के मत को भ्रामक सिद्ध करता है।

वादिराज के अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि अकलंकदेव ने पात्रकेसरी के 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक शास्त्र से केवल उक्त श्लोक ही नहीं लिया, किन्तु कुछ अन्य सामग्री भी ली है। अनुमानप्रस्ताव की एक अन्य कारिका की उत्थानिका में वे लिखते हैं—"एँषां त्रैविध्यनियमं प्रतिषिध्य पात्रकेसरिणाऽपि तन्नियमः प्रतिषिद्धः इति दर्शयन् तद्वचनान्याह"। उसी प्रस्ताव में, जातियों का वर्णन करते हुएँ, एक कारिका के 'शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः' पद का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं–"त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्री पात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनात्।"

इन उल्लेखों से पता चलता है कि 'त्रिलक्षणकदर्थन' में अनुमान तथा उससे सम्बद्ध बहुत सी बातों का विस्तृत वर्णन था। और अकलंक ने उससे बहुत कुछ ग्रहण किया है।

मल्लवादी और अकलङ्क—अकलँङ्क ने नयों का विशेष विवरण जानने के लिये नयचक्र देखने का अनुरोध किया है। दिगम्बर साहित्य में नयचक्र नाम से जो छोटा सा ग्रन्थ उपलब्ध है वह अकलङ्क से कई सौ वर्ष बाद में रचा गया है, तथा उसके लघुनयचक्र नाम और अन्य उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि नयचक्र नाम का कोई वृहत् ग्रन्थ भी था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मल्लवादी नाम के एक तार्किक विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने बौद्धों को जीता था। उनका बनाया 'द्वादशारनयचक्र' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ–सिंहगणिक्षमाश्रमण की टीकासहित–उपलब्ध है। अतः यही संभावना की जाती है कि अकलङ्क ने मल्लवादिरचित नयचक्र का ही उल्लेख किया है।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण और अकलङ्क—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगमकुशल विद्वान् हो गये हैं। इनका विशेषावश्यकभाष्य सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, उसी के कारण भाष्यकार नाम से भी उनकी ख्याति

१ पृ० २०५। २ भा० प्रा० वि० पूना की पत्रिका, जि० १२, पे० ७१–८० पर मुद्रित 'धर्मकीर्ति के त्रिलक्षणहेतु पर पात्रकेसरी का आक्रमण' शीर्षक लेख। ३ न्या० वि० वि० पृ० ५१० पूर्व०। ४ न्या० वि० वि० पृ० ५२७ उ०। ५ "इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।" ३–९१, न्या० वि०।

है। इस भाष्य और अकलङ्कदेव के ग्रन्थों में कई चर्चाएँ ऐसी पाई जाती हैं जो परस्पर में मेल खाती हैं। तथा, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक पर दूसरे का प्रभाव है। यथा, चक्षु के प्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुए अकलंक ने लिखा है—"यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्, न च गृह्णाति, अतो मनोवदप्राप्यकारीति अवसेयम्।" विशेषावश्यक भाष्य में भी निम्न गाथा का न केवल आशय किन्तु शब्दरचना भी अकलंक की शब्दावली से मिलती है। तुलना कीजिये—

"जइ पत्तं गेण्हेज्ज उ तग्गयमंजण-रओ मलाईयं।
पेच्छेज्ज, जं न पासइ अपत्तकारी तओ चक्खु ॥ २१२ ॥"

अकलंक की तरह क्षमाश्रमणजी भी इन्द्रियनिमित्तक ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। तथा शब्दयोजनासहित इन्द्रियमनोनिमित्तक ज्ञान को श्रुतज्ञान और शेष को मतिज्ञान कहते हैं। दोनों आचार्य जिनशासन के युगप्रधान पुरुषों में गिने जाते हैं। दोनों में केवल इतना ही अन्तर प्रतीत होता है कि यदि क्षमाश्रमण जी आगमविशारद और तर्ककुशल व्यक्ति थे तो अकलंकदेव तर्कविशारद और आगमकुशल व्यक्ति थे।

क्षमाश्रमण जी का समय अभी तक सुनिश्चित रीति से निर्णीत नहीं हो सका है। पट्टावलियों के आधार पर उन्हें छठी शताब्दी का विद्वान माना जाता है। यतः हरिभद्रसूरि (ई० ७००–७७०) ने उनका उल्लेख किया है अतः ईसा की आठवीं शताब्दी के बाद के विद्वान तो वे हो ही नहीं सकते। और विशेषावश्यकभाष्य में सुबन्धु की वासवदत्ता का उल्लेख होने के कारण छठी शताब्दी से पहले के विद्वान नहीं हो सकते। डा० कीथ 'वासवदत्ता' को सातवीं शताब्दी की रचना बतलाते हैं, किन्तु बाणकविरचित हर्षचरित में उसका उल्लेख है और बाणकवि राजा श्रीहर्ष (ई० ६०६–६४७) का समकालीन था। अतः 'वासवदत्ता' को सातवीं शताब्दी की रचना नहीं माना जा सकता। वासवदत्ता में न्यायवार्तिककार उद्योतकर का उल्लेख है अतः उद्योतकर को अधिक से अधिक छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान मान कर, वासवदत्ता को छठी शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में क्षमाश्रमण जी ई० ६०० से ७५० तक के मध्यकाल के विद्वान ठहरते हैं।

---

१ राजवार्तिक पृ० ४८। २ "इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं। नियमत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥ १०० ॥" ३ देखो 'हरिभद्र का समयनिर्णय' शीर्षक लेख। ४ गा० १५०८। ५ इण्डियन लॉजिक। ६ "कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।" परि० १। ७ "न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां···वासवदत्तां ददर्श।" ८ डा० कीथ अपने इंडियन लॉजिक में लिखते हैं कि उद्योतकर ने वादविधि और वादविधान टीका का उल्लेख किया है संभवतः ये दोनों ग्रन्थ धर्मकीर्ति का वादन्याय और विनीतदेव की वादन्यायटीका ही हैं। किन्तु उनकी यह संभावना ठीक नहीं है। क्यों कि उस दशा में उद्योतकर को आठवीं शताब्दी के भी बाद का विद्वान मानना होगा, क्यों कि विनीतदेव का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। और ऐसी परिस्थिति में 'वासवदत्ता' की ऐतिहासिक शृङ्खला छिन्नभिन्न हो जायेगी। उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में सुघ्न का निर्देश किया हैं जिसे राजा हर्ष की राजधानी थानेश्वर से एक सड़क जाती थी। इस पर डा० कीथ लिखते हैं कि उद्योतकर राजा हर्ष का समकालीन था। किन्तु डाक्टर सा० की यह कल्पना भी निराली ही जान पड़ती है। थानेश्वर के निकटवर्ती सुघ्न ग्राम का निर्देश करने से यही अनुमान किया जा सकता है कि वे थानेश्वर के निवासी थे जैसा कि डाक्टर विद्याभूषण ने लिखा है, न कि किसी के समकालीन। तत्त्वसंग्रह की भूमिका में उद्योतकर का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया है।

विशेषावश्यकभाष्य में एक स्थल पर 'केइ दिहालोयणपुव्वमोग्गहं वेंति' इत्यादि लिखकर एक मत की आलोचना की है जो आलोचनज्ञानपूर्वक वस्तु का ग्रहण होना स्वीकार करता है। जैनशास्त्रों में दर्शनपूर्वक अवग्रह की चर्चा तो हमारे देखने में आई है किन्तु आलोचनज्ञान-पूर्वक अवग्रह की चर्चा हमारे दृष्टिपथ से नहीं गुजरी। इसकी टीका में टीकाकार हेमचन्द्र मलधारिदेव ने क्षमाश्रमणजी द्वारा निरूपित मत का निर्देश करने के लिये 'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्' आदि, कुमारिल के श्लोकवार्तिक की कारिका उद्धृत की है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार उक्त मत को कुमारिल का मत समझते थे। यदि उन्हें किसी जैनाचार्य के उक्तमत का पता होता तो वे उसके समर्थन में कुमारिल की कारिका उद्धृत न करते। इस पर से ऐसा लगता है कि क्षमाश्रमणजी संभवतः कुमारिल के लघुसमकालीन थे। यदि हमारी कल्पना सत्य हो तो उन्हें अकलंक का भी समकालीन मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में यह निर्णय कर सकना शक्य नहीं है कि अमुक ने अमुक का अनुसरण किया है। समकालीन होने के कारण, यह भी संभव हो सकता है कि किसी स्रोत से दोनों ने एकसी विचारधारा ली हो और वह परस्पर में मेल खागई हो? उदाहरण के लिये सिद्धसेन दिवाकर को ही ले लीजिये। दिवाकर जी के सन्मतितर्क का दोनों ने ही मनन किया है और उसके षड्नयवाद के दृष्टिकोण को दोनों ने ही अपनाया है। परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाद के सिद्धान्त को दोनों ने ही नहीं अपनाया। अन्तर केवल इतना ही है कि आगमिक होने के कारण क्षमाश्रमणजी सिद्धसेन की आगमविरुद्ध मान्यता का विरोध करने से अपने को न रोक सके, किन्तु तार्किक अकलंक ने अपने पूर्वज तार्किकबन्धु के विरोध में एक भी शब्द नहीं लिखा।

हरिभद्र और अकलङ्क—हरिभद्र सूरि के दार्शनिक प्रकरणों पर अकलङ्क का प्रभाव प्रतीत होता है। उनकी अनेकान्तजयपताका और अकलङ्क के राजवार्तिक के कई स्थल परस्पर में मेल खाते हैं। बौद्धों के प्रत्यक्ष[1] के लक्षण 'कल्पनापोढ़' के निराकरण की शैली और भाव में राजवार्तिक में विहित निराकरण की स्पष्ट झलक है। तथा, अकलङ्क की अष्टशती का भी अनुसरण उसमें पाया जाता है। एक स्थल[2] पर तो 'इति अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः' लिखकर अकलङ्कन्याय का स्पष्टतया उल्लेख किया है।

सिद्धसेनगणि और अकलंक—सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की अपनी टीका में अकलंक-देव के सिद्धविनिश्चय का तो उल्लेख किया ही है, किन्तु उनके राजवार्तिक के कई दार्शनिक मन्तव्यों को भी स्थान दिया है। इसके लिये गणिजी की टीका का पाँचवां अध्याय देखना चाहिए। सूत्र ५–२४ की व्याख्या में अकलंकदेव ने प्रतिबिम्ब का विचार किया है, गणिजी ने भी उसी स्थल पर उसकी चर्चा की है। राजवार्तिक में 'लौकान्तिकानाम्' (४-४२) इत्यादि सूत्र की व्याख्या में सप्तभंगी का वर्णन करते हुए काल, आत्मा आदि की जो चर्चा की है, गणिजी ने भी ५–३१ की व्याख्या में उसे थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ सम्मिलित कर लिया है[3]। तथा ४–४२ सूत्र की ही व्याख्या के अन्त में अकलंकदेव ने विकलादेश में सप्त-भंगी का प्रतिपादन करते हुए जो प्रचित और अप्रचित तथा अर्थनय और शब्दनय का उल्लेख

१ अनेकान्तजय० पृ० २०२ और राजवा० पृ० ३९। २ अष्टसहस्री पृ० ११९ और अने० ज० प० पृ० १२१। ३ अने० ज० प० पृ० २५३।

करते हुए नययोजना की है, ५-३१ की व्याख्या में गणिजी ने वह सब सम्मिलित कर ली है। अतः गणिजी ने भी अकलंक के दार्शनिक रूप का अनुसरण किया है।

विद्यानन्द और अकलंक—अकलंक के अन्यतम टीकाकार स्वामी विद्यानन्द पर अकलंक का इतना अधिक प्रभाव है कि कुछ विद्वान् उन्हें उनका साक्षात् शिष्य समझते हैं। ऐतिहासिक खोज से विद्यानन्द अकलंक के साक्षात् शिष्य तो प्रमाणित नहीं होते किन्तु उनके ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक की यह धारणा अवश्य हो जाती है कि विद्यानन्द ने अकलंक को अपना आदर्श बनाया है, तथा उन्हीं के निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर अपनी प्राञ्जलबुद्धि की सहायता से अकलङ्कन्याय को खूब पल्लवित और पुष्पित किया है। अकलंक के अस्त के बाद, दार्शनिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ तथा मौलिक तत्त्व आविर्भूत हुए, उनका समीकरण और परिमार्जन विद्यानन्द ने किया है। उनकी अष्टसहस्री तो अकलंक की अष्टशती का ही विशद विवेचन है। उनकी प्रमाणपरीक्षा अकलंक के प्रमाणविषयक प्रकरणों के आधार पर रची गई है। उसमें प्रतिपादित सम्यक्ज्ञान के प्रमाणत्व की व्यवस्था, प्रमाण के प्रत्यक्ष, परोक्ष भेद प्रत्यक्ष के इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय भेद, परोक्ष प्रमाणों की चर्चा, प्रमाण का विषय, फल आदि सभी बातें अकलंक के लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय से सम्बद्ध हैं। केवल इतना अन्तर है कि विद्यानन्द ने अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के विकल और सकल भेद करके अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों को भी गर्भित कर लिया है। अकलंकदेव ने अपने प्रमाणसंग्रह में हेतु के बहुत से भेद किये हैं। विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में भी विधिसाधक और प्रतिषेधसाधक हेतुओं के भेद बहुत ही सुन्दर रीति से क्रमवार दर्शाये हैं और अन्त में कुछ संग्रहश्लोक प्रमाणरूप से उद्धृत किये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हेतु के भेद-प्रभेदों का आधार संभवतः अकलङ्क का प्रमाणसंग्रह न होकर उक्त संग्रहश्लोक हैं।

विद्यानन्द का तीसरा महत्त्वशाली ग्रन्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भी अकलंक की मुद्रा से अङ्कित है। न्यायविनिश्चय की अनेक कारिकाएँ उसके मूल भाग को सुशोभित करती हैं। अकलंक के कई मन्तव्यों की उसमें आलोचना भी की गई है। अकलंक के दो महत्त्वपूर्ण मन्तव्यों—शब्दयोजनासहित ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं और शब्दयोजना से पहले मति स्मृति आदि ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं—की विवेचना और उनका स्पष्टीकरण विद्यानन्द के[1] श्लोकवार्तिक में ही दृष्टिगोचर होता है। चतुरंगवाद, जय-पराजयव्यवस्था तथा जाति आदि का निरूपण भी 'अकलंकोक्तलक्षणा' 'अकलंककथितो जयः' 'ज्ञेयमकलंकावबोधने' आदि लिखकर अकलङ्क के द्वारा निर्णीत दिशा के आधार पर ही किया गया है।

माणिक्यनन्दि और अकलंक—आचार्य माणिक्यनन्दि का 'परीक्षामुख' नाम से एक सूत्रग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि अकलंक के वचनसमुद्र का मथन करके उन्होंने इस न्याय-अमृत का उद्धार किया था। इस सूत्रग्रन्थ में ६ उद्देश हैं—प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनन्दि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपरव्यवसायि ज्ञान' था, किन्तु उन्होंने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके स्वापूर्वार्थव्यवसायि ज्ञान को प्रमाण निर्धारित किया। कुछ ग्रन्थों में मीमांसक के नाम से निम्नलिखित कारिका उद्धृत पाई जाती है—

१ पृ० २३९। २ "अकलंकवचोम्भोधेरुद्ध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥" प्रमेयरत्नमाला।

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

इसमें अपूर्वार्थ के ज्ञान को प्रमाण माना है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट की श्लोकवार्तिक में उक्त कारिका नहीं मिलती, अतः यह अनुमान किया जाता है कि यह कारिका कुमारिल के किसी वृहट्टीका नामक ग्रंथ की है। अकलंकदेव ने भी प्रमाण को 'अनधिगतार्थग्राही' लिखा है अतः परीक्षामुखकार ने प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' पद का समावेश करते समय अकलंक के शब्दों का भी ध्यान रखा है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अपूर्व की परिभाषा 'अनिश्चित' की है।

माणिक्यनन्दि ने अपने सूत्रग्रन्थ को केवल न्यायशास्त्र की दृष्टि से ही संकलित किया है। अतः उसमें आगमिक परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले अवग्रहादि ज्ञानों का समावेश नहीं किया और आगमिक श्रुतप्रमाण को आगम नाम देकर—जैसा कि अकलङ्क ने अपने न्यायविनिश्चय में किया है—परोक्ष प्रमाण के भेदों में गिना दिया है। साध्य और साधन के लक्षण आदि भी अकलङ्कोक्त ही दिये गये हैं। विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि दोनों अकलङ्क के अनुयायी हैं, अतः दोनों के ग्रन्थों में साम्य होना अनिवार्य है। माणिक्यनन्दि ने अनुमान का लक्षण 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' किया है। विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा में भी यही लक्षण पाया जाता है। तथा श्लोकवार्तिक पृ० १९७ पर 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः' लिखा है। इस पर से डाक्टर पाठक लिखते हैं—"माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र के बीच में विद्यानन्द को रखना होगा, क्योंकि विद्यानन्द ने अष्टसहस्री पृ० १९७ में 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुः' करके परीक्षामुख के सूत्र ३–१४ का उल्लेख किया है।" अकलङ्क के न्यायविनिश्चय को न देख सकने के कारण ही डाक्टर पाठक को यह भी भ्रम हुआ है। श्लोकवार्तिक में (अष्टसहस्री में लिखना गलत है, अष्टसहस्री के उक्त पेज पर उक्त वाक्य नहीं है) उक्त कारिका अकलङ्क के न्यायविनिश्चय से ली गई है। माणिक्यनन्दि ने भी उसी के शब्दों को ज्यों का त्यों लेकर अनुमान की परिभाषा बनाई है। इन दोनों ग्रन्थकारों का पौर्वापर्य निर्णीत कर सकने की सामग्री अभी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

अकलङ्कन्याय के आधार पर परीक्षामुख का निर्माण किया गया, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु उसके निर्माण में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्रग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। तुलना के लिये कुछ सूत्र नीचे दिये जाते हैं—

न्यायप्रवेश	परीक्षामुख
१ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शंखशुक्तिवत्।	१ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शंखशुक्तिवत्।
२ माता मे वन्ध्या·····	२ माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽपि अगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत्।
३ वाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः।	३ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रति अग्निरत्र धूमात्। तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात्।
४ तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी	४ पक्ष इति यावत्। प्रसिद्धो धर्मी।

१ "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।" अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

२ देखो, 'अकलङ्क का समय' शीर्षक लेख, भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर की पत्रिका; जिल्द १३ पृ० १५७।

न्यायबिन्दु	परीक्षामुख
१ अनुमानं द्विधा ।	१ तदनुमानं द्वेधा ।
२ स्वार्थं परार्थं च ।	२ स्वार्थ–परार्थभेदात् ।
३ नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावात् ।	३ नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निः, धूमानुपलब्धेः ।
४ नात्र शिंशपा, वृक्षाभावात् ।	४ नास्त्यत्र शिंशपा, वृक्षानुपलब्धेः ।
५ नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, धूमात् ।	५ नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, धूमात् ।

वार्तिककार और अकलंक—श्वेताम्बरसम्प्रदाय में जैनतर्कवार्तिक के नाम से एक वार्तिक-ग्रन्थ पाया जाता है। उस पर शान्तिसूरि की वृत्ति है। पहली कारिका में ग्रन्थकार ने 'सिद्धसेनार्कसूत्रितम्' पद के द्वारा सिद्धसेनदिवाकर के सूत्र संभवतः न्यायावतार का निर्देश किया है, क्योंकि वार्तिक की दूसरी कारिका न्यायावतार की ही प्रथम कारिका है। ग्रन्थकार के प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार उसके आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। किन्तु ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि न्यायावतार के आधार पर ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है किन्तु अकलङ्क के प्रकरणों का उस पर काफी प्रभाव है। तथा ग्रन्थकार ने उनके मत की आलोचना भी की है। नीचे के उद्धरणों से वार्तिकों पर अकलङ्क का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है—

"सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा" यह वार्तिक लघीयस्त्रय के "*उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्। तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्॥*" वार्तिक का आशय लेकर ही बनाई गई है। न्यायविनिश्चय में प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हुए लिखा है—

"*द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।*"

इसी को लेकर वार्तिककार लिखते हैं—

"*द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः।*"

अकलङ्क ने लिखा है—

"*भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते प्रादुर्भावात्ययौ यदि।*
अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित्॥" न्या० वि०

वार्तिककार लिखते हैं—

"*भेदज्ञानात्प्रतीयन्ते यथा भेदाःपरिस्फुटम्।*
तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः॥"

सिद्धिविनिश्चय में अकलङ्क लिखते हैं—

"*असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।*
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने॥"

---

१ किन्हीं का मत है कि वार्तिक भी वृत्तिकार की ही बनाई हुई हैं। किन्तु बड़ौदा से प्रकाशित पाटन के कैटलॉग में वार्तिक के आगे कर्ता का नाम नहीं दिया है।

इसमें देवनन्दि के स्थान पर श्वेताम्बराचार्य मल्लवादि का नाम बदल कर वार्तिककार ने इस कारिका को ज्यों का त्यों अपना लिया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वार्तिक की रचना में अकलङ्क के प्रकरणों से बहुत कुछ लिया गया है। प्रमाणसंग्रह में प्रमाणों की चर्चा प्रारम्भ करते हुए अकलंक ने लिखा है—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः।"

"प्रत्यक्षं विशदज्ञानम्—तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम्, अनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षम्, त्रिधा श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि—स्मरणपूर्वकं हिता-हितप्राप्तिपरिहारसमर्थम्, द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः प्रतिभासभेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः।"

वार्तिककार लिखते हैं—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेन्द्रियमनिन्द्रियम्।
योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्॥"

वार्तिककार ने अकलङ्क के अनुसार विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके तीन भेद किये हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और योगज (अतीन्द्रिय)। इस कारिका की वृत्ति में वैशद्य का विवेचन करते हुए शान्तिसूरि ने अकलङ्क का खण्डन किया है। प्रमाणसंग्रह की उक्त कारिका के मध्य में स्थित त्रिधा शब्द की अनुवृत्ति प्रत्यक्ष में भी होती है और श्रुत में भी। अतः प्रत्यक्ष की तरह श्रुत के भी तीन भेद अकलङ्क ने माने हैं—प्रत्यक्षनिमित्तक, अनुमान-निमित्तक और आगमनिमित्तक। शान्तिसूरि ने उनकी भी आलोचना की है। क्यों कि वार्तिककार ने परोक्ष के दो ही भेद किये हैं—एक लिङ्गजन्य और दूसरा शब्दजन्य। तथा—"लैङ्गिकं प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते।" लिखकर अकलंक के मत का उल्लेख किया है। इसकी वृत्ति में 'अन्ये' पद का अर्थ 'समानतंत्राः' किया है; और प्रमाणसंग्रह की कारिका के दो चरण "परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि, त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।" उद्धृत किये हैं। आगे की कारिकाओं में परोपदेशजन्य ज्ञान को श्रुत और शेष को मति, तथा प्रत्यभिज्ञादि को परोक्ष लिख-कर श्रुत के तीन भेदों को वार्तिककार ने भी अयुक्त बतलाया है[1]। इस प्रकार इस वार्तिक ग्रन्थ की रचना अकलङ्क के प्रकरणों के आधार पर ही हुई है और वार्तिककार श्रुत के तीन भेदों के सिवा अकलंक के द्वारा निर्धारित की गई शेष व्यवस्था के समर्थक और अनुसर्ता हैं।

वादिराज और अकलंक—यों तो वादिराज ने अकलंक के न्यायविनिश्चय पर विस्तृत व्याख्यानग्रन्थ लिखा है, किन्तु 'प्रमाणनिर्णय' नाम से उनका एक स्वतंत्र प्रकरण भी है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि 'देव' के मत का संक्षिप्त दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। इस ग्रन्थ में परोक्ष के दो भेद किये हैं—एक अनुमान और दूसरा आगम, तथा अनुमान के गौण और मुख्य भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को गौण अनुमान स्वीकार किया है। अनुमान के भेदों की यह परम्परा बिल्कुल नूतन प्रतीत होती है और अन्य किसी ग्रन्थ में इसका इतना स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। किन्तु यह स्वयं वादि-

१ "परोपदेशजं श्रौतं मतिः शेषं जगुर्जिनाः। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत्।" पृ० १३२।
२ पृ० ३३।

राज की कल्पना नहीं है, अकलङ्क के न्यायविनिश्चय के आधार पर ही इसकी सृष्टि की गई है। हम लिख आये हैं कि न्यायविनिश्चय में केवल तीन ही प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। अनुमानप्रस्ताव में ही उसके अंगरूप से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का वर्णन किया गया है। वादिराज ने भी उन्हें अनुमान बतलाते हुए लिखा है कि उत्तरोत्तर कारण होते हुए अनुमान के निमित्त होने से ये तीनों अनुमान कहे जाते हैं।

अभयदेव और अकलङ्क—सन्मतितर्क[1] के टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी अकलङ्क को अपनाया है। प्रत्यक्ष के भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को बतलाकर लघीयस्त्रय के 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' का अनुसरण करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञानों को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञानों को उनका फल बतलाया है। तथा 'शब्दयोजनानिरपेक्ष ज्ञान को मति और शब्दयोजनासापेक्ष को श्रुत कहते हैं' अकलङ्क के इस मत के किसी अनुयायी के शब्दों का उल्लेख करके अकलङ्क के प्रसिद्ध मत का निर्देश किया है। अन्त में जयपराजय की व्यवस्था भी अकलङ्कोक्तदिशा के आधार पर ही की गई है।

हेमचन्द्र और अकलङ्क—प्रमाणमीमांसा नामक सूत्रग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए हेमचन्द्रने किसी के द्वारा उपपत्ति कराते हुए लिखा है कि अकलङ्क धर्मकीर्ति आदि की तरह प्रकरणग्रन्थ क्यों नहीं रचते हो? इत्यादि। प्रमाणमीमांसा में प्रत्यक्ष का लक्षण, उसके भेद, अवग्रहादि ज्ञानों में प्रमाणफलव्यवस्था, अनुमान का लक्षण आदि अनेक बातें अकलंकन्याय के अनुसार दर्शाई गई हैं। प्रत्यभिज्ञान के प्रकरण में लघीयस्त्रय की दो कारिकाएँ[2] भी उद्धृत की गई हैं तथा अन्त में जय-पराजयव्यवस्था भी अकलंकोक्तदिशा के आधार पर ही निर्धारित की है।

वादिदेव और अकलङ्क—अकलङ्क के अनुयायी माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र के ही आधार पर वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्रग्रन्थ की रचना की है और स्याद्वादरत्नाकर के नाम से उस पर एक बृहद् टीकाग्रन्थ लिखा है। इस टीकाग्रन्थ में प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप और भेद बतलाते हुए लघीयस्त्रय से दो कारिकाएँ[3] उद्धृत की हैं। तथा 'यदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये' करके सिद्धिविनिश्चय से एक पंक्ति[4] उद्धृत की है। तथा अन्त में जय पराजय की व्यवस्था करते हुए प्रमाणरूप से अकलङ्क के कुछ शब्द[5] उद्धृत किये हैं, जो संभवतः उनके किसी वृत्तिग्रन्थ के हो सकते हैं। इसी प्रकरण में 'अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्' लिखकर निम्नलिखित कारिका[6] उद्धृत की है—

"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते॥"

यह कारिका या इसका पूर्वार्द्ध तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, न्यायविनिश्चयविवरण, सन्मतितर्कटीका तथा प्रमाणमीमांसा में भी उद्धृत है। किन्तु अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में अभी इस कारिका का पता नहीं लग सका है। संभव है यह कारिका सिद्धिविनिश्चय की हो। इस प्रकार वादिदेवसूरि ने भी अकलङ्क का अनुसरण करके अकलङ्कन्याय को समृद्ध किया है।

---

१ सन्मति० टी०, पृ० ५५३। २ का० १९, २१। ३ प्र० मी० पृ० ५३। ४ का० १९, २१। ५ पृ० ४९८। ६ पृ० ६४१। ७ पृ० ११३७। ८ पृ० ११४१।

विमलदास और अकलङ्क—विमलदास नाम के एक ग्रन्थकार ने सप्तभंगीतरंगिणी नामक एक सुन्दर प्रबन्ध लिखा है। इस प्रबन्ध की रचना भी अधिकतर अकलङ्कदेव के राजवार्तिक नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित सप्तभंगी का आश्रय लेकर ही की गई है। सप्तभंगी का लक्षण, काल, आत्मा आदि की अपेक्षा से भेदाभेद, स्व और पर का विभाजन, अनेकान्त में छल, संशय आदि दोषों का निराकरण आदि बातें राजवार्तिक से ली गई हैं। लघीयस्त्रय से थोड़े से परिवर्तन के साथ एक कारिका भी उद्धृत की है।

धर्मभूषण और अकलङ्क—धर्मभूषण की न्यायदीपिका भी अकलङ्कन्याय का ही प्रदीपन करती है। 'तदाहुर्वार्तिककारपादाः,' 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये,' 'यद्राजवार्तिकम्' आदि लिखकर स्थान स्थान पर अकलङ्क के प्रकरणों से प्रमाण उद्धृत किये हैं।

यशोविजय और अकलङ्क—उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी अगाध विद्वत्ता से अकलङ्कन्याय को खूब समृद्ध बनाया है। उनके प्रकरणों पर अकलङ्क का काफी प्रभाव है। नयरहस्य में उन्होंने नय के अकलङ्कोक्तलक्षण 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' का उल्लेख किया है। तथा जैनतर्कभाषा में प्रमाणों का विवेचन अकलङ्क के द्वारा स्थापित की गई शैली के अनुसार ही किया है। वैशद्य की परिभाषा भी अकलङ्कोक्त ही ली गई है। निक्षेपों का विवेचन करते हुए लघीयस्त्रय की विवृति से एक वाक्य भी उद्धृत किया है।

अकलङ्क और जैनेतर ग्रन्थकार

पतञ्जलि और अकलङ्क—तत्त्वार्थराजवार्तिक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि की शैली भी अकलङ्क को प्रिय थी। उन्होंने अपने राजवार्तिक में पतञ्जलि के मत की आलोचना करके उसमें अनेकान्त को घटित किया है। साथ ही साथ स्थान स्थान पर महाभाष्य से अनेक उदाहरण और पङ्क्तियां भी ली हैं। यथा—

"न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते"। महाभा०पृ० २८०

"तद्यथा—कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ? अदो यत्रासौ काकः, इति उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति।" महा० पृ० २८६।

वसुबन्धु और अकलंक—बौद्धाचार्य वसुबन्धु का प्रभाव तो अकलंक के प्रकरणों पर प्रतीत नहीं होता। इसका कारण है। अकलंक के पूर्वज दिङ्नाग और समकालीन धर्मकीर्ति ने न्यायशास्त्र का बहुत विकास किया था और उनके समय में उसी विकसित रूप का राज्य था। अतः इन दोनों आचार्यों की रचनाओं ने ही अकलंक को विशेषतया प्रभावित किया है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि वसुबन्धु के ग्रन्थों को उन्होंने देखा था। एक दो स्थल पर वसबन्धु के अभिधर्मकोश से उन्होंने प्रमाण उद्धृत किये हैं।

---

१ सप्तभंगी० पृ० ३१। २ देखो 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके' वार्तिक का व्याख्यान—राज० पृ० २३। और 'इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथालोके', का व्याख्यान—महाभाष्य पृ० २७५-२७७। ३ राजवा० पृ० ३९, २२१।

दिङ्नाग और अकलंक—दिङ्नाग का साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया है, इसलिये उनका अकलंक के प्रकरणों पर कैसा और कितना प्रभाव है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति को हृदयङ्गम करते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता कि बौद्धदर्शन के प्रतिष्ठाता महामति दिङ्नाग के प्रभाव से अकलंक का व्यक्तित्व अछूता रहा होगा। दिङ्नाग के प्रमुख ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय से उन्होंने एक कारिका उद्धृत की है और लघीयस्त्रय की विवृति में 'अपरे' करके एक मत का उल्लेख किया है जिसे प्रभाचन्द्र दिङ्नाग का मत बतलाते हैं।

धर्मकीर्ति और अकलंक—इतर दार्शनिकों में से जिसने अकलंक को सब से अधिक प्रभावित किया वह उनका समकालीन बौद्धनैयायिक धर्मकीर्ति था। अकलंक ने धर्मकीर्ति के प्रायः सभी ग्रन्थों का आलोडन किया था और उनकी शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना की थी। धर्मकीर्ति के प्रकरणों में प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रमाणवार्तिक तो अभी अभी प्रकाश में आया है किन्तु प्रमाणविनिश्चय के दर्शन का अवसर अभी नहीं आया। मालूम हुआ है कि प्रमाणविनिश्चय की रचना गद्य पद्यात्मक है तथा उसका बहुभाग प्रमाणवार्तिक से लिया गया है। धर्मकीर्ति के इन प्रकरणों के प्रकाश में अकलंक के प्रकरणों का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि अकलंक का प्रमाणसंग्रह भी गद्यपद्यात्मक है तथा उसकी बहुत सी कारिकाएँ न्यायविनिश्चय से ली गई हैं। 'न्यायविनिश्चय' नाम सुनकर धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण हो आता है। प्रमाणविनिश्चय में तीन परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाणवार्तिक के देखने से प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद शास्त्र का प्रयोजन बतलाने के लिये एक पद्य देते हैं। अकलंक के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय में भी हम ऐसा ही देखते हैं। न्यायविनिश्चय के परिचय में हम लिख आये हैं कि न्यायविनिश्चय की कुछ कारिकाओं को टीकाकार संग्रहश्लोक और कुछ को अन्तरश्लोक बतलाता है। मुद्रित प्रमाणवार्तिक में भी हम ऐसा ही पाते हैं। न्यायविनिश्चय के टीकाकार की परिभाषा के अनुसार अन्तरश्लोक वृत्ति के मध्यगत होते हैं और संग्रहश्लोकों में वृत्ति में वर्णित मुख्य मुख्य बातों का संग्रह रहता है। तब क्या धर्मकीर्ति ने पूरी प्रमाणवार्तिक पर वृत्ति रची थी? अभी तक तो यही सुना जाता है कि उन्होंने केवल पहले ही परिच्छेद की वृत्ति बनाई थी और शेष तीन परिच्छेद अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि को सौंप दिये थे।

धर्मकीर्ति और अकलंक की शैली की इस संक्षिप्त तुलना से पाठक अकलंक पर धर्मकीर्ति के बाहिरी प्रभाव का अनुमान कर सकते हैं। अब आभ्यन्तर प्रभाव को बतलाने का प्रयास करते हैं। नीचे कुछ कारिकाएँ दी जाती हैं जो धर्मकीर्ति के मत के आलोचनार्थ रची गई हैं। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में, अनेकान्त के खण्डन में कुछ कारिकाएँ लिखी हैं। न्यायविनिश्चय में अकलंक ने उन सब का ही मखोल उड़ाया है। धर्मकीर्ति लिखते हैं—

---

१ राजवा० पृ० ३८। २ न्यायकु० च० पृ० ६६। ३ बुद्धिस्ट लॉजिक (चिरविट्स्की)

"एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतीक्षिसं तदप्येकान्तसंभवात् ॥ १-१८२ ॥"

इस कारिका में अनेकान्तवादियों के कथन को यत्किञ्चित् , अश्लील, आकुल और प्रलाप बतलाया है। उन्हीं शब्दों में उत्तर देते हुए अकलंक लिखते हैं—

"ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम् ,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित् ,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलासः ॥१-१७० ॥"

इसे ही कहते हैं जैसे को तैसा। धर्मकीर्ति पुनः लिखते हैं—

"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥ १-१८३ ॥"

अर्थात्—"यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और किसी में कोई वैशिष्ट्य नहीं है तो दही खाने के लिये प्रेरित किया गया मनुष्य ऊँट की ओर क्यों नहीं लपकता है ?"

धर्मकीर्ति के इस आक्षेप को अकलंक असत् उत्तर कहते हैं और इसी से पूर्वपक्ष अनेकान्त को बिना समझे बूझे धर्मकीर्ति ने जो परिहास किया है उसे 'जाति' का उदाहरण बतलाते हुए लिखते हैं—

"तत्र मिथ्योत्तरं जातिर्यथानेकान्तविद्विषाम् ।
दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ॥२०२॥
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ।"

पुनः कहते हैं—

"सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥ २०३ ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ? ॥ २०४ ॥" द्वि० प्र०

धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ॥ ३-१२३ ॥"

अकलंक कहते हैं—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ॥ १-१४९ ॥"

धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकास्मिन्नयोगतः ॥ १-९१ ॥"

अकलंक उत्तर देते हैं—

"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात् ॥ १-१२१ ॥"

धर्मकीर्ति दो निग्रहस्थान मानते हैं—असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन। वादन्याय का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

"असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तामिति नेष्यते ॥"

अकलंक इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥२-२०८॥"

प्रमाणविनिश्चय में धर्मकीर्ति लिखते हैं—

"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।"

अकलंक उसका खण्डन करते हैं—

"सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः ।"

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मकीर्ति के प्रकरणों की अकलंक ने खूब आलोचना की है। क्वचित् क्वचित् ऐसे स्थल भी दृष्टिगोचर होते हैं जहाँ अकलंक ने धर्मकीर्ति की युक्तियों को अपनाया है। जैसे, जन्मान्तरसिद्धि के प्रकरण में धर्मकीर्ति ने लिखा है—

"अविकृत्य हि यद्वस्तु यः पदार्थो विकार्यते ।
उपादानं न तत्तस्य युक्तं गोगवयादिवत् ॥ ६१ ॥
बुद्धिव्यापारभेदेन निर्ह्रासातिशयावपि ।
प्रज्ञादेर्भवतो देहानिर्ह्रासातिशयैर्विना ॥ ७३ ॥" प्रमा० वा० १ परि० ।

अकलंक भी लिखते हैं—

"प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।
निर्ह्रासातिशयाभावान्निर्ह्रासातिशये धियः ॥ २-७३ ॥"

बौद्ध अवयवी को नहीं मानते। अतः अवयवी का खण्डन करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है कि यदि कोई एक अवयवी है तो उसके एक देश में कम्पन होने से पूर्ण अवयवी में कम्पन होना चाहिये। एक देश में आवरण होने से पूरा अवयवी आवृत और अनावृत होने से अनावृत होना चाहिये। यथा—

"पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः ।
× × ×
एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ ।
दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः ।"

इन्हीं युक्तियों से अनेकान्त का समर्थन करते हुए अकलंक लिखते हैं—

"एक चलं चलैर्नान्यैर्नष्टैर्नष्टं न चापरैः ।
आवृतमावृतैर्भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥ २-१०१ ॥"

उक्त तुलना से स्पष्ट है कि अकलंक ने धर्मकीर्ति का अच्छा अध्ययन किया था और उनकी ही शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना करके धर्मकीर्ति के प्रायः सभी मुख्य मुख्य मन्तव्यों की आलोचना की थी।

भर्तृहरि और अकलंक—धर्मकीर्ति के ही समय में प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि हो गये हैं। ये शब्दाद्वैतवादी थे। इनका रचा वाक्यपदीय ही इस समय इस मत का मूलग्रन्थ माना जाता है। शब्दाद्वैतवादियों का मत है कि शब्दब्रह्म ही परम तत्त्व है, अविद्यावासना के कारण भेद को प्राप्त होकर वही अर्थरूप में विभाजित होता है। वस्तुतः वाचक से भिन्न वाच्य है ही नहीं। ज्ञान भी शब्दात्मक ही है। जैसा कि लिखा है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।
अनुविद्धामिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ १-१२४॥" वा० प०

अर्थात् "लोक में ऐसा कोई ज्ञान ही नहीं है जो शब्दसंसर्ग के बिना हो सके। सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही भासते हैं।"

अकलंक के न्याय का परिचय कराते समय हम लिख आये हैं कि अकलंक ने शब्दसंश्लिष्ट ज्ञान को श्रुत और शब्दसंसर्ग से रहित इन्द्रियज्ञान को मति निर्धारित किया था। किन्तु यह बात आगमिक परम्परा के विरुद्ध थी क्योंकि जैन शास्त्रों में श्रुतज्ञान का सम्बन्ध केवल कर्णेन्द्रिय से ही नहीं बतलाया है बल्कि शेष चार इन्द्रियों से भी बतलाया है। इस लिए आचार्य विद्यानंन्द को अकलंक के उक्त मत में आशङ्का प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि अकलङ्क जैसे समन्वयकर्ता से उन्हें यह आशा नहीं हो सकती थी कि वे बिना किसी हेतु के पुरानी व्याख्या में सुधार कर सकते हैं। आशङ्का का समाधान करते हुए अकलंक के वेत्ता विद्यानन्द ने ज्ञानों को दो भागों में विभाजित करने की अकलङ्क की दृष्टि को पहचान ही तो लिया। भर्तृहरि की उक्त कारिका को उद्धृत करके वे लिखते हैं कि 'शब्द संसर्ग के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता' इस एकान्तवाद का निराकरण करने के लिये ही अकलंक ने ज्ञान के दो विभाग किये थे। उनका कहना था कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ज्ञान शब्दसंश्लिष्ट ही हो, शब्दसंसर्ग के बिना भी ज्ञान होता है।

अन्य वैयाकरणों की तरह भर्तृहरि भी स्फोटवादी थे। स्फोटवादियों का मत है कि क्षणिक होने के कारण ध्वनि से अर्थ का बोध नहीं हो सकता, अतः ध्वनि नित्य शब्दात्मा को अभिव्यक्ति करती है और उससे अर्थबोध होता है। उसी अभिव्यङ्ग्य शब्दात्मा को स्फोट कहते हैं। भर्तृहरि ने इस अभिव्यक्तिवाद में तीन मत बतलाये हैं। यथा—

"इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥ ७९॥"

अर्थात् "कुछ अभिव्यक्तिवादियों का मत है कि ध्वनि इन्द्रियों का ही संस्कार करती है, कुछ का मत है कि शब्द का ही संस्कार करती है, और कुछ का कहना है कि उभय का संस्कार करती है।"

---

१ त० श्लोकवार्तिक पृ० २३९–२४०

स्फोटवाद का खण्डन करते हुए अकलंक ने उक्त तीनों पक्षों की आलोचना की है। और भर्तृहरि ने पृथिवी की गन्ध के लिये उदक और आंख के लिये अंजन का जो दृष्टान्त दिया है उनका भी उल्लेख किया है। तथा एक अन्य प्रकरण में वाक्यपदीय की एक कारिका भी उद्धृत की है।

कुमारिल और अकलंक—कुमारिल के सम्बन्ध में डाक्टर के० बी० पाठक का विशाल अध्ययन था। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई खोजपूर्ण निबन्ध लिखे थे। उनका प्रसिद्ध निबन्ध 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु 'कुमारिल की कारिकाएँ जैन और बौद्ध मत पर आक्रमण करती हैं' तथा 'समन्तभद्र और अकलंक पर कुमारिल के आक्रमण का उल्लेख शान्तरक्षित करता है' शीर्षक उनके अन्य दो लेख हमें पढ़ने को मिले और 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' शीर्षक निबन्ध के कुछ नोट्स भी पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार की कृपा से प्राप्त हो सके, जो उन्होंने अपने दृष्टिकोण से लिये थे। अपने इन लेखों में डाक्टर पाठक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने कटाक्ष किया है, और यतः अकलंक का अवसान कुमारिल से पहले हुआ और कुमारिल उनके बाद भी जीवित रहे, अतः अकलंक को कुमारिल के आक्षेपों के निराकरण करने का अवसर नहीं मिला। अकलंक के पश्चात् उनके शिष्य विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने यह कार्य किया।

समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की पहली कारिका की विवृति में अकलंक ने लिखा है—"आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन्, नास्मदादयः, तादृशो मायाविष्वपि भावात्, इत्यागमाश्रयः।"

अर्थात्—"आज्ञाप्रधान पुरुष ही देवताओं के आगमन वगैरह को परमात्मपद का चिह्न मान सकते हैं, किन्तु हमारे सरीखे परीक्षाप्रधान इन बातों को परमात्मत्व का चिह्न नहीं मान सकते, क्यों कि ये बातें तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं। अतः देवागमन, आकाश में गमन आदि हेतुओं के आधार पर *जिनेन्द्र को परमात्मा कहना आगमसङ्गत* हो सकता है, किन्तु युक्तिसंगत नहीं हो सकता।"

उधर जैनों के केवलज्ञान का खण्डन करते हुए कुमारिल लिखते हैं—

"एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥ १४१ ॥
नतैं तदागमात्सिध्येन्न च तेनागमो विना।
दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते ॥ १४२ ॥"

अर्थात्—"कुछ वादियों ने जीव के केवलज्ञान माना है। यह ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा से नहीं होता और सूक्ष्म, अतीत आदि विषयों को जानता है। किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं

---

१ राजवार्तिक पृ० २३१। २ वाक्यपदीय १-८०, ८१। ३ राजवा० पृ० ४०। ४ 'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।' २-२३५। ५ भ० प्रा० वि० की पत्रिका, जिल्द १२, पे० १२३-१३१। ६ भ० प्रा० वि० पत्रिका जि० ११ पे० १५५ से।

है क्यों कि इस प्रकार का ज्ञान आगम प्रमाण से सम्बन्ध रखता है। अतः आगम का प्रामाण्य सिद्ध हो तो उक्त ज्ञान या उसका धारक सर्वज्ञ सिद्ध हो, और सर्वज्ञ सिद्ध हो तो आगम का प्रामाण्य सिद्ध हो। अतः इतरेतराश्रय होने के कारण दोनों में से किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती।"

डाक्टर के० बी० पाठक का कहना है कि अकलंक की उक्त अष्टशती पर ही आक्षेप करते हुए कुमारिल ने इतरेतराश्रय दोष दिया है। अकलंक कहते हैं कि इस प्रकार का स्तवन आगमाश्रय है। उस पर कटाक्ष करते हुए कुमारिल कहते हैं कि केवल इस प्रकार का स्तवन ही आगमाश्रय नहीं है किन्तु किसी को सर्वज्ञ मानना भी आगमाश्रय ही है। डाक्टर पाठक की इस धारणा के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले हम उनका यह भ्रम दूर कर देना आवश्यक समझते हैं कि अकलंक ने इस आक्षेप का उत्तर नहीं दिया। हम पहले लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक को अकलंक के न्यायविनिश्चय को देखने का अवसर नहीं मिला। न्यायविनिश्चय के तीसरे प्रस्ताव में कुमारिल के उक्त आक्षेप का ही समाधान नहीं है किन्तु कुमारिल की उक्त कारिका भी परिवर्तन के साथ मौजूद है। अकलंक लिखते हैं—

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानाविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेन विनागमः॥ २६॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥ २७॥"

अर्थात्—"आगम में उपदिष्ट सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास के बिना केवलज्ञान की सिद्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती और केवलज्ञान के बिना आगम की सिद्धि (निष्पत्ति) नहीं हो सकती, यह बात सत्य है, क्यों कि आगमज्ञान के बल से ही पुरुष में केवलज्ञानादिरूप अतिशय प्रकट होता है और उस अतिशय से आगम का प्रभव होता है। सर्वज्ञ और आगम की सन्तान अनादि है।"

हमें दुःख है कि डाक्टर पाठक अब जीवित नहीं हैं। यदि वे होते और उन्हें अपने भ्रम का पता चलता तो कुमारिलविषयक अपनी खोज में उन्हें स्वयं परिवर्तन करने का अवसर मिल जाता।

डाक्टर पाठक लिखते हैं कि कुमारिल के उक्त आक्षेप का परिहार विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने किया है। विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ने कुमारिल की सर्वज्ञविरोधी कारिकाओं की खूब आलोचना की है, यह सत्य है। किन्तु कुमारिल के उक्त आक्षेप 'एवं यैः केवलज्ञान' आदि की प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में तो गन्ध तक भी नहीं है। हाँ, विद्यानन्द ने 'ततो यदुपहसनमकारि भट्टेन—एवं यैः केवलज्ञान···तदपि परिहृतम्' इतना अवश्य लिख दिया है।

श्लोकवार्तिक के जिस प्रकरण में उक्त कारिकाएं मौजूद हैं, उसका पूर्वापर आलोचन करने से मालूम होता है कि कुमारिल ने केवल जैनों की ही सर्वज्ञविषयक मान्यता को आगमाश्रय घोषित नहीं किया, किन्तु उन्होंने बौद्धों की मान्यता को भी 'एवमाद्युच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते' लिखकर श्रद्धापरक ही बतलाया है। उनका तो कहना यह है कि यदि कोई सर्वज्ञ

१ तत्वार्थश्लोक० पृ० २५३।

हो, तो भी जनसमूह उसकी सर्वज्ञता की प्रतीति किस प्रकार कर सकता है ? अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि को अशक्य बतलाकर कुमारिल आगम पर आते हैं। आगम के उन्होंने दो भेद किये हैं—एक अनित्यआगम और दूसरा नित्यआगम। अनित्यआगम का प्रत्याख्यान करके नित्यआगम का प्रत्याख्यान किया है। स्पष्टीकरण के लिये यहां कुछ कारिकाएं उद्धृत की जाती हैं—

"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येव तत्काले तु बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥१३४॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥१३५॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति। तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत्॥१३६॥
रागादिरहिते चास्मिन् नुर्व्यापारे व्यवस्थिते। देशनान्यप्रणीतैव स्यादृते प्रत्यवेक्षणात् ॥१३७॥
सान्निध्यमात्रतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव। निस्सरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥१३८॥
एवमाद्युच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते। कुड्यादिनिसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः॥१३९॥
किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद्दुरात्मभिः। अदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः॥१४०॥
एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥१४१॥
नतैं तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना। दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते ॥१४२॥
नित्यागमावबोधोऽपि प्रत्याख्येयोऽनया दिशा। न हि तत्रापि विस्रम्भो दृष्टोऽनेन कृतोऽथवा॥१४३॥
सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः। यथाद्यत्वे न विस्रम्भस्तथाऽतीतार्थकीर्तने ॥१४४॥"

चोदनासूत्र।

अतः डाक्टर पाठक की यह धारणा भी, कि कुमारिल ने अकलङ्क की अष्टशती के उक्त वाक्य पर आक्रमण किया है, असङ्गत प्रतीत होती है। क्योंकि अष्टशती के उक्त वाक्य और कुमारिल के कटाक्ष का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता, और न उससे वह आशय ही निकलता है जो डाक्टर पाठक निकालना चाहते हैं। अपौरुषेय वेदवाक्य को प्रामाण्य सिद्ध करते हुए कुमारिल सर्वज्ञवादियों के मत की आलोचना करते हैं और उसी सम्बन्ध में जैनों के केवलज्ञान को आगमाश्रित बतलाकर इतरेतराश्रय दोष देते हैं। जैनदर्शन में केवलज्ञान की मान्यता अति प्राचीन है। उसका सम्बन्ध न तो केवल अष्टशतीकार से ही है और न आप्तमीमांसाकार से, अतः उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुमारिल ने अमुक जैनाचार्य के मत पर आक्रमण किया है। उनका आक्रमण जैनों की सर्वज्ञ की मान्यता के मूल आधारभूत उस केवलज्ञान पर है, जिसका धारक सर्वज्ञ और जैन आगम का सर्जक कहा जाता है।

अकलङ्क ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक को देखा था, इस के समर्थन में एक अन्य भी प्रमाण मिलता है। कुमारिल के उक्त प्रकरण में एक कारिका इस प्रकार है—

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥ १३२ ॥"

"जिस सर्वज्ञ के सद्भाव का निराकरण करने के लिये प्रमेयत्व आदि हेतु मौजूद हैं उस सर्वज्ञ को कौन स्वीकार करेगा ?"

इसी की प्रतिध्वनि अकलङ्क के निम्न वाक्य से होती है–"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।" अर्थात्–"जहाँ प्रमेयत्व, सत्त्व आदि हेतु प्रकृत हेतु के स्वरूप का पोषण करते हैं, कोई चेतन उसका प्रतिषेध या उसके अस्तित्व में संशय कैसे कर सकता है?"

यद्यपि दोनों वाक्य ऐसी स्थिति में हैं कि यह निश्चय कर सकना अशक्य है कि कौन किसको उत्तर देता है। फिर भी अष्टशती का पर्यवेक्षण करने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि कुमारिल के कथन की प्रकारान्तर से प्रतिध्वनि अकलङ्क के वाक्य में गूँजती है। क्योंकि समन्तभद्र ने सर्वज्ञ की सिद्धि में 'अनुमेयत्व' हेतु दिया था। अकलङ्क ने प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतुओं को जो उसका समर्थक बतलाया है वह अकारण नहीं जान पड़ता। अवश्य ही उनकी दृष्टि में कुमारिल का उक्त वाक्य होगा और उसी का निराकरण करने के लिये उन्हें इन हेतुओं को 'अनुमेयत्व' का पोषक बतलाना पड़ा। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये 'वेदाध्ययनवाच्यत्व' हेतु का उपयोग किया है। अष्टशती में अकलङ्क ने उसका भी खण्डन किया है।

ऐसा मालूम होता है कि श्लोकवार्तिक से अतिरिक्त भी कुमारिल का कोई ग्रन्थ था या है जिसमें सर्वज्ञ का खण्डन किया गया है। क्योंकि सर्वज्ञ के खण्डन में जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों ने जो बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, वे श्लोकवार्तिक में नहीं मिलतीं किन्तु उनकी शैली कुमारिल के जैसी ही है। और कोई कोई उन्हें भट्ट के नाम से उद्धृत करते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह[1] में इस प्रकार की अनेक कारिकाएँ हैं। उन कारिकाओं में से पांच कारिकाएँ निम्नप्रकार हैं—

"नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि। साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥३२३०॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते। यत्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥३२३१॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धयै सर्वज्ञतोच्यते। न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३२३२॥
यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा। यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः॥३२३३॥
अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता। सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥३२३४॥"

'तदुक्तं भट्टेन' करके ये कारिकाएँ अष्टसहस्री[2] में भी उद्धृत हैं। स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञता का साधन करते हुए 'कस्यचित्' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् कोई पुरुष सर्वज्ञ है। इसी तरह अकलङ्क ने भी अर्हत् आदि को सर्वज्ञ सिद्ध न करके सामान्यतया ही सर्वज्ञ का साधन किया है। तत्त्वसंग्रह[3] के व्याख्याकार कमलशील ने उक्त कारिकाओं की उत्थानिका में लिखा है–"येऽपि मन्यन्ते–नास्माभिः शृङ्गग्राहिकया सर्वज्ञः प्रसाध्यते, किं तर्हि? सामान्येन सम्भवमात्रं प्रसाध्यते–अस्ति कोऽपि सर्वज्ञः, क्वचिद्वा सर्वज्ञत्वमस्ति, प्रज्ञादीनां प्रकर्षदर्शनात् इति, तान् प्रतीदमाह–'नर' इत्यादि।" इससे स्पष्ट है कि कुमारिल ने उक्त कारिकाएँ न केवल जैनों को लक्ष्य करके लिखी हैं बल्कि समन्तभद्र और संभवतः अकलङ्क को लक्ष्य करके लिखी हैं क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञविशेष की सिद्धि न करके सर्वज्ञसामान्य की सिद्धि की थी। डाक्टर

१ अष्टसहस्री पृ० ५८। २ अष्टसहस्री पृ० २३७। ३ देखो–अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषपरीक्षा। ४ पृ० ७५। ५ आप्तमीमांसा का० ५। ६ पृ० ८४१।

पाठक का भी यही मत है। अष्टसहस्रीकार ने इन कारिकाओं को सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष में उद्धृत न करके उस कारिका की व्याख्या में उद्धृत किया है जिसमें अर्हत् को ही सर्वज्ञ बतलाया है, और लिखा है कि भट्ट का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध बोलने के कारण अर्हत् ही सर्वज्ञ प्रमाणित होते हैं।

विद्यानन्द के इस लेख से भी कुमारिल का आक्षेप समन्तभद्र और संभवतः अकलङ्क के भी सामान्य सर्वज्ञसाधन पर ही प्रतीत होता है। यदि इस आक्षेप के भागी अकलङ्क भी हैं, जैसा कि डाक्टर पाठक का मत है, तो कहना होगा कि कुमारिल का वह ग्रन्थ जिसमें उक्त आक्षेप किये हैं श्लोकवार्तिक की रचना के बाद रचा गया था, और उसे अकलङ्क नहीं देख सके थे। यदि यह कल्पना सत्य हो तो डाक्टर पाठक का यह मत, कि कुमारिल अकलङ्क के बाद तक जीवित रहे थे, सङ्गत बैठ जाता है। किन्तु सिद्धिविनिश्चय की सर्वज्ञसिद्धि में आक्षिप्त मन्तव्यों को दृष्टि में रखते हुए हम इसे मानने के लिये तैयार नहीं है। इस लम्बी चर्चा से स्पष्ट है कि कुमारिल और अकलङ्क के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा इतिहास और दर्शनशास्त्र के प्रेमियों के लिये आनन्द की वस्तु है।

अकलंक और शान्तभद्र—मानस[2]प्रत्यक्ष की आलोचना में अकलङ्क ने लिखा है कि बौद्धों के मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। आगे की कारिका में लिखा है—यदि कहा जायेगा कि मानसप्रत्यक्ष के बिना इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ में विकल्प ज्ञान नहीं हो सकता···आदि। अकलङ्क के टीकाकार वादिराज आगे की कारिका में प्रदर्शित उक्त मत को शान्तभद्र का मत बतलाते हैं। अकलङ्क के दूसरे टीकाकार अनन्त[3]वीर्य के लेख से भी ऐसा प्रतीत होता है कि अकलङ्क ने शान्तभद्र का खण्डन किया है। शान्तभद्र नाम के किसी बौद्धाचार्य का उल्लेख राहुल जी के द्वारा संकलित ग्रन्थकारों की सूची में नहीं है और न किसी अन्यस्रोत से ही उनके नाम का परिचय मिलता है। हाँ, डा०कीर्थ[4] ने उनका उल्लेख अवश्य किया है और उन्हें सातवीं शताब्दी का विद्वान् बतलाया है किन्तु उनके किसी ग्रन्थ का परिचय नहीं दिया। यदि सातवीं शताब्दी में शान्तभद्र नाम के कोई आचार्य हुए हैं तो संभव है कि अकलङ्क ने उन्हें भी देखा हो। किन्तु यदि वे उसके बाद में हुए हैं तो यही मानना होगा कि अकलङ्क के टीकाकारों ने कोई बात, जिसका उल्लेख अकलङ्क ने किया था, उनके ग्रन्थों में देखकर उसे शान्तभद्र का मत समझ लिया है। जैसा कि आगे के उल्लेखों से स्पष्ट होगा।

धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर तथा अकलङ्क—अकलंक के टीकाकारों के विवेचन से प्रकट होता है कि धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर के मत का भी अकलङ्क ने खण्डन किया है। धर्मकीर्ति और अकलङ्क का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए हम दिखला आये हैं कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का, खासकर प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय का अच्छा आलोडन किया था और उनके मतों की भी अच्छी आलोचना की थी। धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर धर्मकीर्ति के प्रकरणों के ख्यातनामा टीकाकार हुए हैं। प्रमाणवार्तिक पर आँठ विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं किन्तु उनमें प्रज्ञाकर के वार्तिकालङ्कार ने जो ख्याति पाई वह अन्य किसी को भी प्राप्त न हो सकी। धर्मकीर्ति के परिवार में ये दोनों ही ग्रन्थकार विशेषतया ख्यात हैं।

१ आप्तमी० का० ६। २ न्यायविनिश्चयविवरण पृ० ३८८–८९। कारि० १–१५७, १५८। ३ सिद्धिविनिश्चयटीका पृ० १०९ उ०। ४ बुद्धिस्ट लांजिक। ५ देखो, वादन्याय के परिशिष्ट।

धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय और न्यायबिन्दु पर टीका लिखी है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण और डाक्टर[2] कीथ उन्हें नवीं शताब्दी का विद्वान बतलाते हैं। डा० विद्याभूषण का अनुमान है कि बंगाल के राजा बनपाल (ई० ८४७) के समय में धर्मोत्तर हुए हैं। रशियन पंडित चिरविट्स्की (tcherbatsky[3]) लिखते हैं कि ई० ८०० में काश्मीर के राजा जया पीड़ ने धर्मोतर को आमंत्रित किया था ऐसा राजतरंगिणी ४–४९८ से प्रकट होता है। किन्तु राजतरङ्गिणी में उस स्थल पर केवल इतना ही लिखा है कि–"उसने स्वप्न में, पश्चिम दिशा में सूर्य का उदय होता देखा तो उसने समझा कि किसी नैयायिक ने (Master of the law) देश में प्रवेश किया है[4]।" आर. एस. पंडित लिखते हैं कि यह नैयायिक चीनी यात्री ह्यून्त्सांग था।

जैनन्याय के ग्रन्थों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि जैननैयायिकों में धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर की अच्छी ख्याति थी, उन्होंने दोनों की रचनाओं का केवल अच्छा अध्ययन ही नहीं किया था बल्कि बौद्धदर्शन का जो कुछ ज्ञान जैन नैयायिकों ने प्राप्त किया था उसका अधिकतया आधार धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर की रचनाएं ही थीं, यही कारण है कि प्रायः सभी प्रमुख जैननैयायिकों ने अपने ग्रन्थों में दोनों का उल्लेख किया है। 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' शीर्षक निबन्ध में मुनि जिनविजय जी ने लिखा है कि हरिभद्र सूरि ने, जिनका समय बहुत ही प्रामाणिक आधारों पर मुनि जी ने ई० ७०० से ७७० तक सुनिश्चित किया है, धर्मोत्तर का उल्लेख किया है। किन्तु डाक्टर विद्याभूषण वगैरह ने धर्मोत्तर को ९ वीं शताब्दी का विद्वान् माना था, अतः मुनि जी को लिखना पड़ा कि उस धर्मोत्तर से हरिभद्र के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं। इस मत के समर्थन में मुनि जी ने वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर से एक प्रमाण भी खोज निकाला। पर रत्नाकर के उस प्रमाण का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि मुनि जी ने ग्रन्थकार के आशय को समझने में अवश्य ही धोखा खाया है। 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्' सूत्र की व्याख्या में लक्ष्य और लक्षण के विधेयाविधेय की चर्चा का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने 'अत्राह धर्मोत्तरः' करके धर्मोत्तर के मत का निर्देश और उसकी आलोचना की है। यह धर्मोत्तर धर्मकीर्ति का टीकाकार प्रसिद्ध धर्मोत्तर ही है क्यों कि वादिदेवसूरि ने चर्चा के मध्य में उसकी न्यायविनिश्चयटीका और न्यायबिन्दुवृत्ति का उल्लेख किया है। रत्नाकर पृ० २० पं० ३ से प्रारम्भ होकर पृ० २४ पं० ९ तक धर्मोत्तर की आलोचना करने के बाद ग्रन्थकार लिखते हैं—

"बलदेववलं स्वीयं दर्शयन्ननिदर्शनम्
वृद्धधर्मोत्तरस्यैव भावमत्र न्यरूपयत् ॥ १७ ॥"

---

१ इन्डियन लॉजिक। २ बु० लॉजिक। ३ बुद्धिस्ट लॉजिक। ४ राजतरङ्गिणी का आर. एस्. पंडितकृत अंग्रेजी अनुवाद। ५ पण्डित महाशय का यह लेख प्रामाणिक नहीं जान पड़ता क्योंकि चीनी यात्री ह्यून्त्सांग ई० ६३५ में नालन्दा आया था अतः राजा जयापीड़, जिसका राज्यकाल श्री युत पंडित ने ३१ वर्ष लिखा है और जो ई० ७५१ में गद्दी पर बैठा था, के काल में ह्यून्त्सांग का अस्तित्व संभव नहीं है। ६ "यतो न्यायविनिश्चयटीकायां स्वार्थानुमानस्य लक्षणे···इति पर्युज्ञानः···इति अनुमन्यमानश्चानुमापयसि स्वयमेव लक्ष्यस्यापि विधिम्। स्पष्टमेवाभिदधसि च न्यायबिन्दुवृत्तौ···।" प्रमाणविनिश्चय के स्थान में भ्रमवश न्यायविनिश्चय पाठ हो गया जान पड़ता है।

इसके आगे धर्मोत्तर के उक्त मत के समर्थन में एक पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता है, जिसका अन्त निम्नलिखित श्लोक के साथ होता है—

"वृद्धसेवाप्रसिद्धोऽपि ब्रुवन्नेवं विशङ्कितः ।
बालवत्स्यादुपालभ्यस्त्वैविद्यविदुषामयम् ॥ १८ ॥"

इस पूर्वपक्ष के कर्ता को ग्रन्थकार वृद्धधर्मोत्तरानुसारी बतलाते हैं। धर्मोत्तर के साथ संभवतः वृद्ध शब्द लगा देखकर ही मुनि जी ने दो धर्मोत्तरों के अस्तित्व की कल्पना की है। किन्तु इस पूर्वपक्ष के प्रारम्भ में और अन्त में उक्त कारिकाओं का देना रहस्य से खाली नहीं है। प्रारम्भ की कारिका में ग्रन्थकार घोषणा करता है कि आगे वाले पक्ष में वृद्धधर्मोत्तर का ही भाव कहा गया है। इस कारिका का पूर्वार्द्ध कुछ अशुद्ध सा प्रतीत होता है और उसका 'बलदेवबलं' पद कुछ खटकता सा है, कारिका को बार बार पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों में ग्रन्थकार ने वृद्धधर्मोत्तर के किसी शिष्य का नाम लिया है, जिसका अगला पूर्वपक्ष है। अन्तिम कारिका में इस पूर्वपक्ष के कर्ता को बाल बतलाकर उसके कथन को उपेक्षणीय दर्शाया है। यदि यह 'बालवत् उपालभ्य' व्यक्ति वही धर्मोत्तर है जिसके मत का उल्लेख करके उक्त चर्चा का प्रारम्भ किया गया है तो उस वृद्धधर्मोत्तर का क्या मत है, जिसका अनुसारी और सेवक इस धर्मोत्तर को कहा जाता है ? यदि धर्मोत्तर नाम के दो व्यक्ति हुए हैं और प्रकृतधर्मोत्तर से वृद्धधर्मोत्तर एक पृथक् व्यक्ति हैं तो ग्रन्थकार उनके इस विषयक मत को अवश्य ही जानता होगा; अन्यथा वह उनके अनुसारी के लिये इतनी तुच्छता के द्योतक शब्दों का प्रयोग न करता। और ऐसी परिस्थिति में वृद्धधर्मोत्तर से चर्चा का प्रारम्भ न कराके उसके एक तुच्छ अनुसारी से चर्चा का प्रारम्भ कराना किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थकार ने आगे भी कुछ स्थलों पर धर्मोत्तर का उल्लेख किया है, किन्तु वृद्धधर्मोत्तर का उल्लेख उक्त चर्चा के सिवा अन्यत्र नहीं किया। एक स्थल पर स्या० रत्नाकर में लिखा है—"एतेन यदपि धर्मोत्तरविशेषव्याख्यानकौशलाभिमानी देवबलः प्राह।" इस लेख से स्पष्ट है कि देवबल नाम का कोई विद्वान धर्मोत्तर का कुशल व्याख्याकार हो गया है। लक्ष्य और लक्षण के विधेयाविधेय की उक्त चर्चा में वृद्धधर्मोत्तर के अनुसारी के पूर्वपक्ष का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं और 'बलदेवबलं स्वीयं' आदि कारिका को अशुद्ध बतलाकर उसमें वृद्धधर्मोत्तर के किसी शिष्य के नामनिर्देश का सङ्केत भी कर आये हैं। रत्नाकर के इस उल्लेख से हमारा उक्त मत निर्भ्रान्त प्रमाणित होता है। पूर्वपक्ष की उक्त कारिका में धर्मोत्तर के व्याख्यानकौशलाभिमानी देवबल का ही नाम ग्रन्थकार ने दिया है और आगे का पूर्वपक्ष भी उसी का है। कारिका का 'बलदेवबलं' पद अशुद्ध है उसके स्थान में 'बलं देवबलः स्वीयं' पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इस देवबल को बाल और वृद्धसेवापरायण बतलाकर उसका मखौल करने के लिये ही धर्मोत्तर को वृद्ध लिखा है। अतः प्रसिद्ध धर्मोत्तर ही वृद्धधर्मोत्तर हैं। उनके सिवा धर्मोत्तर नामका कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हुआ है।

हरिभद्र सूरि के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर प्रसिद्ध धर्मोत्तर से पृथक् व्यक्ति हैं, इस मत के समर्थन में मुनिजी ने दूसरा प्रमाण न्यायबिन्दुटीका के टिप्पणकार मल्लवादी का दिया

१ पृ० ७७५

है। मल्लवादी लिखते हैं कि धर्मोत्तर ने अपनी टीका में विनीतदेव के मत पर आक्षेप किये हैं। और डा० विद्याभूषण ने विनीतदेव का समय ७०० ई० के लगभग निर्धारित किया है अतः हरिभद्र सूरि के धर्मोत्तर कोई प्रथक् व्यक्ति हैं। रशियन विद्वान् चिरविट्स्की ने भी मल्लवादी के उल्लेख को प्रमाण मानकर विनीतदेव को धर्मोत्तर का पूर्वज बतलाया है। किन्तु खोज से पता चला है कि धर्मोत्तर के द्वारा आक्षिप्त मन्तव्य विनीतदेव के नहीं हैं किन्तु किसी दूसरे ग्रन्थकार के हैं। बौद्धभिक्षु राहुलजी ने तिब्बतदेशीय प्रमाणों के आधार पर बौद्ध ग्रन्थकारों की जो तालिका प्रकाशित की है तथा उनका समय निर्दिष्ट किया है, उसमें भी धर्मोत्तर नाम के दो व्यक्तियों का सङ्केत तक नहीं है। तथा धर्मोत्तर का समय ७२५ ई० और विनीतदेव का ७५० ई० लिखा है। अतः टीकाटिप्पणकारों के निर्देशों को सर्वथा निर्भ्रान्त समझकर प्रमाण मान लेना किसी भी तरह उचित नहीं है, और विशेषतया उस दशा में, जब मूलकार और टीका-टिप्पणकार के समय में शताब्दियों का अन्तराल हो। भारत में ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन की पद्धति का चलन न होने के कारण टीकाकार जिस उपलब्ध ग्रन्थ में मूलकार के द्वारा आक्षिप्त मत का सङ्केत पाते थे उसी के रचयिता का वह मत मान लेते थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने के कारण संभवतः वे इस बात की खोज न करते थे कि वही मत उपलब्ध ग्रन्थ के पूर्ववर्ती किसी अन्य ग्रन्थ में तो नहीं है? अकलंक के टीकाकारों को भी संभवतः इसी प्रकार का भ्रम हुआ है और उन्होंने अकलंक के द्वारा धर्मोत्तर का खण्डन करा दिया है। हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि धर्मोत्तर नाम के दो व्यक्ति नहीं हुए और हरिभद्रसूरि (७००–७७० ई०) के द्वारा उल्लिखित धर्मोत्तर ही प्रसिद्ध धर्मोत्तर हैं। अतः ७०० ई० से ७८० ई० तक उनका समय मान लेने पर हरिभद्र के द्वारा उनका उल्लेख तथा तिब्बतीय प्रमाण ठीक ठीक घटित हो जाते हैं। तथा यह समय चिरविट्स्की महोदय के लेख के भी अनुकूल बैठ सकता है। क्योंकि काश्मीर नरेश जयापीड़ ने ७५१ ई० में राजपद प्राप्त किया था, अतः उसके द्वारा धर्मोत्तर का निमंत्रित किया जाना सर्वथा संभव है।

प्रज्ञाकर—धर्मोत्तर की तरह प्रज्ञाकर का समय भी अभी तक सुनिश्चित नहीं हो सका है। डा० विद्याभूषण[1] उन्हें १० वीं शताब्दी का विद्वान् बताते हैं, और रशियन पंडित चिरविट्स्की[2] उनके बारे में कोई निर्णय नहीं कर सके हैं। जैनाचार्य विद्यानन्द[3] ने प्रज्ञाकर का उल्लेख किया है। और डा० विद्याभूषण[4] उन्हें नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान् बताते हैं। इस कारण वे लिखते हैं कि यह प्रज्ञाकर बौद्धनैयायिक प्रज्ञाकर गुप्त से जुदा प्रतीत होता है। किन्तु हमें तो विद्याभूषणजी की उक्त संभावना मुनि जिनविजयजी की धर्मोत्तरविषयक कल्पना जैसी ही प्रतीत होती है। हम ऊपर लिख आये हैं कि जैन नैयायिकों ने प्रज्ञाकर को खूब देखा था और वह प्रज्ञाकर वार्तिकालङ्कार का रचयिता प्रसिद्ध प्रज्ञाकर गुप्त ही था। वार्तिकालङ्कार के प्रकाश में आ जाने पर, इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा। राहुलजी के संग्रह में भी प्रज्ञाकर नाम के एक ही व्यक्ति का उल्लेख है जो वार्तिकालंकार के रचयिता

---

१ देखो, वादन्याय के परिशिष्ट। २ हिस्ट्री आफ़ दी मिडियावल स्कूल ऑफ इन्डियन लॉजिक पृ० १३५। ३ बुद्धिस्ट लॉजिक। ४ अष्टसहस्री पृ० २१। ५ हिस्ट्री आफ़ दी मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लॉजिक पृ० २८।

हैं। तिब्बतदेशीय उल्लेखों के आधार पर राहुलजी ने उनका समय ७०० ई० लिखा है जो जैनाचार्यों के उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है। मुनि कल्याणविजयजी के द्वारा लिखित हरिभद्रसूरि के धर्मसंग्रहणी नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना हमारे सन्मुख है। उसमें धर्मसंग्रहणी में उल्लिखित ऐतिहासिक पुरुषों की नामावली में प्रज्ञाकर का नाम दिया है। हरिभद्र का सुनिश्चित समय (७०० से ७७० ई०) हम ऊपर लिख आये हैं। अतः राहुलजी द्वारा आविष्कृत समय हमें उचित जान पड़ता है और इस लिये प्रज्ञाकर को धर्मोत्तर का गुरुसमकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

अर्चट—अनन्तवीर्य के उल्लेख से प्रकट होता है कि धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट का भी अकलंक ने खण्डन किया है। विद्याभूषण लिखते हैं कि न्यायावतार की विवृति से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्चट ने धर्मोत्तर का खण्डन किया है। राहुलजी ने भी अर्चट का समय धर्मोत्तर के बाद ८२५ ई० बतलाया है। अतः अर्चट को ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ का विद्वान् मानना होगा।

इस प्रकार प्रज्ञाकर का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, धर्मोत्तर का मध्य और अर्चट का समय ९ वीं का प्रारम्भ प्रमाणित होता है। इस पर से हम कह सकते हैं कि टीकाकारों ने अकलंक के द्वारा जो उक्त ग्रन्थकारों का खण्डन कराया है वह इतिहासविरुद्ध है जैसा कि अकलंक के समयनिर्णय से ज्ञात हो सकेगा। हम लिख आये हैं कि दार्शनिकों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुए अनुशीलन करने की पद्धति का प्रचार न था। तथा इसकी पुष्टि में धर्मोत्तर के टिप्पणकार मल्लवादी का उदाहरण भी दे आये हैं। दूसरा उदाहरण और लीजिये। हम लिख आये हैं कि 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात्' धर्मकीर्ति के 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः' का ही उत्तर है। किन्तु न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराज इसे व्याससूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' का उत्तर बतलाते हैं। यद्यपि अकलंक के उक्त कारिकार्ध को व्याससूत्र के विरोध में भी उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में भी एक वस्तु में अनेक धर्मों की स्थिति को असंभव बतलाया है। किन्तु धर्मकीर्ति के कारिकार्ध के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः वादिराज का लेख निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर और अर्चट का अकलंक के ग्रन्थों में खण्डन होने का जो उल्लेख टीकाकारों ने किया है वह तब तक निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता जब तक उक्त तीनों बौद्ध विद्वानों को धर्मकीर्ति के साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त न हो।

---

१ धर्मसंग्रहणी का पूर्व भाग उपलब्ध नहीं हो सका इसलिये हम इसका निर्णय नहीं कर सके कि प्रज्ञाकर का उल्लेख मूल में है या मलयगिरि की टीका में है? क्योंकि शीर्षक में 'सटीकायां धर्मसंग्रहणौ' लिखा है। किन्तु स्थलनिर्देश में सर्वत्र गाथानम्बर और उसकी १ या २ पंक्ति का ही निर्देश किया है। जैसे प्रज्ञाकर के आगे ४०३-२, ४४०-२ लिखा है। इस पर से हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि हरिभद्र ने स्वयं प्रज्ञाकरगुप्त का उल्लेख किया है। २ वादन्याय का परिशिष्ट। ३ हिस्ट्री आफ दी मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लाजि० पृ० १३३। ४ व्याससूत्र बहुत प्राचीन है, अतः अकलंक के वचनों के द्वारा उसका खण्डन कराने में समयक्रम में कोई गड़बड़ी उपस्थित नहीं होती। किन्तु यहां केवल यही बतलाना है कि टीकाकार एक ही विचार को किसी का भी विरोधी देखकर उसका ही विरोधी लिख देते थे। पौर्वापर्य का विशेष ध्यान नहीं रखते थे। या रखने पर भी भ्रमवश ऐसा हो जाता था।

शंकराचार्य और अकलंक—बौद्धों के विभिन्न मतों की आलोचना करने के बाद अकलंक ने न्यायविनिश्चय के प्रथम प्रस्ताव का उपसंहार करते हुए *'ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च'* इत्यादि श्लोक लिखा है[1]। शांकरभाष्य में भी हम बिल्कुल इसी आशय की दिग्दर्शक पंक्तियाँ पाते हैं। यथा—"केषाञ्चित् किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता। नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एव अभिप्रेतः।··· ·····अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितेरतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वम्।"

शांकरभाष्य का परिशीलन करने से कुछ अन्य भी ऐसे स्थल मिलते हैं जिनमें अकलंक की लेखनी प्रतिबिम्बित सी प्रतीत होती है। शंकराचार्य ने जैनमत का जो निर्देश किया है वह भी तत्त्वार्थसूत्र की किसी टीका से लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि उसमें सात तत्त्व, पञ्च अस्तिकाय, और उनके फल सम्यग्दर्शन का निर्देश किया है। संभव है ये सब बातें अकलंक के राजवार्तिक से ली गई हों, क्योंकि उक्त सब बातों के साथ साथ सप्तभंगी का विवेचन उसी में मिलता है। यदि हमारी संभावना सत्य है तो कहना होगा कि शंकराचार्य ने अकलंक के प्रकरणों का विहङ्गावलोकन किया था।

वाचस्पति और अकलंक—ब्राह्मण विद्वानों में वाचस्पति नाम के एक प्रकाण्ड विद्वान् हो गये हैं। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर 'भामती' नाम की इनकी टीका सर्वविश्रुत है। इस टीका में इन्होंने एक स्थल पर 'यथाहुः' करके निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है—'नहीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं संनिहितविषयबलेनोत्पत्तेः अविचारकत्वात्।" अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की विवृति में यह वाक्य निम्न प्रकार से पाया जाता है—"न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्।" यद्यपि दोनों वाक्यों में कुछ अन्तर पड़ गया है फिर भी दोनों की साम्यता स्पष्ट है। वाचस्पति ने समन्तभद्र के आप्तमीमांसा नामक प्रकरण से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः उन्होंने आप्तमीमांसा की विवृति अष्टशती भी अवश्य देखी होगी, क्योंकि वाचस्पति और अकलंक के बीच में दो शताब्दियों का अन्तराल है।

अकलङ्कदेव का समय

हम लिख आये हैं कि कथाकोश में अकलङ्क को मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मंत्री का पुत्र लिखा है। राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में कृष्णराज प्रथम की उपाधि शुभतुङ्ग कही जाती है। किन्तु उसके समय में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट नहीं थी। अस्तु, मुख्यतया इसी आधार पर डा० के० बी० पाठक ने अकलङ्क को कृष्णराज प्रथम का समकालीन घोषित किया था। डा० विद्याभूषण ने भी डा० पाठक के उक्त मत का अनुसरण करते हुए, अकलङ्क का समय ई० ७५० के लगभग निर्धारित किया था। उसके बाद पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'भट्टाकलङ्क' शीर्षक से एक विस्तृत निबन्ध लिखा था और उसमें उक्त दोनों विद्वानों के मत को

---

१ 'धर्मकीर्ति और अकलंक' शीर्षक में यह श्लोक लिख आये हैं। २ पृ० ४७९। ३ भामती पृ० ७६६। ४ का० ३-२। ५ का० १०३-१०४। ६ भामती पृ० ४८२। ७ हिस्ट्री आफ दी मिडियावल स्कूल ओफ इन्डियन लॉजिक, पृ० २६। ८ जैनहितैषी भाग ११, अंक ७-८।

प्रमाण मानकर अकलङ्क का समय विक्रम सं० ८१० से ८३२ तक (ई० ७५३ से ७७५ तक) बतलाया था। कुछ वर्षों के पश्चात् डाक्टर पाठक ने अपने उक्त मत में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया, उन्होंने अकलङ्क को राष्ट्रकूटराजा शुभतुङ्ग के स्थान में उसके भतीजे राजा साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग का समकालीन माना। इस मतपरिवर्तन का कारण उन्होंने नहीं बतलाया। हम मल्लिषेणप्रशस्ति के कुछ श्लोक उद्धृत कर चुके हैं, जिनमें से एक श्लोक में साहसतुङ्ग राजा का नाम आता है। संभवतः कथाकोश के उल्लेख की अपेक्षा प्रशस्ति के उल्लेख को विशेष प्रामाणिक मानकर ही उक्त मतपरिवर्तन किया गया था। किन्तु उससे अकलङ्क के निर्धारित समय में विशेष अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि राजा कृष्णराज, राजा दन्तिदुर्ग का उत्तराधिकारी था और दन्तिदुर्ग की मृत्यु के पश्चात् वि० सं० ८१७ (ई० ७६०) के लगभग राज्यासन पर बैठा था। दन्तिदुर्ग का राज्यकाल वि० सं० ८०१ से ८१६ तक (ई० ७४४ से ७५९) बतलाया जाता है, अतः डाक्टर पाठक के मत से अकलङ्क का भी यही समय समझना चाहिये।

इस प्रकार डाक्टर के० बी० पाठक ने अकलङ्क का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का मध्यकाल निर्धारित किया और एक दो के सिवाय सभी उत्तरकालीन लेखकों ने न केवल उसे स्वीकार ही किया किन्तु उसके समर्थन में बहुत से हेतु भी सङ्कलित कर डाले। किन्तु आगे के विवेचन से प्रतीत होगा कि वे हेतु प्रकृत पक्ष का समर्थन करने में न केवल अशक्त ही हैं किन्तु उसके विरुद्ध भी हैं।

प्रकृतपक्ष के समर्थन में जो हेतु[1] दिये जाते हैं, संक्षेप में वे निम्नप्रकार हैं—

१ स्वर्गीय भण्डारकार[2] ने लिखा है कि जिनसेनाचार्य ने अपने हरिवंशपुराण में सिद्धसेन, अकलंक आदि का उल्लेख किया है। हरिवंशपुराण के देखने से पहिले सर्ग का ३१ वां और ३९ वां श्लोक ऐसे मिलते हैं जिनसे प्रकारान्तर रूप में अकलंक का उल्लेख हुआ कहा जा सकता है। ३१ वें श्लोक[3] में लिखा है कि इन्द्र, चन्द्र, अर्क, जैनेन्द्र व्याकरणों से अत्यन्त शुद्ध देवसंघ के देव की वाणी नियम से वन्दनीय है। अकलंकदेव का उल्लेख केवल देव नाम से हुआ मिलता है और वे देवसंघ के आचार्य भी थे। अतः यह माना जा सकता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता ने इस श्लोक द्वारा श्री अकलंकदेव का स्मरण किया है। ३९ वें श्लोक[4] में श्री वीरसेनाचार्य की कीर्ति को अकलंक कहा गया है। इस प्रकार यदि यह माना जाये कि उक्त श्लोकों में अकलंक का उल्लेख हुआ है, तो कहना होगा कि हरिवंशपुराण की रचना के समय अर्थात् वि० सं० ८४० (ई० ७८३) में अथवा उससे पहले अकलंक देव विद्यमान थे।

२ हरिवंशपुराण वि० सं० ८४० में बना है। उसमें कुमारसेन का उल्लेख है। इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामी ने अपनी अष्टसहस्री के अन्त में किया है। लिखा है कि उनकी सहायता से हमारा यह ग्रन्थ वृद्धि को प्राप्त हुआ। अकलंकदेव विद्यानन्द से पहले

---

१ प्रा० विद्या० सं० पू० की पत्रिका जिल्द ११, पे० १५५ पर मुद्रित "शान्तरक्षितास् रिफ्रेन्सेस् टु कुमारिलास् अटैक्स ओन समन्तभद्र एन्ड अकलङ्क।" २ जैनहितैषी भा० ११, अंक ७,८ तथा जै० सि० भास्कर भा० ३, किरण ४ में प्रकाशित 'भट्टाकलंक' शीर्षक निबन्धों से ये हेतु संकलित किये गये हैं। ३ R. G. Bhandarkar's, Principal Results of My last Two years Studies in Sanskrit M. Ss. list (1889) पे० ३१। ४ "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वन्दते गिरः कथम्।" ५ 'वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते।'

हैं, क्यों कि उनके अष्टशती भाष्य पर ही अष्टसहस्री लिखी गई है। इससे भी ज्ञात होता है कि अकलंकदेव संवत् ८४० के पहले हो गये हैं। आश्चर्य नहीं कि हरिवंश की रचना के समय उनका अस्तित्व न हो।

३ धर्मकीर्ति ने 'त्रिलक्षण हेतु' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अकलंक की अष्टशती में उसका खण्डन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति के बाद अकलंकदेव हुए हैं। धर्मकीर्ति का समय ईस्वी सातवीं शताब्दी का पूर्व भाग माना जाता है। अंतः उसके बाद आठवीं शताब्दी में अकलंकदेव का अस्तित्व मानना उचित है

४ 'दिगम्बर जैन साहित्य में कुमारिल का स्थान' नामक लेख में यह सिद्ध किया गया है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने कटाक्ष किये हैं। और कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे। यही कारण है कि अकलंक, अष्टशती पर किये गये आक्षेप का उत्तर नहीं दे सके थे। कुमारिलभट्ट का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ (ई० ७०० से ७६०) तक निश्चित है अत एव अकलंक का समय भी करीब करीब यही हो सकता है।

५ अकलङ्कचरित नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि शक सं ७०० में अकलङ्कयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था। इससे सिद्ध है कि शक सं० ७०० (ई० ७७८, अथवा वि० सं० ८३५) में अकलङ्क विद्यमान थे।

आलोचना

१ दिगम्बर जैन परम्परा में दो जैनाचार्य, पूज्यपाददेवनन्दि और अकलङ्कदेव, 'देव' नाम से ख्यात हैं। संभवतः डा० भण्डारकार को (यदि उन्होंने हरिवंश पुराण के ३१ वें श्लोक में आगत 'देव' शब्द से अकलङ्कदेव का ग्रहण किया है तो) यह बात ज्ञात न थी इसी से उन्होंने हरिवंशपुराण में आगत 'देव' शब्द से अकलङ्क का ग्रहण किया है। किन्तु 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण से यह बात स्पष्ट होजाती है कि वे 'देव' इन्द्र, चन्द्र आदि समस्त व्याकरणों के पारगामी थे, अतः इस विशेषण के आधार पर, 'देव' शब्द से जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दि का ही स्मरण किया गया है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आदिपुराणकार तथा वादिराज ने–जिन्होंने अकलङ्कदेव का भी स्मरण किया है—इनका इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। यथा—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरांस्तत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥" आ० पु० प्र० पर्व
"अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥" पार्श्व० च० १-१८।

हरिवंशपुराण के पश्चात् आदिपुराण की रचना हुई है और हरिवंशपुराण की तरह आदिपुराणकार ने भी 'देव' की वाणी की ही प्रशंसा की है। तथा हरिवंशपुराण में 'देव' के पश्चात् ही वज्रसूरि का स्मरण किया गया है जो देवनन्दि के शिष्य थे और जिनका पूरा नाम वज्रनन्दि था। अतः जिस प्रकार वज्रनन्दि का नन्दि पद छोड़कर केवल 'वज्र' नाम ग्रहण किया है उसी प्रकार देवनन्दि का नन्दि पद छोड़कर केवल देव शब्द से ही उल्लेख किया है। अतः हरिवंशपुराण के ३१ वें श्लोक में देवनन्दिका ही स्मरण किया गया है। किन्तु

इसमें एक बाधक है और वह है श्लोक में आगत 'देवसंघस्य' पद। देवनन्दि नन्दिसंघ के आचार्य थे और अकलङ्क देवसंघ के। यद्यपि अकलङ्क ने अपने संघ आदि का कहीं उल्लेख नहीं किया और श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में अकलङ्कदेव के बाद संघभेद होने का उल्लेख है, तथापि परम्परा से ऐसा ही सुना जाता है। परन्तु हरिवंशपुराण की अन्य प्रतियों में इस पद के स्थान में दो पाठान्तर पाये जाते हैं और उनसे इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। एक प्रति में 'देववन्द्यस्य' पाठ है और दूसरी में 'देवनन्दस्य'। दूसरा पाठ यद्यपि शुद्ध प्रतीत नहीं होता तथापि उससे इतना पता चलता है कि पूर्वज विद्वान भी 'देव' पद से 'देवनन्दि' का ही ग्रहण करते थे और उसी का फल 'देवनन्दस्य' पाठ है। प्रथम पाठ शुद्ध है और 'देवसंघस्य' के स्थान में वही उपयुक्त प्रतीत होता है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी 'देववन्द्यस्य' पाठ ही रखा है। अतः हरिवंशपुराण के ३१ वें श्लोक में देवनन्दि का ही स्मरण किया गया है।

३९ वें श्लोक में यद्यपि वीरनन्दि की कीर्ति को 'अकलङ्का' बतलाया है किन्तु अकलङ्क जैसे महान् वाग्मी का इस प्रकार उल्लेख किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। अतः हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हरिवंशपुराणकार ने अकलङ्कदेव का स्मरण नहीं किया। किन्तु उनके स्मरण करने या न करने से प्रकृत मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि स्मरण करने से केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि अकलङ्क वि० सं० ८४० से पहले हो गये हैं, जो हमें भी इष्ट है। और न करने से यही कहा जा सकता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना के बाद में हुए हैं। किन्तु अकलंक को राजा कृष्णराज या दन्तिदुर्ग का समकालीन मानने वालों को भी यह अभीष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह निष्कर्ष उनके मत के विरुद्ध जाता है। अतः प्रथम हेतु निस्सार है और यदि वह सारवान् हो भी तो उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं, जो हमें अभीष्ट ही है।

२ दूसरे हेतु से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलंक हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं और इसमें किसी को भी विवाद नहीं है।

३ धर्मकीर्ति से अकलंक की तुलना करते हुए हम बतला आये हैं कि अकलंक ने धर्मकीर्ति के प्रकरणों को न केवल देखा ही है किन्तु उनके अनेक मन्तव्यों का उन्हीं के शब्दों में खण्डन किया है और उनके कुछ अंश भी उद्धृत किये हैं। अतः इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है। किन्तु इससे धर्मकीर्ति और अकलंक के बीच में एक शताब्दी का अन्तराल नहीं माना जा सकता, दो समकालीन ग्रन्थकार भी—यदि उनमें से एक वृद्ध हो और दूसरा युवा तो—एक दूसरे का खण्डन मण्डन कर सकते हैं। इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। अतः धर्मकीर्ति का खण्डन करने के कारण अकलंक को उससे एक शताब्दी बाद का विद्वान नहीं माना जा सकता।

३ ऊपर लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक ने पहले अकलंक को शुभतुंग का समकालीन घोषित किया था, बाद को साहसतुंग का समकालीन मानकर अपने मत में परिवर्तन कर डाला, और वहीं उसका कारण भी बतला आये हैं। किन्तु उक्त कारण के सिवाय इस मतपरिवर्तन

१ जै० शिला० सं० पृ० २१२। २ हरिवंशपुराण (मा० ग्र० मा०) पृ० ४। ३ 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दि' शीर्षक लेख, जैन सा० संशो० भाग १, अंक १।

का एक अन्य कारण भी दृष्टिगोचर होता है, जो पहले की अपेक्षा विशेष प्रबल प्रतीत होता है। अकलंक और कुमारिल का पारस्परिक सम्बन्ध निर्णय करने के बाद डाक्टर पाठक इस परिणाम पर पहुंचे कि समकालीन होने पर भी कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे और कुमारिल का समय ई० ७०० से ७६० तक निर्णीत किया गया था। अतः यदि अकलंक को शुभतुंग कृष्णराज का समकालीन बतलाया जाता तो अकलंक कुमारिल के बाद तक जीवित प्रमाणित होते थे, क्योंकि शुभतुंग नरेश वि० सं० ८१७ (ई० ७६०) में राज्याधिकारी हुए थे। संभवतः इसलिये डाक्टर पाठक ने उन्हें शुभतुंग के पूर्वाधिकारी दन्तिदुर्ग का समकालीन मानना उचित समझा।

कुमारिल और अकलंक की विवेचना में हम डाक्टर पाठक के मत को भ्रान्त सिद्ध कर आये हैं और बतला आये हैं कि कुमारिल की जिन कारिकाओं को डा० पाठक अष्टशती पर कटाक्ष करनेवाली बतलाते हैं उनका उत्तर अकलंक ने अपने न्यायविनिश्चय में दे दिया है। किन्तु, कुमारिल के नाम से उद्धृत कुछ कारिकाएं ऐसी पाई जाती हैं जो श्लोकवार्तिक में नहीं मिलतीं और जिनका उत्तर अकलंक के उत्तरकालीन अनुयायियों ने दिया है। संभव है वे कारिकाएं कुमारिल के जिस ग्रन्थ की हैं उसे अकलंक ने न देखा हो और इसलिये डाक्टर पाठक के मतानुसार कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे हों। किन्तु समकालीन होने पर भी हमें अकलंक की अपेक्षा कुमारिल ही ज्येष्ठ प्रतीत होते हैं। जैसा कि आगे के विवेचन से ज्ञात हो सकेगा। असत्य ऐतिहासिक शृंखला के आधार पर डाक्टर पाठक ने कुमारिल और अकलंक को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ला रक्खा है, किन्तु उनका यह मत सर्वथा भ्रान्त है। ऐतिहासिक पर्यालोचन से कुमारिल और अकलंक दोनों ही ईस्वी सातवीं शताब्दी के विद्वान प्रमाणित होते हैं।

हम लिख चुके हैं कि मुनि जिनविजय जी ने अनेक सुनिश्चित प्रमाणों के आधार पर हरिभद्रसूरि का समय ई० ७०० से ७७० तक निर्णीत किया है। हरिभद्रसूरि ने कुमारिल का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के आधार पर कुमारिल को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उठाकर कम से कम उसके पूर्वार्ध में तो लाना ही होगा। किन्तु यह बला इतने से ही दूर नहीं हो जाती, क्योंकि हरिभद्र ने बौद्ध विद्वान शान्तरक्षित का भी उल्लेख किया है। और शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ कुमारिल की कारिकाओं से भरा पड़ा है। शान्त रक्षित की आयु सौ वर्ष के लगभग थी और प्रायः ७८० ई० में, तिब्बत में उनका देहावसान हुआ था। इस उल्लेख के आधार पर कुमारिल ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से उठकर

---

१ भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर की पत्रिका, जिल्द ११, पे० १४९ पर मुद्रित 'समन्तभद्र का समय' शीर्षक लेख। २ देखो, राहुलजी लिखित 'तिब्बत में बौद्धधर्म' पृ०१२। वादन्याय के परिशिष्टों में,राहुलजी ने शान्तरक्षित का समय ई० ७४० से ८४० तक लिखा है, किन्तु वह ठीक नहीं जंचता, क्योंकि ७४० ई० में शान्तरक्षित का जन्म मानने से हरिभद्रसूरि के द्वारा उनका उल्लेख किया जाना सङ्गत प्रतीत नहीं होता। तथा शान्तरक्षित और उसके शाक्षात् शिष्य तथा टीकाकार कमलशील ने न धर्मोत्तर का ही उल्लेख किया है और न प्रज्ञाकर का। जब धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् हैं तो आठवीं के उत्तरार्द्ध और ९ वीं के पूर्वार्द्ध के विद्वानों के द्वारा उनका उल्लेख किया जाना आवश्यक था। अतः यही प्रतीत होता है कि तत्त्वसंग्रह की रचना धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर के साहित्यिक अभ्युदय होने से पहले ही हो गई थी।

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आ जाते हैं। यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह है कि तत्त्वसंग्रह में केवल कुमारिल का ही उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु उनके साक्षात् शिष्य उव्वेयक उपनाम भवभूति का भी उल्लेख मिलता है। अतः इन उल्लेखों के आधार पर कुमारिल ईसा की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान सिद्ध होते हैं। अतः डाक्टर पाठक के मत में एक शताब्दी की भूल तो स्पष्ट ही है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक के साथ कुमारिल की आलोचना करने पर उसमें लगभग आधी शताब्दी की वृद्धि और भी हो सकती है जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। इस प्रकार तीसरे हेतु में दर्शित अकलंक और कुमारिल का संबन्ध तथा कुमारिल का समय बिल्कुल मिथ्या है और उसके आधार पर अकलंक को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता।

५ अकलंकचरित के जिस श्लोक में अकलंक का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ होने का समय दिया है वह निम्न प्रकार है—

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥"

इस श्लोक में 'विक्रमार्कशक' सम्वत् का उल्लेख किया है। भारतीय इतिहास में विक्रम-सम्वत् और शकसम्वत् अति प्रसिद्ध हैं। विक्रम सम्वत् के प्रचलितकर्ता विक्रम राजा के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ जन अभी तक भी एकमत नहीं हैं। जैनकालगणना के अनुसार गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को हराकर अपने पिता का राज्य पुनः विजय किया था और इस विजय के उपलक्ष में विक्रम संवत् की नींव डाली थी। संम्भवतः इसी कारण से विक्रमसम्वत् का उल्लेख 'विक्रमार्कशक' नाम से किया गया है। शकसम्वत् के लिये इस प्रकार का उल्लेख हमारे देखने में नही आया। 'इन्सक्रिपशन्स् एट श्रवणबेलगोला' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में आर० नरसिंहाचार्य ने उक्त श्लोक उद्धृत किया है और उसका अर्थ विक्रम संवत् ७०० ही किया है। तथा अकलंक के समय की विवेचना में हम आगे जो प्रमाण उपस्थित करेंगे उनके आधार पर भी अकलंक के बौद्धों से शास्त्रार्थ करने का काल विक्रम सम्वत् ७०० (ई० ६४३) ही उचित प्रतीत होता है। अतः अकलंकचरित से भी अकलंक का समय ईसा की आठवीं शताब्दी के बदले सातवीं शताब्दी ही प्रमाणित होता है।

इस प्रकार अकलंक को राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराजप्रथम का समकालीन प्रमाणित करने के लिये जो हेतु दिये जाते हैं, वे सब लचर हैं और उनसे अकलंक का समय ईसा की सातवीं शताब्दी ही प्रमाणित होता है। अब शेष रह जाता है मल्लिषेण प्रशस्ति के श्लोक में साहसतुंग नरेश का नाम। यह साहसतुंग कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रशस्ति आदि में नहीं है। दन्ति-दुर्ग की उपाधि साहसतुंग कही जाती है किन्तु उसमें भी इतिहासज्ञों का मतैक्य नहीं है। लेविस राइस साहसतुंग के पहचानने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं। अतः केवल 'साहसतुंग' नाम के आधार पर दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम के साथ अकलंक का गठबन्धन नहीं किया जा सकता। कर्नाटक शब्दानुशासन की प्रस्तावना में राईस सा० ने लिखा है कि जैन परम्परा के अनुसार ई० ८५५ में, काञ्ची में अकलंक ने बौद्धों को परास्त किया था। पता नहीं, राईस

१ देखो 'दिगम्बर जैन' वर्ष २६, अंक १-२ में प्रकाशित 'भगवान महावीर का समय' शीर्षक लेख।

सा० ने इस जैनपरम्परा का आविष्कार कहां से किया जो अकलंक को नवीं शताब्दी में ला रखती है। इस प्रकार की दन्तकथाओं और उल्लेखों के आधार पर ऐतिहासिक पर्यवेक्षण नहीं हो सकता। अतः अकलंक के समय की प्रचलित परम्परा भ्रान्त है और उसका आधार बिल्कुल निर्बल है। उसकी अपेक्षा अकलंकचरित का उल्लेख प्रामाणिक और साधार प्रतीत होता है। अब हम कुछ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करेंगे जो अकलंकचरित में निर्दिष्ट समय के पोषक हैं और जिनके प्रकाश में अकलंकदेव को ईसा की आठवीं शताब्दी का विद्वान नहीं माना जा सकता।

१ अनन्तवीर्य के समय के सम्बन्ध में डाक्टर पाठक के मत की आलोचना करते हुए एक फुटनोट में प्रो० ए. एन. उपाध्ये ने अकलङ्क के समय के सम्बन्ध में भी उनके मत की आलोचना की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुङ्ग ठहराना अनुमानमात्र बतलाया है। तथा यह भी लिखा है कि धवलाटीका में, जो जगत्तुङ्ग के राज्य में (ई० ७८४ से ८०८) समाप्त हुई थी, वीरसेनाचार्य ने अकलङ्क के राजवार्तिक से लम्बे लम्बे वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी ने धवला टीका का समाप्तिकाल शक सं० ७३८ (ई० ८१६) लिखा है। यद्यपि अकलङ्क को दन्तिदुर्ग का समकालीन मान कर भी वीरसेन के द्वारा धवलाटीका में उनके राजवार्तिक से उद्धरण दिये जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि अकलङ्क के अन्त और धवला की समाप्ति में कई दशक का अन्तर है, तथापि धवल सरीखे सिद्धान्त ग्रन्थ में वीरसेन जैसे सिद्धान्तपारगामी के द्वारा आगमप्रमाण के रूप में राजवार्तिक से वाक्य उद्धृत किया जाना प्रमाणित करता है कि वीरसेन के समय में राजवार्तिक ने काफी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी और उसमें काफी समय लगा होगा। अतः अकलङ्क को दन्तिदुर्ग का समकालीन नहीं माना जा सकता।

२ सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका[3] में अकलङ्क के 'सिद्धिविनिश्चय' का उल्लेख किया है। 'जैन साहित्यनो इतिहास'[4] में परम्परा के आधार पर इन्हें देवर्द्धिगणि (५ वीं शताब्दी के लगभग) का समकालीन बतलाया है। किन्तु इतने प्राचीन तो यह हो ही नहीं सकते, क्योंकि उस दशा में उनके ग्रन्थ में अकलङ्क का उल्लेख नहीं मिल सकता। गणिजी ने अपनी उक्त टीका में धर्मकीर्ति का नाम निर्देश किया है और दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान शीलाङ्क[5] ने गन्धहस्ती नाम से इनका स्मरण किया है। अतः उनका सातवीं और नवमी शताब्दी के मध्य में होना सुनिश्चित है। पं० सुखलाल जी का कहना है कि हरिभद्र और सिद्धसेनगणि ने परस्पर में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया। अतः ऐसी संभावना जान पड़ती है कि ये दोनों या तो समकालीन हैं या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। हरिभद्र का समय हम ऊपर लिख आये हैं, अतः सिद्धसेनगणि को आठवीं शताब्दी का विद्वान मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अब यदि अकलङ्क का समय भी आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है तो उनकी सुप्रसिद्ध कृति का सिद्धसेनगणि द्वारा उल्लेख किया जाना किसी भी तरह संभव

---

१ जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक ९, पृ० ३८६। २ समन्तभद्र पृ० १७४। ३ "एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेण।" पृ० ३७। ४ मोहनलाल देसाई कृत, पृ० १४३। ५ पृ० ३९७। ६ आचाराङ्ग टीका पृ० १, तथा ८२। ७ 'तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार और व्याख्याएँ' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, पृ० ५८०।

प्रतीत नहीं होता। अतः अकलङ्क को आठवीं शताब्दी का विद्वान न मानकर सातवीं शताब्दी का विद्वान मानना चाहिये।

३ हरिभद्र और अकलङ्क की विवेचना में हम हरिभद्र पर अकलङ्क का प्रभाव दिखला आये हैं। और यह भी लिख आये हैं कि हरिभद्र ने अपनी अनेकान्तजयपताका में 'अकलङ्क-न्याय' शब्द का प्रयोग किया है। अतः अकलङ्क को हरिभद्रसूरि (ई० ७००–७७०) से पूर्व का विद्वान मानना चाहिये।

४ जिनदासगणिमहत्तर ने निशीथसूत्र पर एक चूर्णि रची है। इनकी एक चूर्णि नन्दि-सूत्र पर भी है। इस चूर्णि की प्राचीन विश्वसनीय प्रति में इसका रचनाकाल शक सं० ५९८ (ई० ६७६) लिखा है। नन्दिसूत्र पर हरिभद्रसूरि ने भी एक संस्कृत टीका रची है। इस टीका में उन्होंने बहुत सी जगह इसी सूत्र पर जिनदासमहत्तर की बनाई हुई उक्त चूर्णि से बड़े लम्बे लम्बे अवतरण दिये[2] हैं। अतः चूर्णि में लिखे गये रचना काल की प्रामाणिकता में किसी सन्देह को स्थान नहीं रहता। निशीथचूर्णि में जिनदासमहत्तर ने सिद्धसेनदिवाकर के 'सन्मति-तर्क' के साथ ही साथ अकलङ्क के 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख[3] किया है और उसे प्रभावकशास्त्र बतलाया है। इस उल्लेख से अकलङ्क को सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान मानने में कोई शङ्का अवशिष्ट नहीं रह जाती। निशीथचूर्णि के इस उल्लेख से भी अकलङ्कचरित के उक्त श्लोक का अर्थ विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) ही प्रमाणित होता है। अतः ई० ६४३ में अकलङ्क के शास्त्रार्थ करने से तथा ई० ६७६ के आस पास रचे गये निशीथचूर्णि नामक ग्रन्थ में अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख मिलने से अकलङ्क का समय ई० ६२० से ६८० तक निर्णीत होता है।

---

१ सन्मतिप्रकरण (गुजराती अनुवाद) की प्रस्तावना, पृ० ३५–३६। तथा जयसलमेर भण्डार की सूची (बड़ौदा) पृ० १८। २ 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' जै० सा० संशो० भाग १, अङ्क १ पृ० ५०। "वि० सं० ७३३ वर्षे रचिताया निशीथचूर्ण्या अवतरणानि हरिभद्रसूरीयावश्यकवृत्तौ दृश्यंते।" जैसल० सूची (बड़ौदा) पृ० १८। ३ 'दंसणगाही–दंसणणाणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसम्मदिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।' *सिद्धिविनिश्चय का परिचय* कराते हुए पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'अनेकान्त' में लिखा था कि श्वेताम्बरों के जीतकल्पचूर्णि ग्रन्थ की श्रीचन्द्रसूरिरचित टीका में सिद्धिविनिश्चय को प्रभावक ग्रन्थों में गिनाया है। तथा निशीथचूर्णि में सिद्धि विनिश्चय के उल्लेख होने का भी उल्लेख किया था। इसपर उसी पत्र की चतुर्थ किरण में पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजी की ओर से एक संशोधन और सूचन प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा था कि निशीथचूर्णि में निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अकलंकदेव का तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे उक्त चूर्णि के रचयिता जिनदास-महत्तर के बाद ही हुये हैं। अतः चूर्णि में निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अन्य किसी का रचा होना चाहिये। और वे अन्य संभवतः श्वेताम्बरीय विद्वान् होंगे। अपनी इस संभावना के उन्होंने दो मुख्य कारण बतलाये थे— एक तो श्वेताम्बरीय किसी ग्रन्थ में निश्चित दिगम्बरीय ग्रन्थ का प्रभावक के तौर पर अन्यत्र उल्लेख न मिलना, दूसरे सन्मतितर्क जो श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थ है उसके साथ और उससे पहले सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होना। जहाँ तक हम जानते हैं सिद्धिविनिश्चय के प्रकाश में आने से पहले शायद ही किसी को यह पता हो कि इस नाम का भी कोई ग्रन्थ है। दिगम्बरसाहित्य में, जहाँ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का निर्देश मिलता है सिद्धिविनिश्चय की तो गंध तक भी नहीं मिलती। इसके विपरीत श्वेताम्बरसाहित्य में उक्त उल्लेखों के सिवा सिद्धसेनगणि और देवसूरि के ग्रन्थों में भी सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है। तथा देवसूरि ने तो 'तदाह अकलकः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर सिद्धिविनिश्चय को अकलंककृत घोषित किया है।

अवशिष्ट विप्रतिपत्तियों का निराकरण

अकलङ्क के उपर्युक्त निर्धारित समय में धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, कुमारिल और प्रभाचन्द्र को लेकर कुछ विप्रतिपत्तियां अवशेष रह जाती हैं। जिनका आभास डाक्टर के० बी० पाठक के विविध लेखों में मिलता है। अतः अकलङ्क के निर्धारित समय को विवादरहित करने के लिये उनका दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भर्तृहरि नाम के एक प्रसिद्ध वैयाकरण हो गये हैं। चीनी यात्री इत्सिंग के उल्लेख के आधार पर ई० ६५० में उनकी मृत्यु हुई थी। अकलंक ने उनके वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ से एक कारिका उद्धृत की है यह हम बतला चुके हैं। कुमारिल ने भी अपने तंत्रवार्तिक के प्रथम प्रकरण में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के साथ साथ भर्तृहरि के ऊपर भी आक्षेप किये हैं। और वाक्यपदीय में से अनेक श्लोकों को उद्धृत करके उनकी तीव्र आलोचना की है। इस पर डाक्टर पाठक लिखते हैं कि–"मेरे विचार से यह तो स्पष्ट है कि कुमारिल के समय में व्याकरणशास्त्र के ज्ञाताओं में भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान माने जाते थे। भर्तृहरि अपने जीवनकाल में तो इतने प्रसिद्ध हुए ही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनिसम्प्रदाय के अनुयायी उन्हें अपने सम्प्रदाय का एक आप्तपुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतञ्जलि के साथ वे भी महान् मीमांसक की समालोचना के निशान बने हों। इसी कारण से हुएन्त्सांग, जिसने ई० स० ६२९-६४५ के बीच में भारत-भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा। परन्तु इत्सिंग, जिसने उक्त समय से

जैनसाहित्य में ग्रन्थों के विनिश्चयान्त नाम बौद्धसाहित्य के अन्यतम निर्माता धर्मकीर्ति के ऋणी हैं। अतः अकलंक के सिद्धिविनिश्चय के सिवाय किसी श्वेताम्बर विद्वान् के द्वारा रचित सिद्धिविनिश्चय की कल्पना करना तो बिल्कुल असंगत ही प्रतीत होता है। रह जाता है श्वेताम्बरसाहित्य में, और वह भी सिद्धसेन के सन्मतितर्क से पहले, सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होना। सो सिद्धिविनिश्चय की महत्ता तथा उसमें साम्प्रदायिक चर्चा न होकर इतर दर्शनों का निरसनपूर्वक जैनदर्शन के मन्तव्यों के विनिश्चय को देखते हुए असंगत नहीं जान पड़ता। हम लिख आये हैं कि इस ग्रन्थ का श्वेताम्बर आचार्यों में काफी प्रचार था और वे उसपर मुग्ध थे। अतः उनकी गुणग्राहकता और स्वदर्शनप्रेम ने यदि सिद्धिविनिश्चय को उक्त सन्मान, जिसके वह सर्वथा योग्य था, प्राप्त करा दिया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होने पर एक आपत्ति यह की गई है कि अकलंक जिनदासमहत्तर के बहुत बाद हुए हैं। किन्तु यह आपत्ति उसी समय तक संगत थी जब तक अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाता था; उनके सातवीं शताब्दी का विद्वान् प्रमाणित होने पर उक्त आपत्ति को स्थान नहीं रहता। उक्त आपत्तियों को देखकर कुछ विद्वान् कल्पना करते हैं कि निशीथचूर्णि का उक्त उल्लेख प्रक्षिप्त है और संभवतः वह जीतकल्पचूर्णि की चन्द्रसूरिरचित टीका से वहाँ आघुसा है, क्योंकि दोनों की शब्दरचना बिल्कुल मिलती है। किन्तु हमारा विश्वास है कि उक्त वाक्य निशीथचूर्णि का ही होना चाहिये और वहीं से उसे चन्द्रसूरि ने अपनी टीका में लिखा है। क्योंकि चूर्णि की रचना संस्कृत और प्राकृत में की जाती थी और उक्त वाक्य में इसकी गन्ध मौजूद है, किन्तु चूर्णि की संस्कृत टीका में इस प्रकार का वाक्य मौलिक नहीं हो सकता। अतः हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निशीथचूर्णि का उक्त वाक्य प्रक्षिप्त नहीं है और उसमें जिस सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है, वह अकलंककृत सिद्धिविनिश्चय के सिवाय कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है।

१ 'भर्तृहरि और कुमारिल' शीर्षक लेख में। खोजने पर भी यह लेख हमें नहीं मिल सका। मुनि जिनविजयजी के 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' शीर्षक निबन्ध से उसके उद्धरण लिये हैं।

आधी शताब्दी बाद अपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारतवर्ष के पांचों खण्डों में भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस विवेचन से हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्ष में तंत्रवार्तिक की रचना हुई उसके और भर्तृहरि की मृत्युवाले ई० ६५० के बीच में आधी शताब्दी बीत चुकी होगी। अतएव कुमारिल ई० स० की ८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान होने चाहिये।"

यहां यह बतला देना आवश्यक है कि डाक्टर पाठक ने यह लेख उस लेख से बहुत पहले लिखा था जिसमें उन्होंने अकलंक और कुमारिल को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का विद्वान बतलाया था। इस लेख में डाक्टर पाठक ने जिस सिद्धान्त का आविष्कार किया है वह एक अजीब ही वस्तु प्रतीत होता है। प्रथम तो किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि के लिये उसकी मृत्यु के पश्चात् आधी शताब्दी बीतना कोई आवश्यक नियम नहीं है। आज की तरह प्राचीन समय में भी विद्वान अपने जीवनकाल में ही ख्यात हो जाते थे। यदि थोड़ी देर के लिये यह बात स्वीकार भी कर ली जाये तो प्रसिद्ध विद्वानों का ही खण्डन किये जाने का कोई नियम नहीं है। हरिभद्रसूरि ने अपने समकालीन विद्वान शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर और धर्मोत्तर के मत की आलोचना की है। विद्वानों की लेखनी का निशाना बनने के लिये केवल प्रसिद्धि ही आवश्यक नहीं है। किसी अप्रसिद्ध विद्वान की भी कृति में यदि कोई मौलिक विचारधारा हो, जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर सकती हो, तो प्रतिपक्षी समर्थ विद्वान उसकी आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। हुएन्त्सांग के समय में भर्तृहरि की उतनी ख्याति न होगी, जितनी इत्सिंग के समय में थी। किन्तु उनकी कृति में कुमारिल को कुछ मौलिकता अवश्य प्रतीत हुई होगी। इसी से उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों के साथ साथ भर्तृहरि की भी आलोचना करना उचित समझा। अतः वाक्यपदीय की आलोचना करने के कारण, भर्तृहरि और कुमारिल को विभिन्न समय में रखने की आवश्यकता नहीं है। और इसलिये भर्तृहरि और कुमारिल के आलोचक अकलंक को भी सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

धर्मकीर्ति और कुमारिल के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। जब धर्मकीर्ति पढ़ लिखकर विद्वान हुए तो उन्होंने प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल की बहुत ख्याति सुनी। फलतः मीमांसाशास्त्र का रहस्य जानने के लिये उन्होंने कुमारिल की सेवा करना स्वीकार किया और अपनी सेवा से गुरु और गुरुपत्नी को प्रसन्न करके उनके कृपाभाजन बन गये। इस प्रकार मीमांसाशास्त्र में पारङ्गत होने के पश्चात् धर्मकीर्ति ने शास्त्रार्थ के लिये कुमारिल को ललकारा और शास्त्रार्थ में हारकर कुमारिल अपने पांचसौ शिष्यों के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये। इस किंवदन्ती के सम्बन्ध में डाक्टर पाठक 'अकलंक का समय' शीर्षक अपने निबन्ध में लिखते हैं—[1]

"The date of अकलंक is so firmly fixed that it is impossible to assign his critic कुमारिल to the first or second half of the seventh century in order to make him embrace Buddhism with his 500 followers or to make him the teacher of Bhavabhuti"

अर्थात्—"अकलंक का समय इतना सुनिश्चित है कि उसके आलोचक कुमारिल को सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता है और इसलिये कुमारिल का

१ भण्डारकर प्रा० वि० मन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३, पृ० १५७ पर मुद्रित।

अपने पांचसौ शिष्यों के साथ बौद्धधर्म स्वीकार करना या उसका भवभूति का गुरु होना संभव नहीं है।"

धर्मकीर्ति और कुमारिल के सम्बन्ध की उक्त किंवदन्ती की सत्यता में इतिहासज्ञों का विश्वास नहीं है। कुमारिल के बुद्धधर्म स्वीकार करने की कथा तो स्पष्टतया कल्पित प्रतीत होती है। जहां तक हम जान सके हैं धर्मकीर्ति और कुमारिल के ग्रन्थों में परस्पर में कोई आदान प्रदान हुआ प्रतीत नहीं होता। हां, वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में धर्मकीर्ति ने वेदाध्ययन-वाच्यत्व हेतु का प्रकारान्तर से निर्देश करके उसकी आलोचना की है। यदि यह हेतु कुमारिल के द्वारा ही आविष्कृत हुआ है तो कहना होगा कि धर्मकीर्ति ने कुमारिल को देखा था। उधर 'भर्तृहरि और कुमारिल' शीर्षक निबन्ध में डाक्टर पाठक ने लिखा है कि—"मीमांसा-श्लोकवार्तिक के शून्यवाद-प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के 'आत्मा बुद्धि से भेदवाला दिखाई देता है' इस विचार का खण्डन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र ने धर्मकीर्ति का निम्नलिखित श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी लिखा है, बारम्बार उद्धृत किया है—

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥"

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति—दोनों के विचारों की समालोचना की है। अतः यह सिद्ध होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के बाद हुए।" यदि हमारा और डाक्टर पाठक का दृष्टिकोण सत्य है तो धर्मकीर्ति और कुमारिल को समकालीन मानना ही होगा। यह बात अकलङ्क के निर्धारित किये गये समय से भी प्रमाणित होती है, क्योंकि जब अकलङ्क का समय ई० ६२० से ६८० तक प्रमाणित होता है और अकलङ्क ने धर्मकीर्ति और कुमारिल दोनों की ही आलोचना की है तो दोनों को समकालीन मानने के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है।

धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष धर्मपाल के शिष्य थे। चीनी यात्री हुएनत्सांग जब ई० ६३५ में नालंदा पहुँचा, तब उसे मालूम हुआ कि कुछ ही समय पहले आचार्य धर्म-पाल अपने पद से निवृत्त होगये हैं। इस वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि धर्मपाल ई० ६३५ तक विद्यमान थे। अतः धर्मकीर्ति का काल ६३५ ई० से ६५० तक माना जाता है। हुएनत्सांग ने अपने यात्राविवरण में भर्तृहरि की तरह धर्मकीर्ति का भी उल्लेख नहीं किया है। इसपर भिक्षुवर राहुल जी का मत है कि हुएनत्सांग के नालन्दा आने से पहले धर्मकीर्ति की मृत्यु हो चुकी थी, और यतः वह सब विद्वानों के नाम लिखने के लिये बाध्य नहीं था अतः उसने धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिखा। राहुल जी की यह कल्पना डाक्टर पाठक की भर्तृहरिविषयक कल्पना से सर्वथा विपरीत है। डाक्टर पाठक की कल्पना में तो यह विचार अन्तर्निहित था कि मनुष्य अपने जीवनकाल में ख्यात नहीं होता किन्तु मृत्यु के बाद उसे ख्याति मिलती है। किन्तु राहुल-जी की कल्पना में इसके बिल्कुल विपरीत विचार काम करता है। वे सोचते हैं कि धर्मकीर्ति सरीखे तेजस्वी विद्वान के उपस्थित रहते ह्यूनत्सांग का उनसे परिचय न हुआ हो, यह संभव नहीं है। और परिचय होने से उसका उल्लेख होना चाहिये था। यहां, राहुल जी यह भूल जाते

१ देखो, 'वादन्याय' की प्रस्तावना।

हैं कि धर्मकीर्ति की जो अगाध विद्वत्ता उन्हें इस बात के लिये प्रेरित करती है कि यदि धर्मकीर्ति उस समय जीवित थे तो ह्यूनत्सांग को उनका उल्लेख अवश्य करना चाहिये था, वही विद्वत्ता धर्मकीर्ति की मृत्यु मानकर ह्यूनत्सांग के उल्लेख न करने पर कैसे सन्तोष धारण करा देती है ? क्या राहुल जी यह स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के साथ धर्मकीर्ति सरीखे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की कीर्ति भी लुप्त होगई थी ? यह सत्य है कि कोई व्यक्ति समस्त विद्वानों के नाम लिखने के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु क्या धर्मकीर्ति का व्यक्तित्व शेष समस्त विद्वानों की ही कोटि का था ? यदि ऐसा था तो राहुल जी के इस तर्क का प्रयोग धर्मकीर्ति की जीवित दशा में भी किया जा सकता है, क्योंकि नालन्दा विश्वविद्यालय में धर्मकीर्ति सरीखे स्नातकों की कमी नहीं थी। अतः राहुल जी का तर्क असङ्गत है और उसके आधार पर ह्यूनत्सांग के आने के समय धर्मकीर्ति को मृत नहीं माना जा सकता। इतिहासज्ञों का मत है कि उस समय धर्मकीर्ति तरुण थे और शिक्षा समाप्त करके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। अतः ह्यूनत्सांग ने उनका उल्लेख नहीं किया। किन्तु जब इत्सिंग भारत आया तब उनकी प्रतिभा की सर्वत्र ख्याति थी, जिसका उल्लेख इत्सिंग ने अपने यात्राविवरण में किया है।

तथा, अकलङ्क के साहित्य पर से भी इस बात का समर्थन होता है। विद्वान पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि धर्मकीर्ति ने अपने पूर्वज दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को स्थान दिया था। दिङ्नाग के प्रत्यक्ष का लक्षण केवल 'कल्पनापोढ' था, धर्मकीर्ति ने उसके साथ अभ्रान्त पद और जोड़ दिया। अकलङ्क ने अपने राजवार्तिक में दिङ्नाग के लक्षण का खण्डन किया है, तथा उस प्रकरण में जो दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से एक दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की है और दूसरी वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की। इसके अतिरिक्त उसी प्रकरण में कल्पना का लक्षण करते हुए उसके पांच भेद किये हैं। रशियन प्रो० चिरविट्स्की लिखते हैं कि दिङ्नाग ने कल्पना के पांच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक की रचना अपने प्रारम्भिक जीवन में की थी, उस समय तक या तो धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि की रचना नहीं की थी, या वे प्रकाश में नहीं आये थे। उसके बाद के ग्रन्थों में अकलङ्क ने धर्मकीर्ति के न केवल प्रत्यक्ष के लक्षण का ही खण्डन किया है किन्तु उनके प्रसिद्धग्रन्थों से उद्धरण तक लिये हैं जैसा कि हम 'धर्मकीर्ति और अकलङ्क' शीर्षक में लिख आये हैं। अतः ह्यूनत्सांग के समय में धर्मकीर्ति जीवित थे और उसी समय कुमारिल भी मौजूद थे। इस विस्तृत विवेचन के बाद भारत के इन चार प्रख्यात विद्वानों का समयक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—भर्तृहरि ई० ५९० से ६५० तक, धर्मकीर्ति और कुमारिल ई० ६०० से ६६० तक, और अकलङ्क ई० ६२० से ६८० तक।

---

१ पृ० ३८। २ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते ॥ १ ॥" "सवितर्कविचारा हि पञ्चविज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः ॥ १ ॥" ३ बुद्धिस्ट लाजिक २ य भाग, पृ० २७२ का फुटनोट नं ९। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के उल्लेख से भी यह पता चलता है कि दिङ्नाग ने कल्पना के पांच भेद किये थे। यथा—"संप्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति अथ केयमिति ? लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थेति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना।"

उक्त चारों विद्वानों के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना और उसका समीकरण करने के पश्चात् अकलंक के निर्धारित समय की बाधक एक उलझन शेष रह जाती है। 'अकलंक का समय' शीर्षक डाक्टर पाठक के निबन्ध से कुमारिल के सम्बन्ध में हम एक वाक्य उद्धृत कर आये हैं। उसके आरम्भिक शब्द 'The date of अकलंक is so firmly fixed' की ओर हम पाठकों ध्यान आकर्षित करते हैं। इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि डाक्टर पाठक को अपने द्वारा निर्धारित अकलंक के समय की सत्यता में कितना दृढ़ विश्वास था। उनके इस विश्वास का आधार था प्रभाचन्द्र के एक श्लोक के निम्न चरण—

"बोधः कोप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्।" न्या० कु०

जिसका अर्थ यह किया गया कि प्रभाचन्द्र ने अकलंक के चरणों के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। और उससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य थे। अपने उक्त लेख में श्रीकण्ठशास्त्री के मत की आलोचना करते हुए डा० पाठक ने बड़े जोर के साथ लिखा है कि—"यदि अकलंक का समय ६४५ ई० माना जायेगा तो 'प्राप्याकलंकं पदं' के अनुसार प्रभाचन्द्र, जिनका स्मरण आदिपुराण (ई० ८३८) में किया गया है और जो अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुए हैं—अकलंक के चरणों में नहीं पहुँच सकते।"

आदिपुराणकार ने जिन प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है, वे न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से जुदे व्यक्ति हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता का विचार करते समय इसका स्पष्टीकरण किया जायेगा। उक्त श्लोक में 'पद' शब्द का अर्थ प्रकरण है न कि चरण। यदि प्रभाचन्द्र अकलंकदेव के शिष्य होते तो लघीयस्त्रय के व्याख्यान में इतनी भारी भूल न करते और न न्यायकुमुद के अन्त में 'साहाय्यं च न कस्यचिद् वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये।' लिखकर न्यायकुमुद की रचना में किसी की सहायता न मिलने का ही उल्लेख करते। प्रभाचन्द्र की तो बात ही क्या? अकलंक के प्रकरणों के दक्ष व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द भी, जिनका स्मरण प्रभाचन्द्र ने किया है, अकलंक के समकालीन नहीं है, जैसा कि आगे के लेख से ज्ञात हो सकेगा। अतः प्रभाचन्द्र के उक्त श्लोक के आधार पर प्रभाचन्द्र को अकलंक का साक्षात् शिष्य बतलाना और इसी लिये अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्य से खींच कर आठवीं शताब्दी के मध्य में लारखना सर्वथा भूल है।

इस प्रकार अकलंक को ईसा की सातवीं शताब्दी का विद्वान मानने में जो बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं, वे यथार्थ नहीं है। और उन्हें आठवीं शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये जाते हैं उनमें से कोई हेतु उन्हें आठवीं शताब्दी का विद्वान सिद्ध नहीं करता, बल्कि उनमें से दो हेतु तो उन्हें सातवीं शताब्दी का ही विद्वान सिद्ध करते हैं। अतः अकलंक का काल ई० ६२० से ६८० तक मानना चाहिये।

---

१ भण्डारकर प्रा० वि० म० की पत्रिका, जिल्द १२, पृ० २५३–२५५ में 'विद्यानन्द और शङ्करमत' शीर्षक से श्रीकण्ठशास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें लेखक ने अकलंक का समय ६४५ ई० लिखा है, जो हमारे मत के अनुकूल है। २ इस भूल का दिग्दर्शन न्यायकुमुदचन्द्र पर विचार करते समय करा आये हैं। ३ विशेष जानने के लिये देखो, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा लिखित "प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य नहीं थे" शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १ पृ० १३०।

समकालीन विद्वान

अब तक निम्नलिखित विद्वान अकलंकदेव के समकालीन कहे जाते हैं—पुष्पषेण, वादीभसिंह, कुमारसेन, कुमारनन्दिभट्टारक, वीरसेन, परवादिमल्लदेव, श्रीपाल, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, और प्रभाचन्द्र। किन्तु यह तालिका अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान मानकर सङ्कलित की गई है। अतः अकलंक के सातवीं शताब्दी का विद्वान प्रमाणित होने के कारण अब उसमें से अधिकांश विद्वानों का नाम खारिज कर देना होगा। नीचे उक्त विद्वानों के समय की चर्चा संक्षेप में की जाती है, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि कौन विद्वान उनका समकालीन है और कौन उत्तरकालीन।

पुष्पषेण और वादीभसिंह—मल्लिषेणप्रशस्ति में अकलंकविषयक श्लोकों के बाद ही निम्नलिखित श्लोक आता है—

"श्री पुष्पषेणमुनिरेव पदं महिम्नो देवः स यस्य समभूत स महान् सधर्मा।
श्रीविभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव पुष्पेषु मित्रमिह यस्य सहस्रधामा॥"

इस श्लोक में पुष्पषेणमुनि को अकलंक का सधर्मा अर्थात् गुरुभाई बतलाया है। संभवतः यह पुष्पषेण मुनि वही हैं जिन्हें, गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में वादीभसिंह ने अपना गुरु बतलाया है।

वादीभसिंह का यथार्थ नाम अजितसेन था। मल्लिषेणप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ये बहुत बड़े वादी और स्याद्वादविद्या के वेत्ताओं के अन्तरंग का अन्धकार दूर करने के लिये दूसरे सूर्य थे। अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र अष्टसहस्री के मंगलश्लोक पर टिप्पण करते हुए लिखते हैं—"तदेवं महाभागैः तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसामलञ्चिकीर्षवः.....प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः—श्रीवर्धमानमित्यादि।"[1] इससे पता चलता है कि आप्तमीमांसा पर वादीभसिंह ने कोई टीका बनाई थी और वह टीका अष्टसहस्री से पहले बनी थी। अष्टसहस्री के अन्त में विद्यानन्द ने 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' लिखकर 'जयति जगति' आदि पद्य लिखा है और उसके बाद 'श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति' लिखकर अकलंकदेव की अष्टशती का अन्तिम मंगलश्लोक दिया है, तत्पश्चात् 'वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः' लिखकर अपना अन्तिम मंगल दिया है। 'केचित्' शब्द पर अष्टसहस्री की मुद्रित प्रति में एक टिप्पण भी है। जिसमें लिखा है कि–'केचित् शब्द से आचार्य वसुनन्दि का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उन्होंने अपनी वृत्ति के अन्त में इस श्लोक को दिया है'। पुनः लिखा है कि—'शास्त्रपरिसमाप्तौ मंगलवचनम्' इस वाक्य से तथा वसुनन्दि आचार्य के वचनों से यह श्लोक भी स्वामी समन्तभद्रकृत ही प्रतीत होता है, अतः स्वामी की बनाई हुई कारिकाओं की संख्या ११५ है, किन्तु विद्यानन्द के मत से आप्तमीमांसा की कारिकाओं का प्रमाण ११४ है।" पता नहीं यह टिप्पणी टिप्पणकार समन्तभद्र की ही है या संपादक ने अपनी ओर से लगा दी है? हमें तो इसका पूर्व भाग संपादकजी की ही कृति प्रतीत होता है क्योंकि लघुसमन्तभद्र वसुनन्दि से पहले हो गये हैं, अतः वे ऐसा नहीं लिख सकते। तथा विद्यानन्द की लेखनपद्धति से ऐसा प्रतीत होता है कि

१ अष्टसहस्री पृ० २९४, टिप्पण ३।

वह उस मंगल को किसी वृत्तिकार का ही मानते थे, और प्रतीत भी ऐसा ही होता है, क्योंकि 'इतीयमाप्तमीमांसा' आदि श्लोक के द्वारा आप्तमीमांसा का उपसंहार करने के बाद उक्त श्लोक की संगति नहीं बैठती अतः उसे मूलकार का तो नहीं माना जा सकता। कहीं उक्त श्लोक वादीभसिंह की वृत्ति का अन्तिम मंगल तो नहीं है? रह रहकर हृदय में यह प्रश्न पैदा होता है, किन्तु अभी उसके सम्बन्ध में विशेष नहीं कहा जा सकता है। अस्तु,

वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि में बाण की कादम्बरी की झलक मारती है अतः वादीभसिंह को राजा हर्ष (६१०–६५०) के समकालीन बाणकवि के पश्चात् का विद्वान मानना होगा। यह समय अकलंकदेव के निर्धारित समय के सर्वथा अनुकूल बैठता है, क्योंकि अकलंक के समकालीन पुष्पषेण का समय ई० ६२० से ६८० तक मानने पर उनके शिष्य वादीभसिंह को ई० ६५० के बाद ही रखना होगा।

किन्तु इसमें एक बाधा उपस्थित होती है। यशस्तिलकचम्पू के द्वितीय उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागरसूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्यका 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्री वादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' पद्य उद्धृत करके वादीभसिंह को वादिराज का गुरु-भाई और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। यद्यपि सोमदेव ने शक सं० ८८१ (ई० ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू समाप्त किया था, और वादिराज ने शक सं० ९४७ (ई० १०२५) में अपना पार्श्वनाथचरित समाप्त किया था। किन्तु जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नहीं होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि, दोनों विद्वानों में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने न्यायविनिश्चयालङ्कार के अन्त में दी गई प्रशस्ति में मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पषेण का स्मरण करते हैं, अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें तो अकलंकदेव के सतीर्थ्य पुष्पषेण ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

आदिपुराणकार जिनसेनस्वामी ने वादिसिंह नामके एक आचार्य का स्मरण निम्न शब्दों में किया है—

"कवित्वस्य परा सीमा वाग्मितस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥"

इससे प्रतीत होता है कि वादिसिंह बड़े भारी कवि और उत्कृष्ट वाग्मी थे। अपने पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में वादिराज ने भी वादिसिंह का स्मरण इस प्रकार किया है—

"स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः॥"

इस श्लोक में बौद्धाचार्य दिङ्नाग और कीर्ति (धर्मकीर्ति) का ग्रहण करके वादिसिंह को उनका समकालीन बतलाया है। प्रेमीजी का मत है कि वादीभसिंह और वादिसिंह एक ही व्यक्ति हैं। यदि यह सत्य है तो इन उल्लेखों से वादीभसिंह के सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के

विद्वान होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

कुमारसेन और कुमारनन्दि—हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में कुमारसेन का स्मरण किया है। और विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री के अन्त में लिखते हैं कि कुमारसेन की उक्ति से उनकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई है। कुमारनन्दि भट्टारक का उल्लेख भी विद्यानन्द के ग्रन्थों में ही दीख पड़ता है। उन्होंने अपनी प्रमाणपरीक्षा में 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः' करके कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे ये दोनों विद्वान ईसा की आठवीं शताब्दी के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। अतः उन्हें अकलंक का समकालीन नहीं माना जा सकता।

वीरसेन—जिनसेन के गुरु वीरसेन का स्मरण हरिवंशपुराण (ई० ७८३) के कर्ता ने किया है। इन्होंने शक सं० ७३८ (ई० ८१६) में धवलाटीका को समाप्त किया था। अतः ये भी अकलंक के समकालीन नहीं माने जा सकते।

परवादिमल्लदेव—मल्लिषेणप्रशस्ति में इन्हें बड़ा भारी वादी बतलाया है जैसा कि इनके नाम से व्यक्त होता है। तथा उक्त प्रशस्ति से ही यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णराज के पूछने पर इन्होंने अपने नाम की निरुक्ति बतलाई थी। राष्ट्रकूट राजाओं में कृष्णराज नाम के एक प्रतापी राजा हो गये हैं, जिनकी उपाधि शुभतुंग थी और अकलंक को जिनका समकालीन कहा जाता था। यदि परवादिमल्लदेव इन्हीं कृष्णराज के समकालीन हैं तो अब वे भी अकलङ्कदेव के समकालीन नहीं हो सकते, क्यों कि कृष्णराज प्रथम के राज्यारोहण का काल ई० ७६० के लगभग माना जाता है।

श्रीपाल—आदिपुराण (ई० ८३८) के कर्ता ने श्रीपाल नाम के एक विद्वान का स्मरण किया है। यह वीरसेनाचार्य के समकालीन थे। इन्होंने जयधवलाटीका का सम्पादन किया था। अतः इन्हें भी अकलंक की समकालीनता का लाभ नहीं हो सकता।

माणिक्यनन्दि—माणिक्यनन्दि तथा अकलंक के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना पहले कर आये हैं और यह भी बतला आये हैं कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का उनके परीक्षामुख सूत्र पर प्रभाव है। परीक्षामुख सूत्र के टीकाकार प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य के सिवा किसी दूसरे ने इनका उल्लेख नहीं किया। अतः इन्हें अकलंक और प्रभाचन्द्र के मध्यकाल का विद्वान कहा जा सकता है। माणिक्यनन्दि और विद्यानन्द का एक दूसरे के ग्रन्थों पर कोई प्रभाव नहीं ज्ञात होता, अतः संभव है ये दोनों विद्वान समकालीन हों। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन नहीं माना जा सकता।

विद्यानन्द—विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर तथा मण्डनमिश्र का उल्लेख किया है। तथा सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक से कारिकाएँ उद्धृत की हैं। धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर ईसा की आठवीं शताब्दी के विद्वान हैं, यह हम सिद्ध कर आये हैं। मण्डनमिश्र के समय के बारे में अनेक मत हैं, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि वे कुमारिल के बाद के हैं। सुरेश्वराचार्य, शंकराचार्य के शिष्य थे। शंकर के समय के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उनमें से एक मत है कि शंकराचार्य का काल ई० ७८८ से ८२० तक है। आजकल इसी मत की विशेष मान्यता है और ऐतिहासिक अनुशीलन से भी यही प्रमाणित होता है। इसी से पी[1]. वी. काने (P. V. Kane) ने सुरेश्वर का कार्यकाल ई० ८०० से ८४० तक

१ देखो, तत्त्वबिन्दु की रामस्वामीशास्त्री लिखित अंग्रेजी प्रस्तावना।

निर्धारित किया है। इस कालनिर्णय के अनुसार विद्यानन्द नवमी शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित होते हैं, अतः वे अकलंक के समकालीन नहीं हो सकते।

अनन्तवीर्य—सिद्धिविनिश्चयटीका के रचयिता अनन्तवीर्य ने भी धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर और अर्चट का उल्लेख किया है। हेतुबिन्दुटीका के रचयिता अर्चट का समय राहुलजी ने ८२५ ई० लिखा है। अतः अनन्तवीर्य भी नवमी शताब्दी के विद्वान प्रमाणित होते हैं। इस लिये ये भी अकलंक के समकालीन नहीं थे।

प्रभाचन्द्र—न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र ने विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है, अतः जब विद्यानन्द और अनन्तवीर्य ही अकलंक के समकालीन प्रमाणित नहीं होते तब प्रभाचन्द्र की तो बात ही क्या है। इस प्रकार अकलंक के सातवीं शताब्दी का विद्वान् सिद्ध हो जाने के कारण उनके समकालीन कहे जानेवाले विद्वानों में उनके सधर्मा पुष्पषेण और पुष्पषेण के शिष्य वादीभसिंह ही अकलंक के समकालीन प्रमाणित होते हैं। संशयकोटि में माणिक्यनन्दि, कुमारसेन और कुमारनन्दि भट्टारक को रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त आचार्य सुमति और वराङ्गचरित के रचयिता जटिलकवि अकलंक के समकालीन ज्ञात होते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में, जो आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है, सुमतिदेव की कुछ कारिकाएँ उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है। तथा वरांगचरित का रचनाकाल सातवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। अतः ये दोनों जैनाचार्य अकलंक के समकालीन मालूम होते हैं।

न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र और उनका समय

जैनसाहित्य और पुरातत्त्व का आलोडन करने से प्रभाचन्द्र नाम के व्यक्तियों की एक लम्बी तालिका तैयार हो जाती है। किन्तु उनमें से प्रत्येक का जो कुछ परिचय प्राप्त होता है, वह इतना अपर्याप्त है कि उसके आधार पर हम उनकी समानता या असमानता का निर्णय नहीं कर सकते। हमारे विचार में उनकी बहुतायत का यह भी एक कारण हो सकता है। न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के बारे में उनकी प्रशस्तियों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे।

प्रशस्तियों के परिचयविषयक श्लोक निम्न प्रकार हैं —

१ "बोधो मे न तथाविधोऽस्ति न च सरस्वत्या प्रदत्तो वरः
साहाय्यं च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये।
यत्पुण्यं जिननाथभक्तिजनितं येनायमत्यद्भुतः
संजातो निखिलार्थबोधनिलयः साधुप्रसादात्परः ॥ १ ॥

× × ×

१ देखो 'वरांगचरित' शीर्षक प्रो० उपाध्याय का लेख, जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक ६। २ तत्त्वार्थवृत्ति की टीका की प्रशस्ति में तीन श्लोक हैं, प्रमेयकमल की प्रशस्ति में चार और न्यायकुमुद की प्रशस्ति में पाँच। इस प्रकार प्रशस्ति में क्रमशः एक एक श्लोक अधिक होना संभवतः उनके रचनाक्रम को सूचित करता है। अर्थात् प्रथम तत्त्वार्थवृत्ति की टीका रची गई, उसके पश्चात् प्रमेयकमल और उसके पश्चात् न्यायकुमुद।

भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधिर्योऽभूज्जगद्भूषणः
सिद्धान्ताादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनान्दिप्रभुः ।
ताच्छिष्याादकलङ्कमार्गनिरतात्सन्न्यायमार्गोऽखिलः
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचन्द्रतः ॥ ४ ॥
अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥ ५ ॥"

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः ।

२ *"गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं*
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनान्दिप्रभोः ।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥

× × ×

गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नान्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥ २ ॥
श्री पद्मनान्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् रत्ननान्दिपदे रतः ॥ ४ ॥"

श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केनश्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।

३ *"ज्ञानेस्वच्छजलस्सुरत्ननितर (कर) श्चारित्रवीचीचयः*
सिद्धान्ताादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।

---

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति के अन्तिम दो श्लोकों को पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रभाचन्द्र की कृति नहीं मानते । प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तिम दो श्लोकों के बारे में आप लिखते हैं[1]—" इन पद्यों से पहले दो पद्यों और न्यायकुमुदचन्द्र की प्रशस्ति को देखते हुए, ये दोनों श्लोक अपने साहित्य और कथनशैली पर से प्रभाचन्द्र के मालूम नहीं होते । बल्कि प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले किसी दूसरे विद्वान् के जान पड़ते हैं ।" इसी तरह तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति के बारे में आपने लिखा है—"इनमें पहला पद्य तो प्रभाचन्द्र द्वारा रचित है और वह अपने साहित्यादि पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र के अन्तिम पद्यों के साथ ठीक तुलना किया जा सकता है । शेष दोनों पद्य दूसरे विद्वान द्वारा इस पद्य पर लिखी गई टीका-टिप्पणी के पद्य जान पड़ते हैं और वे संभवतः उसी विद्वान के पद्य हैं जिसने प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका लिखी है ।" मुख्तार सा० के इस मत से हम सहमत नहीं हैं । हमारा मत है कि ये श्लोक भी मूल प्रशस्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि प्रथम तो उनकी रचना में कोई ऐसी हीनता प्रतीत नहीं होती, जिस पर से उन्हें प्रभाचन्द्र आचार्य की कृति मानने में बाधा उपस्थित हो । दूसरे, प्रमेयकमल की जिन प्रतियों में 'श्रीमद्भोजदेवराज्ये' आदि वाक्य नहीं है, उनमें भी अन्तिम दोनों पद्य पाये जाते हैं । तीसरे, जहाँ प्रमेयकमलमार्तण्ड में 'रत्ननन्दिपदे रतः'

---

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृष्ठ १३० । २ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १६७ । ३ जयसलमेरकैटलाग (बड़ौदा) ।

ताच्छिष्याच्चिखिलप्रबोधजननं तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं जातं प्रभाचन्द्रतः ॥ १ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्ताशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः ॥ २ ॥
मुनीन्दुर्नन्दितादिन्दचिजमानन्दमन्दिरम् ।
सुधाधारोद्गिरन् मूर्तिः काममामोदयज्जनम् ॥ ३ ॥"

श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४० (६४) में अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य और कुलभूषण के सधर्मा एक प्रभाचन्द्र का उल्लेख है, जो शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथित तर्कग्रन्थकार थे। शिमोगा जिले से मिले हुए नगर ताल्लुके के ४६ वें नम्बर के शिलालेख में एक पद्य निम्न प्रकार पाया जाता है—

"सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

इसमें न्यायकुमुदचन्द्रोदय के कर्ता को शाकटायनसूत्रन्यास का कर्ता बतलाया है। इस न्यास ग्रन्थ का कुछ भाग उपलब्ध है किन्तु उस पर से उसके रचयिता के बारे में कुछ मालूम नहीं होता। किंवदन्ती है कि यह न्यास तथा जैनेन्द्रव्याकरण का शब्दम्भोजभास्कर नाम का महान्यास न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता का ही बनाया हुआ है और शाकटायनन्यास की शैली आदि पर से उसका आभास सा भी होता है। श्रवणबेलगोला के उक्त शिलालेख में प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक बतलाया है और उन्हें शब्दाम्भोरुहभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण के न्यास का नाम) तथा प्रसिद्ध न्यायग्रन्थों के रचयिता लिखा है। अतः उन प्रभाचन्द्र और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के एक ही व्यक्ति होने में किसी प्रकार के सन्देह की संभावना नहीं जान पड़ती।

मुख्तार सा० प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति के 'श्री पद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्यो' आदि श्लोक को और उसके बाद की 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि पंक्ति को प्रमेयकमलमार्तण्ड के टीका-

---

पाठ है, तत्त्वार्थवृत्ति में उसके स्थान पर 'पूज्यपादपदे रतः' पाठ किया गया है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि प्रभाचन्द्र ने ही तत् तत् ग्रन्थकार में अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिये ऐसा लिखा है। किसी टिप्पण या टीकाकार के द्वारा इस प्रकार के लेख की संभावना नहीं की जा सकती। मुख्तार सा० की दूसरी आपत्ति यह है कि न्यायकुमुदचन्द्र में इस तरह के श्लोक नहीं हैं। निस्सन्देह, इस प्रकार के युगल श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र में नहीं हैं, किन्तु अन्य प्रकार का एक श्लोक मौजूद है जिसमें विशेषणरूप से प्रभाचन्द्र की जयकामना की गई है। शेष रह जाता है 'रत्ननन्दिपदे रतः' या 'पूज्यपादपदे रतः' वाला श्लोक, सो 'अकलंकमार्गनिरतात्' पद देकर उसकी भी पूर्ति कर दी गई है। अतः दोनों ग्रन्थों के अन्तिम श्लोकयुगल को प्रभाचन्द्र की ही कृति समझना चाहिये।

१ "अविद्धकर्ण्यादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके। कौमारदेवव्रतितामसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥ तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारान्निधिः सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्म्मो महान्। शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभाचन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्री कुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥" जैनशि० संग्रह, पृ०२६।२ रत्नकरंडश्रावकाचार की प्रस्तावना (मा० ग्र० मा०) पृ० ५८।

टिप्पणकार की रचना मानकर उसके निर्माता को पद्मनन्दि का शिष्य मानते हैं, अर्थात् वे समझते हैं कि प्रमेयकमल के टीका-टिप्पणकार का नाम भी प्रभाचन्द्र था, और वे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे। तथा भोजदेव के राज्यकाल में धारानगरी में रहते थे। इसी से वे इन प्रभाचन्द्र तथा श्रवणबेलगोला के ४० वें शिलालेख में वर्णित प्रभाचन्द्र के बारे में लिखते हैं—"यदि इन प्रभाचन्द्र के गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक और आठवें नम्बरवाले प्रभाचन्द्र के गुरु अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचन्द्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।" हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र ही पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य हैं और उक्त श्लोक भी उन्हीं का बनाया हुआ है, अतः वे, न कि प्रमेयकमल के टिप्पणकार, और उक्त शिलालेख में वर्णित प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं, क्योंकि दोनों के गुरु का नाम एक है तथा शिलालेख में उनके जो विशेषण दिये हैं, वे विशेषण न्यायकुमुद या प्रमेयकमल के रचयिता प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ही घटित होते हैं, क्यों कि इनके सिवाय कोई दूसरे प्रभाचन्द्र शब्दाम्भोजभास्कर और प्रथित-तर्कग्रन्थकार नहीं हुए हैं। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

समयविचार

आदिपुराण के प्रारम्भ में आचार्य जिनसेन ने प्रभाचन्द्र नामके एक आचार्य का स्मरण निम्नशब्दों में किया है—

"चद्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्—"चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत यश के धारक प्रभाचन्द्र कवि का स्तवन करता हूँ, जिन्होंने चन्द्रोदय की रचना करके संसार को आह्लादित (प्रसन्न) किया।" इस चन्द्रोदय को सभी इतिहासज्ञ न्यायकुमुदचन्द्र समझते हैं, और यतः आदिपुराण की रचना ई० ८३८ में हुई थी अतः प्रभाचन्द्र का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवमी का पूर्वार्ध माना जाता है। आदिपुराण के इस उल्लेख के आधार पर निर्धारित किये गये प्रभाचन्द्र के समय में आज तक किसी ने शंका तक भी नहीं की और उसे यहाँ तक प्रमाण माना गया कि न्यायकुमुदचन्द्र का नाम न्यायकुमुदचन्द्रोदय रूढ़ होगया। किन्तु हम सिद्ध कर आये हैं कि उक्त ग्रन्थ का वास्तविक नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही है, चन्द्रोदय नहीं है। सब से प्रथम इस नाम भेद ने ही हमें न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र और चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र के ऐक्य के सम्बन्ध में शङ्कित किया। पश्चात् जब हमने न्यायकुमुदचन्द्र में स्मृत स्वामीविद्यानन्द और अनन्तवीर्य तथा उद्धृत पद्यों के समय की जांच की तो हमारा सन्देह निश्चय में परिणत होगया, और इस परिणाम पर पहुँचे कि आदिपुराण में स्मृत प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पृथक् व्यक्ति हैं। इसका स्पष्टीकरण और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता के समय का विवेचन नीचे किया जाता है।

१ इतिहासप्रेमी पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन और आदिपुराण के कर्ता जिनसेन–दोनों[२] समकालीन थे, तथा हरिवंशपुराण (ई० ७८३)

१ रत्नकरंड (मा० ग्र० मा०) की प्रस्तावना पृ० ६०। २ अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद की प्रस्तावना में गवर्न्मेण्ट संस्कृत कालिज के भूतपूर्व प्रिंसिपल

आदिपुराण (ई०८३८) से पहले रचा गया था। हरिवंशपुराण में भी एक प्रभाचन्द्र का स्मरण किया गया है जो कुमारसेन के शिष्य थे। श्लोक निम्न प्रकार है—

"आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥ ३८॥" प्र० सर्ग

इस श्लोक के 'प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्' पद का 'चन्द्रोदय' शब्द ध्यान देने के योग्य है। यद्यपि यहाँ उसका अर्थ जुदा है, तथापि हमें लगता है कि इसके प्रयोग में श्लेष से काम लिया गया है और वह प्रभाचन्द्र के उस चन्द्रोदय का स्मरण कराता है जिसका उल्लेख आदिपुराण में किया गया है। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि दोनों पुराणों में स्मृत प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं और वे कुमारसेन के शिष्य थे। ऐसी दशा में न्यायकुमुद के कर्ता का पार्थक्य उनसे स्वतः होजाता है क्योंकि इनके गुरु का नाम पद्मनन्दि था।

२ न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र ने स्वामी विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है। यदि आदिपुराण में उल्लिखित प्रभाचन्द्र और उनका चन्द्रोदय प्रकृत प्रभाचन्द्र और उनका ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र ही है तो यह संभव प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार न्यायकुमुदचन्द्र का तो स्मरण करें किन्तु उसमें स्मृत आचार्य विद्यानन्द और अनन्तवीर्य सरीखे यशस्वी ग्रन्थकारों को भूल जायें। विद्यानन्द और अनन्तवीर्य के ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर दोनों का समय ईसा की नवमी शताब्दी से पहले नहीं जाता, अतः उनके स्मरणकर्ता प्रभाचन्द्र का स्मरण नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना आदिपुराण में नहीं किया जा सकता।

३ प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी दर्शनों के प्रख्यात प्रख्यात ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। उनकी रचना पर जिन इतर ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है उनमें जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी का नाम उल्लेखनीय है। कारकसाकल्यवाद का प्रतिष्ठाता जयन्त को ही बतलाया जाता है,

---

श्रीगोपीनाथ कविराज ने गुणभद्र के गुरु जिनसेन को ही हरिवंशपुराण का रचयिता लिखा है। किन्तु यह ठीक नहीं है। हरिवंशपुराणकार ने गुणभद्र के गुरु जिनसेन का स्मरण किया है, अतः ये दोनों जिनसेन दो व्यक्ति हैं। नामसाम्य से इनकी एकता का धोखा लग जाता है।

१ विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री के अन्त में लिखा है कि कुमारसेन की उक्ति से उनकी अष्टसहस्री वर्धमान हुई है, और कुमारसेन तथा उनके यश को उज्ज्वल करने वाले उनके शिष्य प्रभाचन्द्र का स्मरण हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में किया गया है। अतः यदि आदिपुराण (ई० ८३८) की रचना के बाद विद्यानन्द की कृतियों का जन्म माना जायेगा तो उस समय उन्हें कुमारसेन का साहाय्य नहीं मिल सकता। क्योंकि हरिवंशपुराण के उल्लेख के आधार पर उनके समय की अन्तिम अवधि अधिक से अधिक ८०० ई० तक मानी जा सकती है। उक्त कथन में इस प्रकार की विप्रतिपत्ति पैदा की जा सकती है किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो 'उक्ति' से अभिप्राय केवल 'वाचनिक साहाय्य' ही नहीं लिया जाता, बल्कि लिखित भी लिया जाता है जैसा कि न्यायकुमुदचन्द्र के पांचवे परिच्छेद के प्रारम्भ में प्रभाचन्द्र ने लिखा है कि—"मैंने अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से अकलंकदेव की सरणि का खूब अभ्यास किया है"। तथा न्यायविनिश्चयविवरण के प्रारम्भ में वादिराज ने लिखा है कि—"अकलङ्क की वाणी रूपी अगाध भूमि में छिपे हुए पदार्थों को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिखा पद पद पर प्रकाशित करती है"। दोनों उल्लेखों में उक्ति और वचन से अभिप्राय अनन्तवीर्य की रचनाओं का ही लिया गया है। अतः कुमारसेनोक्ति से भी कुमारसेन की कोई रचना ही अभीष्ट प्रतीत होती है। दूसरे, हरिवंशपुराण में स्मृत कुमारसेन ही विद्यानन्द के कुमारसेन है. यह भी अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

जिसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुद दोनों में ही किया है। न्याय-कुमुदचन्द्र में तो न्यायमञ्जरी का एक श्लोक भी उद्धृत किया है। जयन्तभट्ट ने न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका के रचयिता वाचस्पतिमिश्र का 'आचार्याः' करके उल्लेख किया है और मिश्रजी ने ई० ८४१ में अपना न्यायसूचीनिबन्ध रचा था। अतः जयन्तभट्ट का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। ऐसी दशा में ८३८ ई० में रचे गये आदिपुराण में प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र का उल्लेख कैसे हो सकता है ?

४ तथा आदि पुराणकार जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का, जो उनके प्रौढ़काल की रचना जान पड़ती है, ३५ वाँ पद्य न्यायकुमुदचन्द्र में उद्धृत किया गया है। गुणभद्र ने ई० ८९८ में, अर्थात आदिपुराण की रचना से ६० वर्ष के बाद, उत्तरपुराण समाप्त किया था। यदि उस समय उनकी आयु ८० वर्ष की मानी जाये तो भी आदिपुराण की रचना के समय वे २० वर्ष के ठहरते हैं। ऐसी दशा में आत्मानुशासन की रचना करना और उसका उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्र में होना तथा न्यायकुमुदचन्द्र का आदिपुराण के प्रारम्भ में स्मरण किया जाना किसी तरह संभव प्रतीत नहीं होता।

इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिपुराण में चन्द्रोदय के कर्ता जिन प्रभाचन्द्र का स्मरण किया गया है वे न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, किन्तु उनके नामराशि कोई दूसरे ही ग्रन्थकार हैं। अतः आदिपुराण के उल्लेख के आधार पर प्रभाचन्द्र का जो समय निर्णीत किया गया था, वह भ्रान्त है। अतः उसके लिये हमें पुनः प्रयत्न करना होगा।

प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड का उल्लेख वादिदेवसूरि (ई० १०८८–११६९) ने अपने स्याद्वादरत्नाकर में किया है। इससे पहले किसी ग्रन्थ में इनका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में (ई० १०२५) विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदि अनेक ग्रन्थकारों का स्मरण किया है, किन्तु प्रभाचन्द्र का स्मरण उन्होंने भी नहीं किया। अतः प्रभाचन्द्र के समय की अन्तिम अवधि ई० ११५० के लगभग समझनी चाहिये। शाकटायन ने अपने सूत्रों पर अमोघवृत्ति नाम से एक वृत्तिग्रन्थ रचा था। यह वृत्ति, जैसा कि उसके नाम से व्यक्त होता है, महाराज अमोघवर्ष के राज्यकाल में रची गई थी। अमोघवर्ष प्रथम ने ई० ८१५ से ८७८ तक राज किया है। इस अमोघवृत्ति को लेकर ही प्रभाचन्द्र ने शाक-टायनन्यास की रचना की थी। तथा नवमी शताब्दी के विद्वान गुणभद्र के आत्मानुशासन से प्रभाचन्द्र ने एक पद्य उद्धृत किया है, और नवमी शताब्दी के विद्वान विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है, तथा जयन्तभट्ट, जिनका समय नवमी शताब्दी का उत्तरार्ध है, के मत का न्यायकुमुदचन्द्र आदि में न केवल खण्डन ही किया है किन्तु उनकी मञ्जरी से एक

१ न्या० कु०, पृ० ३९३। २ 'न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने 'कादम्बरीकथासार' नामक काव्य की रचना की है। उसके प्रारम्भ में उन्होंने अपनी वंशावली दी है। जिसमें लिखा है कि भारद्वाजकुल में शक्ति नाम का गौड़ ब्राह्मण था, जिसका पौत्र शक्तिस्वामी काश्मीर के कर्कोटवंश के मुक्तापीड ललितादित्य (ई० ७३३–७६९) का मंत्री था। इसका पुत्र कल्याणस्वामी याज्ञवल्क्य के समान बुद्धिमान था। इसी कल्याणस्वामी का पौत्र वृत्तिकार जयन्तभट्ट था। (सं० सा० का इतिहास) इस उल्लेख से शक्तिस्वामी की तीसरी पीढ़ी में जयन्त भट्ट आते हैं। प्रत्येक पीढ़ी का यदि २५ वर्ष समय माना जाये तो नवीं शताब्दी के मध्य में जयन्त का उदयकाल ठहरता है।

पद्य भी उद्धृत किया है, अतः प्रभाचन्द्र के समय की आदि अवधि ई० ९०० प्रमाणित होती है। इस प्रकार ई० ९०० से ११५० तक के बीच में किसी समय प्रभाचन्द्र का उदय समझना चाहिए। अब हम इस लम्बी अवधि को सङ्कुचित करके प्रभाचन्द्र का ठीक समय निर्धारित करने का प्रयत्न करेंगे।

इतर दर्शनों के साथ न्यायकुमुदचन्द्र की तुलना करते हुए बतलाया गया है कि वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में व्योमवती टीका का प्रभाव प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों पर है। इस टीका में प्रतिपादित मोक्षस्वरूपविचारणा के साथ प्रमेयकमलमार्तण्ड के द्वितीय अध्याय के अन्त में निरूपित मोक्षविचारणा का मिलान करने पर इसमें कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि प्रभाचन्द्र ने इस विचारणा को शब्दशः व्योमवतीटीका से लिया है। तथा उसी प्रकरण में व्योमवतीटीका में जो अनेकान्तभावना के अभ्यास से मोक्ष मानने का खण्डन किया है उसका भी खण्डन प्रमेयकमलमार्तण्ड में पाया जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि प्रभाचन्द्र ने व्योमवती को देखा था। जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी, व्योमशिव की व्योमवती और उदयन की किरणावली की अन्तरंग-परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि व्योमशिव ने 'अन्ये तु' करके जयन्त का उल्लेख किया है और किरणावलीकार ने व्योमशिव का 'आचार्य' शब्द से उल्लेख किया है। अतः जयन्त और उदयन के बीच में व्योमशिव को रखना होगा। जयन्त का समय ईसा की नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है और उदयन ने ई० ९८४ में अपनी लक्षणावली समाप्त की थी, अतः ई० ९०० से ९८० तक के समय में व्योमशिव[1] का कार्यकाल समझना चाहिये। यदि इस समय को घटाकर व्योमशिव के समय को अन्तिम अवधि ई० ९५० मान ली जाये तो इसके बाद प्रभाचन्द्र का समय मानना होगा।

पुष्पदन्त कवि कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण पर आचार्य प्रभाचन्द्रकृत एक टिप्पण उपलब्ध है। रत्नकरंड की प्रस्तावना में उसकी अन्तिम प्रशस्ति उद्धृत की गई है, जो निम्नप्रकार है—[2]

"नित्यं तत्र तव प्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातन्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः।
व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्वस्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
तत्त्वाधारमहापुराणगमनद्योती जनानन्दनः
सर्वप्राणिमनःप्रमेदपटुताप्रस्पष्टवाक्यैः करैः।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचन्द्रतः
जीयाट्टिप्पणकः प्रचण्डतरणिः सर्वार्थमग्रद्युतिः ॥ २ ॥

श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।"

---

१ डा० कीथ ने अपने इन्डियन लॉजिक में भी व्योमशिव का लगभग यही समय बतलाया है।

२ पृ० ६१।

महापुराण का जो प्रथमखण्ड इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उस की प्रस्तावना में प्रभाचन्द्र के टिप्पण की जयपुरवाली प्रति से एक अन्तिम वाक्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेन-सैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणकांचालोक्य कृतमिदंसमुच्चयटिप्पणंअज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला··· रगण श्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्री भोज-देवस्य ॥१०२॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्।" इसमें लिखा है कि भोजदेव के राज्य में विक्रम सम्वत् १०८० (ई० १०२३) में चन्द्रमुनि ने यह टिप्पण रचा था। श्रीयुत वैद्य ने इस लेख को प्रमाण मानकर इसका रचनाकाल ई० १०२३ ही स्वीकार किया है। इस उल्लेख की प्रामाणिकता पर विश्वास करके रत्नकरंड की प्रस्तावना में उद्धृत उक्त[1] प्रशस्ति का अन्तिम वाक्य 'श्रीजयसिंहदेव राज्ये···' आदि ठीक नहीं जान पड़ता, क्यों कि भोजदेव की मृत्यु के बाद ई० १०५६–५७ में जयसिंह मालवा के सिंहासन पर बैठा था। यहाँ हम इस अन्तिम वाक्य के सम्बन्ध में विचार करेंगे, क्यों कि प्रमेयकमलमार्तण्ड की मुद्रित प्रति के अन्त में तथा न्यायकुमुदचन्द्र की भा० और श्र० प्रति के अन्त में भी इसी प्रकार के वाक्य मिलते हैं। केवल इतना अन्तर है कि मार्तण्ड में 'श्री भोजदेवराज्ये···परीक्षामुखपद-मिदं विवृतम्' लिखा है तथा न्यायकुमुद में 'श्री जयसिंहदेव राज्ये···न्यायकुमुदचन्द्रो लघीय-स्त्रयालङ्कारः कृत इति मङ्गलम्' लिखा है। न्यायकुमुदचन्द्र के आरम्भिक श्लोकों से स्पष्ट है कि प्रमेयकमल की रचना के बाद न्यायकुमुद की रचना की गई है। अतः पहले की रचना भोज-देव के समय में और दूसरे की उसके उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के समय में हुई, इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम भी ठीक ठीक बैठ जाता है। पहले प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० के कर्ता प्रभाचन्द्र का समय ईस्वी आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और नवमी का पूर्वार्ध माना जाता था अतः पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने प्रमेयकमल० के अन्तिम वाक्य को उसके टीका-टिप्पण-कार का बतलाया था। किन्तु विचार करने पर प्रभाचन्द्र ईसा की दसवीं शताब्दी से पहले के विद्वान प्रमाणित नहीं होते अतः उक्त वाक्यों को टीका-टिप्पणकार का भी कहकर नहीं टाला जा सकता। तब क्या ये वाक्य स्वयं प्रभाचन्द्र के हैं? यदि ऐसा हो तो वे धारा के भोज और उसके उतराधिकारी जयसिंह के समकालीन प्रमाणित होते हैं। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें पुनः महापुराण के प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण के प्रशस्ति श्लोकों पर दृष्टिपात करना होगा।

न्यायकुमुद० और प्रमेयकमल० के आदि और अन्त के श्लोकों के साथ टिप्पण के प्रशस्ति-श्लोकों का मिलान करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि टिप्पणकार ने अपने प्रशस्तिश्लोकों को उक्तग्रन्थ के श्लोकों की छाया में बैठकर बनाया है, उन्होंने किसी श्लोक का कोई पद और किसी श्लोक का कोई पद लेकर उक्त श्लोकों को रचना की है। दो श्लोकों की आठ पंक्तियों में से प्रायः एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है, जिसमें एक आधा पद प्रमेयकमल या न्यायकुमुद के श्लोकों से न लिया गया हो। स्पष्टीकरण के लिये—दूसरी पंक्ति का 'यातन्तेन समस्तवस्तु-विषयम्' पद न्या० कु० के प्रारम्भ के श्लोक ५ वें के 'जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्' से लिया गया है। चौथी पंक्ति "भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चंद्रार्कतारावधि" प्रमेयकमल० की प्रशस्ति के श्लोक के "स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि" पद

१ प्रो० हीरालालजी से ज्ञात हुआ है कि जयपुर की उक्त प्रति में उक्त प्रशस्तिश्लोक नहीं हैं।

की ही प्रतिकृति है। छठवीं पंक्ति का 'सर्वप्राणिमनः प्रभेद' पद प्र० मा० के प्रारम्भ के श्लोक के 'सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दु' का ही अनुसरण है। अन्तिम की दो पक्तियां भी प्र० मा० की प्रशस्ति के श्लोक की—"शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्, जीयात् सोऽत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्तण्डतुल्योऽमलः," इन पंक्तियों से ही ली गई हैं। सारांश यह है कि उक्त दो श्लोक प्र० मा० और न्या० कु० के श्लोकों के आधार पर ही रचे गये हैं। इस पर से मुख्तार सा० ने इस आशंका को प्रगट करते हुए, कि प्रमेयकमल आदि के कर्ता प्रभाचन्द्र ही उत्तरपुराण के टिप्पणकार हैं, उसका निराकरण किया है और वही समय-वाला बाधक प्रमाण दिया है। टिप्पण के अन्तिम वाक्यों का पर्यवेक्षण करने से न्या० कु० के कर्ता और टिप्पण के कर्ता एक ही व्यक्ति नहीं जान पड़ते। न्या० कु० के कर्ता ने अपनी प्रत्येक कृति के अन्त में अपने गुरु पद्मनन्दि का स्मरण किया है किन्तु टिप्पणवाली प्रशस्ति में ऐसा नहीं है। तथा टिप्पण के जिस अन्तिम वाक्य में समय दिया है उसमें टिप्पणकार ने अपने गुरु को बलात्कारगण के श्रीसंघ का आचार्य बतलाया है तथा उन्हें सत्कवि लिखा है यथा-'बला···रगण श्री संघाचार्यसत्कविशिष्येण'। सत्कवि नाम तो प्रतीत नहीं होता, उपाधि अवश्य हो सकती है। संभव है पाठ अशुद्ध हो या नाम लिखने से छूट गया हो। किन्तु न्या० कु० के कर्ता ने अपने संघ, गण या गच्छ का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्र के गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक को गोल्लाचार्य का प्रशिष्य बतलाया है और गोल्लाचार्य को देशीयगण का आचार्य लिखा है। यदि यह परम्परा ठीक हो तो प्रभाचन्द्र के गुरु देशीयगण के आचार्य ठहरते हैं। अतः दोनों प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति नहीं हैं। टिप्पण के अन्तिम श्लोकों का प्र० क० और न्या० कु० के साथ मिलान करते हुए हम लिख आये हैं कि उन श्लोकों की रचना उक्त दोनों ग्रन्थों के श्लोकों को देखकर की गई है और टिप्पण का रचनाकाल १०२३ ई० लिखा है अतः उससे यह प्रमाणित होता है कि इस समय से पहले न्यायकुमुद और प्रमेयकमल की रचना हो चुकी थी।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि टिप्पण, न्यायकुमुद तथा प्रमेयकमल की किसी किसी प्रति के अन्त में जो वाक्य लिखा मिलता है वह पीछे के किसी व्यक्ति की करतूत है। वह व्यक्ति चाहे कोई टीका-टिप्पणकार हो या अन्य कोई हो, क्योंकि प्रभाचन्द्रभट्टारककृत गद्यकथाकोश की जो प्रति हमें श्रीयुत प्रेमीजी की कृपा से प्राप्त हो सकी है उसमें भी यह वाक्य मिलता है तथा उसकी प्रशस्ति के श्लोकों में भी न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र का अनुसरण किया गया है। प्रति में ८९ वीं कथा की समाप्ति के बाद लिखा है—

"यैराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधनां निर्मलां
प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवर्गप्रदा ? ।
तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता
स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः ।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणां सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ ॥ २ ॥

१ रत्न० प्रस्ता० पृ० ६२ ।

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः ॥" इसके बाद पुनः कथाएँ प्रारम्भ होजाती हैं। अन्त में 'सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः' आदि पद लिखकर "इति भट्टारक श्रीप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" लिखा है। यह प्रति सम्वत् १६३८ की लिखी हुई है।

जिन ग्रन्थों की जिन प्रतियों के अन्त में उक्त प्रकार का वाक्य पाया जाता है उन की जांच करने से शायद इस प्रवृत्ति के चलन पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। वर्तमान में इसके सम्बन्ध में कुछ कह सकना संभव नहीं है। अस्तु।

इस प्रकार प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण के प्रशस्तिश्लोकों की परीक्षा के परिणामस्वरूप न्यायकुमुद के कर्ता का समय ई० १०२३ के बाद नहीं जाता और व्योमवतीटीका के रचयिता के समय की अवधि ९५० ई० मानने पर प्रभाचन्द्र उसके पहले के विद्वान नहीं हो सकते। अतः ई० ९५० से १०२० तक के मध्य में प्रभाचन्द्र का कार्यकाल प्रमाणित होता है। अतः प्रभाचन्द्र को ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान समझना चाहिये। यह वादिराज के गुरुसमकालीन थे इसी से वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित में (१०२५ ई०) अनेक आचार्यों का स्मरण करने पर भी इनका स्मरण नहीं किया है।

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि भी प्रभाचन्द्र के लघुसमकालीन ज्ञात होते हैं, क्योंकि उनके टीकाग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र के दोनों ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत होता है। और पं० सुखलाल वेचरदास जी ने उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और ग्यारवीं का पूर्वार्ध बतलाया है[1] अतः सन्मतिटीका के रचनाकाल में प्रभाचन्द्र की वृद्धावस्था होनी चाहिये।

प्रभाचन्द्र का बहुश्रुतत्व

आचार्य प्रभाचन्द्र एक बहुश्रुत विद्वान थे। न्यायकुमुदचन्द्र के टिप्पणों तथा प्रस्तावना में दर्शित तुलना से उनके व्यापकज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। सभी दर्शनों के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का उन्होंने अभ्यास किया था, उनका इतरदर्शनविषयक ज्ञान केवल ऊपरी न था; बल्कि वे प्रत्येक दर्शन के अन्तस्तल में प्रवेश किये हुए थे। यदि ऐसा न होता तो वे अपनी कृतियों में इतने अधिक सफल न हुए होते। इतरमतों की आलोचना करने से पूर्व वे उनके जो पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं वे इतने परिपूर्ण और न्याय्य होते हैं कि उन्हे पढ़कर विपक्षी का आशय स्पष्टतया समझ में आ जाता है और ऐसा मालूम नहीं होता कि लेखक अपनी ओर से झूठी बातें गढ़कर विपक्षी के सिर पर लाद रहा है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं उनमें से कुछ की तालिका निम्न प्रकार है—न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमञ्जरी, वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तपादभाष्य, पातञ्जलमहाभाष्य, योगसूत्र, व्यासभाष्य, सांख्यकारिका, शाबरभाष्य, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, छान्दोग्योपनिषत्, बृहदारण्यक, अभिधर्मकोश, न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, माध्यमिकवृत्ति आदि। ये सभी ग्रन्थ अपने अपने दर्शन के मौलिक ग्रन्थ हैं और उनका उपयोग करने से प्रभाचन्द्र के बहुश्रुत विद्वान होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

---

१ सन्मति० की गुजराती प्रस्तावना पृ० ८५।

प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ

प्रभाचन्द्र के तीन ग्रन्थों का ही पता अब तक चल सका है। यदि शाकटायनन्यास भी इन्हीं प्रभाचन्द्र की रचना है, जैसा कि शिलालेखों के उल्लेख से स्पष्ट है तो इनके चार ग्रन्थ कहे जाने चाहिये। उनका परिचय संक्षेप में निम्न प्रकार है—

प्रमेयकमलमार्तण्ड—माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ का यह विस्तृत भाष्य है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में भी प्रभाचन्द्र ने अपने गुरु का नाम पद्मनन्दिसैद्धान्तिक लिखा है। तथा न्यायकुमुदचन्द्र के 'माणिक्यनन्दिपदमप्रतिमप्रबोधम्' आदि श्लोक से स्पष्ट है कि न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता की ही यह रचना है और उससे पहले इसका निर्माण हुआ है। परीक्षामुख शुद्धन्याय का ग्रन्थ है अतः प्रमेयकमल का प्रतिपाद्य विषय भी न्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। सन्मतिटीकाकार अभयदेवसूरि और स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि ने इसग्रन्थ का विशेष अनुसरण किया है। स्याद्वादरत्नाकर में तो प्रमेयकमल और उसके रचयिता का नामनिर्देश भी किया है और स्त्री मुक्ति तथा केवलिभुक्ति के समर्थन में उसकी युक्तियों का खण्डन किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र—प्रस्तावना के प्रारम्भ में इसकी आलोचना तथा विषयनिरूपण कर आये हैं। इसके बहुत से विषय प्रमेयकमलमार्तण्ड से मिलते हैं, किन्तु उनमें द्विरुक्ति नहीं आने पायी है। प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना के बाद जो नवीन नवीन युक्तियां ग्रन्थकार के विचार में अवतरित हुईं उनका निर्देश इसमें किया गया है, तथा जिन विषयों में द्विरुक्ति होने की संभावना थी उनका निरूपण न करके प्रमेयकमलमार्तण्ड में उन्हें देखलेने का अनुरोध कर दिया है। फिर भी इसमें अनेक ऐसे विषय हैं जो प्रमेयकमल में नहीं है। यद्यपि इसका मुख्य कारण मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय भी है क्यों कि उसमें नय और निक्षेप की विस्तृत चर्चा है, जो परीक्षामुख में नहीं है, तथापि ग्रन्थकार ने भी अपने स्वतंत्र प्रबन्धों में बहुत सी मौलिक बातें बतलाई हैं। उदाहरण के लिये–वैभाषिकसम्मत प्रतीत्यसमुत्पाद का खण्डन, संस्कृत और प्राकृत भाषा के साधुत्व और असाधुत्व की चर्चा, प्रतिबिम्बविचार, तम और छाया को द्रव्यत्वसिद्धि आदि प्रकरणों का नाम उल्लेखनीय है। इसके सिवा न्यायकुमुद की रचनाशैली भी प्रसन्न और मनोमुग्धकर है जैसा कि प्रारम्भ में लिख आये हैं।

तत्त्वार्थवृत्ति—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसके अस्तित्व की सूचना प्रकाशित की थी और उसकी प्रति का भी परिचय दिया था। किन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि यह प्रति किस भण्डार में मौजूद है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की यह लघुवृत्ति है। इसमें सर्वार्थसिद्धि के अप्रकटित पदों को व्यक्त किया गया है। प्रारम्भिक भाग निम्नप्रकार है "कश्चिद्भव्यः प्रसिध्येकनामा प्रत्यासन्ननिष्ठः निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः।"

इसकी प्रशस्ति उद्धृत कर आये हैं। उस से स्पष्ट है कि यह न्यायकुमुद के रचयिता की ही कृति है। यद्यपि प्रशस्ति आदि से ही न्यायकुमुदचन्द्र और इस वृत्ति का एककर्तृकत्व प्रतीत हो जाता है, किन्तु प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थ पर कोई वृत्ति लिखी थी, यह बात स्याद्वादरत्नाकर

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९७।

के एक उल्लेख से भी प्रमाणित होती है। केवलिभुक्ति के निषेधक दिगम्बरों के मत की आलोचना करते हुए वादिदेवसूरि लिखते हैं—"प्रभाचन्द्रस्तु 'छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश' इति 'बादरसाम्पराये सर्वे' इति च पूर्वापरपरिगतां सूत्रद्वयीं विधिपरां परामृशताऽन्तरालिकं तु 'एकादश जिने' इति सूत्रं निषेधनिष्ठं निष्टङ्कयितुमेकादशशब्दस्यैकाधिकदशस्वरूपं प्रसिद्धं सम्भविनं चार्थमवगणय्य···एकेनाधिका न दश एकादश इति व्युत्पत्तेः इत्येवमर्थं परिकल्पयन्···" इत्यादि। इसमें लिखा है कि प्रभाचन्द्र 'सूक्ष्मसाम्परायययोश्चतुर्दश' तथा 'बादरसाम्पराये सर्वे' इन दोनों सूत्रों का अर्थ तो विधिपरक करते हैं किन्तु इन दोनों के बीच में पड़े हुए 'एकादशजिने' सूत्र का अर्थ 'एकेनाधिका न दश एकादश' करके निषेधपरक करते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में केवलिभुक्ति के खण्डन में 'एकादशजिने' का उक्त अर्थ किया गया है, किन्तु वहाँ आगे और पीछे के शेष दो सूत्रों का कोई उल्लेख नहीं है। इससे पता चलता है कि प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थ पर भी कोई वृत्ति रची है जिसमें उक्त तीनों सूत्रों में से दो का अर्थ विधिपरक किया है।

शाकटायनन्यास—शिलालेखों के उल्लेख तथा किंवदन्तो के आधार पर यह ग्रन्थ भी न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र की ही कृति कहा जाता है। ग्रन्थ का कुछ भाग उपलब्ध होने पर भी उसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक बात का पता उससे नहीं चल सका।

इस प्रकार ये चार ग्रन्थ, जिनमें से तीन विशालकाय हैं और एक लघुकाय, अपने कर्ता के पाण्डित्य और नाम को आचन्द्रदिवाकर अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ हैं।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का तुलनात्मक परिचय और ग्रन्थकारों का विस्तृत इतिवृत्त देने के पश्चात इस प्रस्तावना को यहीं समाप्त किया जाता है।

आत्मनिवेदन और आभारप्रदर्शन

न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में सहयोग का वचन देने पर जो कार्य मेरे सुपुर्द किया गया, उसमें यह प्रस्तावना भी थी। मैं इस कार्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ यह तो ऐतिहासिकों की पर्यालोचना से ही जाना जा सकेगा। इतिहास का विषय अति जटिल है, पद पद पर भ्रम होने की संभावना बनी रहती है। तथा ऐतिहासिक को उपलब्ध सामग्री और कल्पना के आधार पर ही अपना अन्वेषणकार्य करना होता है। फलतः किसी नवीन सामग्री के प्रकाश में आने पर कभी कभी सब करा कराया चौपट हो जाता है। अतः ऐतिहासिक के सामने सफलता की अपेक्षा असफलता की ही संभावना अधिक रहती है किन्तु इससे वह अपने कार्य से विरत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो आज संसार का प्राचीन इतिवृत्त अन्धकार में ही छिपा रहता। यही सब बातें सोच विचार कर मैंने इस दिशा में पग बढ़ाया है। मेरे इस प्रयास से भारत के दार्शनिक महापुरुषों के समय निर्धारण में यदि थोड़ी सी भी प्रगति हुई और ऐतिहासिक पर्यालोचना को अनुपयोगी समझकर उधर से आंख बन्द करनेवाली विद्वन्मण्डली का ध्यान इस ओर आकर्षित होसका तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

अन्त में, मैं उन सब महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट किये बिना नहीं रह सकता, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से मुझे अपने कार्य में सहायता मिल सकी है। इस प्रस्तावना की रूपरेखा सन्मतितर्क की गुजराती प्रस्तावना की आभारी है। सहयोगी होने के

नाते पं० महेन्द्रकुमार जी से तो पूरी सहायता मिलनी ही चाहिये थी। और वह मिली भी है। सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह का परिचय तथा न्यायकुमुद की इतर दर्शनों के ग्रन्थों के साथ तुलना तो उनकी ही लेखनी से प्रसूत हुई है, और प्रभाचन्द्र के समयनिर्द्धारण में उससे काफी सहायता मिली है। श्वेताम्बरविद्वान मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने कृपा करके प्राकृतकथावली ग्रन्थ की प्रेसकापी से हरिभद्रसूरि की कथा का भाग भेज दिया था। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश की प्रति अवलोकनार्थ भेजने की कृपा की थी। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने समय समय पर पत्रों का उत्तर देकर तथा अकलंक नाम के विद्वानों की सूची भेजकर अनुगृहीत किया है। प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने डा० पाठक के लेखों की सूची, पत्र-पत्रिकाओं के स्थल निर्देश के साथ भेजने का कष्ट किया था। प्रो० हीरालाल जी ने पुष्पदन्तकृत महापुराण के टिप्पण के बारे में जो कुछ पूछा गया उसका तुरन्त उत्तर देकर अनुगृहीत किया। इन महानुभावों के सिवाय, मेरे अनुजतुल्य श्री खुशालचन्द्र वात्सल्य द्वारा, जो हिन्दूविश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा में अध्ययन करते हैं, हिन्दू विश्वविद्यालय की विशाल लाइब्रेरी से बहुत सी आवश्यक पुस्तकें और पत्रिकाएँ देखने को मिल सकीं तथा प्रूफसंशोधन में उन्होंने पूरी पूरी सहायता पहुंचाई है। उक्त सभी सज्जनों और बन्धुजनों का मैं हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ।

स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, बनारस
श्वेत शुक्ला १२, वी० नि० सं० २४६४

कैलाशचन्द्र शास्त्री



प्रस्तावना में उपयुक्त पुस्तक-पत्रों की सूची[1]

संस्कृत

अकलंकप्रायश्चित्त (प्रायश्चित्तादिसंग्रह में)	(माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई)
अकलंकस्तोत्र	(जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता)
आदिपुराण	(पं० लालारामजी की टीका सहित)
गद्यचिन्तामणि	(टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री तंजोर)
चतुर्विंशतिप्रबन्ध	(सिन्धी सिरीज, कलकत्ता)
जैन शिलालेखसंग्रह	(माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई)
जयसलमेर कैटलाग	(गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा)
जैनेन्द्र सूत्रपाठ	(जैनेन्द्र मुद्रणालय, कोल्हापुर)
धर्मसंग्रहणी (उत्तरभाग)	(देवचन्द लालचन्दभाई ट्रस्ट, सूरत)
नेमिदत्तकृत कथाकोष	(बम्बई)
नियमसार टीका	(जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई)
प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोष	(पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रेषित प्रति)
प्रभावकचरित	(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)
प्राकृतकथावली का भाग	(मुनि पुण्यविजय जी द्वारा प्रेषित प्रेसकापी)
पाटन कैटलाग	(गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा)
यशस्तिलकचम्पू	(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)
वासवदत्ता	(कलकत्ता, संस्करण)
स्वरूपसम्बोधन (लघीयस्त्रयादिसंग्रह में)	(माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)
हर्षचरित	(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)
हरिवंशपुराण	(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)

हिन्दी

अनेकान्त (पत्र)	(सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, सरसावा)
ग्रन्थपरीक्षा तीसरा भाग	(लेखक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, सरसावा)
जैनहितैषी (पत्र)	(सम्पादक पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई)
जैनसिद्धान्त भास्कर (पत्र)	(जैन सिद्धान्त भवन, आरा)
जैनदर्शन (पत्र)	(जैन संघ, अम्बाला छाउनी)
जैन साहित्य संशोधक (पत्र)	(सम्पादक मुनि जिनविजयजी)

---

१ इस तालिका में निर्दिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन दार्शनिक ग्रन्थों का उपयोग भूमिका लिखने में किया गया है उनका नामनिर्देश न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त ग्रन्थसूची में किया है।

तिब्बत में बौद्धधर्म (भिक्षु राहुल सांकृत्यायन)
'दिगम्बर जैन' का सिल्वरजुबिली अंक (सम्पादक मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत)
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना (ले० प्रिंसि० गोपीनाथ कविराज काशी)
भारत के प्राचीन राजवंश द्वितीयभाग (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
भारत के प्राचीन राजवंश तृतीयभाग (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भूमिका (माणिकचन्द्रजैन ग्रन्थमाला बम्बई)
हुएनत्सांग का यात्राविवरण (इण्डियन प्रेस, प्रयाग)
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (ले० पं० सीताराम जोशी, विश्वनाथ शास्त्री काशी)
समन्तभद्र (ले० पं० जुगलकिशोर मुख्तार)

गुजराती

जैन साहित्यनो इतिहास (मोहनलाल दुलीचन्द्र देशाई)
प्रभावकचरित्र की प्रस्तावना (मुनि कल्याणविजयजी, आत्मा० जै० स० भावनगर)
सन्मतितर्क की प्रस्तावना (पं० सुखलाल बेचरदासजी अहमदाबाद)
हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास, प्रथमभाग (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद)
हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास, द्वितीयभाग (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद)

ENGLISH.

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona
Buddhist Logic, Part 1 (Professor. Stcherbatsky)
Buddhist Logic, Part 2. (Professor Stcherbatsky)
Catalogus Catalogorum of the Univrsity of Madras.
History of the Indian Logic (S. C. Vidyabhushana)
History of the Mediaeval school of Indian Logic (S. C. Vidyabhushana)
History of the Indian Logic (Dr. Keith)
Inscriptions at Sramanabelgola (Epigraphia Karnataka vol II, second edition)
Introduction of the Maha Purana (Manikch. Granthamala Bombay)
Journal of the Royal Asiatic Society Bombay Branch.
Nyaya Praves'a Pt. 1 (Gaikwara Series Baroda)
Nyaya Praves'a. Pt. 2. (Gaikawara series Baroda)
Raja Tarangini (Translated by R. s. Pandit)
Tattva bindu, Introduction (Annamalai University)
Tattva sam·graha, Introduction (Gaikawara Series Baroda)
Vadanyaya, Introduction (Bhikshu Rahula Sam·krtyayan)

मूल-टिप्पणयुपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम्

अर्थसं०	अर्थसंग्रहः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
अद्वयवज्रसं० तत्त्वरत्ना०	अद्वयवज्रसंग्रहतत्त्वरत्नावली	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
अनुयोगद्वा०	अनुयोगद्वारसूत्रम्	(आगमोदय समिति सूरत)
अनेकान्तवादप्र० टि०	अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणकम्	(हेमचन्द्राचार्यसभा पाटन)
अनेका० प० अनेकान्तजय०	अनेकान्तजयपताका	(काशी यशोविजयग्रन्थमाला)
अभि० कोश अभिधर्मको०	अभिधर्मकोशः	(काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला)
अभिध० व्या०	अभिधर्मकोशनालन्दाव्याख्या	(काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला)
अभि० आलोक	अभिसमयालङ्कारालोकः	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
अमरको०	अमरकोशः	(निर्णयसागर बंबई)
अलंचि०	अलङ्कारचिन्तामणिः	(प्र० नेमीचन्द्र सखारामदोशी सोलापुर)
अवयविनिरा०	अवयविनिराकरणम्	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
अष्टश० अष्टसह०	अष्टशती अष्टसहस्री	(निर्णयसागर प्रेस बंबई)
अष्टसह०	अष्टसहस्री	(निर्णयसागर प्रेस बंबई)
आ०	आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
आ० वि०	आदर्शप्रतौ त्रुटिता विवृतिः	
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	(प्रथमगुच्छक काशी)
आप्तप० आप्तपरी०	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	(,, ,,)
आलापपद्धतिः	आलापपद्धतिः	(नयचक्रसंग्रहः माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
आवश्यकनि० आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्तिः	(आगमोदयसमिति सूरत)
आव० नि० हरि०	आवश्यकनिर्युक्तिहरिभद्रटीका	(आगमोदयसमिति सूरत)
उपायहृदय०	उपायहृदयम्	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
कठोप०	कठोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
कशुरो०	कशुरोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
कात्यायनवार्त्तिकम्	पाणिनिसूत्रोपरि कात्यायनवार्त्तिकम्	(निर्णयसागर बंबई)
कादम्बरी	कादम्बरीकाव्यम्	(निर्णयसागर बंबई)
काव्यानुशा०	काव्यानुशासनम्	(निर्णयसागर बंबई)
कौ० ब्रा०	कौशीतकिब्राह्मणम्	(निर्णयसागर बंबई)
खंडनखंड०	खंडनखंडखाद्यम्	(लाजरस कं० काशी)

गौडपादभा०	सांख्यकारिकागौडपादभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
क्षण० सि०	क्षणभङ्गसिद्धिः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
चतुःश०	चतुःशतकम्	(विश्वभारती शान्तिनिकेतन)
चन्द्रप्रभच०	चन्द्रप्रभचरित्रम्	(निर्णयसागर बम्बई)
चरकसं०	चरकसंहिता	(,, ,,)
चित्सुखी	तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी	(,, ,,)
छन्दोमं०	छन्दोमञ्जरी	(जीवानन्द भट्टाचार्य कलकत्ता)
छान्दोग्यो० छान्दोग्योप०	छान्दोग्योपनिषत्	(निर्णयसागर बम्बई)
ज०	जयपुरीयबाबादुलीचन्द्रभण्डारीया न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
ज० वि०	जयपुरीयबाबादुलीचन्द्रभण्डारीया विवृतेः लिखिता प्रतिः	
जैनतर्कभा०	जैनतर्कभाषा	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्त्तिकम्	(लाजरस कं० काशी)
जैनतर्कवा० वृ०	जैनतर्कवार्त्तिकवृत्तिः	(,, ,,)
तर्कभा० तर्कभाषा	तर्कभाषा केशवमिश्रकृता	(निर्णयसागर बम्बई)
तर्कसं० दी०	तर्कसंग्रहदीपिका	(नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स काशी)
तर्कशा०	तर्कशास्त्रम्	(बड़ोदा गा० सीरिज़)
तत्त्वचि० अव०	तत्त्वचिन्तामणि-अवयवग्रन्थः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
तत्त्वयाथा०	तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रहः	(बड़ौदा गा० सीरिज़)
तत्त्वसं० पं०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका	(बड़ौदा गा० सीरिज़)
तत्त्वा० सू० तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	(जैनग्रन्थरत्नाकर बम्बई)
तत्त्वार्थराज० त० राजवा० राजवा० तत्त्वार्थराजवा०	तत्त्वार्थराजवार्त्तिकम्	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था कलकत्ता)
तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वा०श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम्	(निर्णयसागर प्रेस बम्बई)
तत्त्वार्थसार	तत्त्वार्थसारः	(प्रथमगुच्छक काशी)
तत्त्वार्थाधि०सू०	तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्	(आर्हत्प्रभाकरकार्यालय पूना)
तत्त्वार्थभा० तत्त्वार्थाधिग०भा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्	(आर्हत्प्रभाकरकार्यालय पूना)
तत्त्वार्थभा० व्या०	तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या सिद्धसेनीया	(आगमोदयसमिति सूरत)

तत्त्वो० तत्त्वोप०	तत्त्वोपप्लवसिंहः लिखितः	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषत्	(निर्णयसागर बम्बई)
द्रव्यानुयोगत०	द्रव्यानुयोगतर्कणा	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बई)
धर्मसं०	धर्मसंग्रहणी	(आगमोदयसमिति सूरत)
नयचक्रवृ०	नयचक्रवृत्तिः लिखिता	(श्वे० जैनमन्दिर रामघाट काशी)
नयचक्रसं०	नयचक्रसंग्रहः	(माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
नयोप० वृ०	नयोपदेशवृत्तिः	(आत्मानन्द सभा भावनगर)
न्यायवि० न्या० वि०	न्यायविनिश्चयः न्यायविनिश्चयविवरणाद् उद्धृतः	(स्याद्वाद विद्यालय काशी)
न्यायविनि० वि० न्यायवि० वि०	न्यायविनिश्चयविवरणम् लिखितम्	(स्याद्वाद विद्यालय काशी)
न्यायदी०	न्यायदीपिका	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
न्यायाव०	न्यायावतारः	(श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स बंबई)
न्यायाव० टी०	न्यायावतारटीका	(,, ,, ,,)
न्यायावता० टी० टि० न्यायाव० टि०	न्यायावतारटीकाटिप्पणम्	(,, ,, ,,)
न्यायप्र०	न्यायप्रवेशः	(बड़ौदा गा० सिरीज़)
न्यायप्र० वृ०	न्यायप्रवेशवृत्तिः	(,, ,, ,,)
न्यायप्र० वृत्तिपं० न्यायप्र० वृ० पं०	न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका	(,, ,, ,,)
न्यायवि०	न्यायविन्दुः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायवि० टी०	न्यायबिन्दुटीका	(,, ,, ,,)
न्यायवि० टी० टि०	न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
न्या० सू० न्यायसू०	न्यायसूत्रम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायभा०	न्यायभाष्यम्	(गुजराती प्रेस, बंबई)
न्यायवा० न्या० वा०	न्यायवार्त्तिकम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायवा० ता० टी० न्या० वा० ता० टी० ता० टी०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(,, ,, ,,)
न्यायसू० वृ० न्या० सू० वृ०	न्यायसूत्रवृत्तिः	(,, ,, ,,)
न्यायसार	न्यायसारः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
न्यायसारटी०	न्यायसारतात्पर्यदीपिकाटीका	(,, ,, ,,)

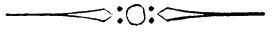
न्यायमं०	न्यायमञ्जरी	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
न्यायकलि०	न्यायकलिका	(प्रिन्स ऑफ वेल्स सीरिज़ काशी)
न्यायकु०	न्यायकुसुमाञ्जलिः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायकु० प्रका०	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशः	(,, ,, ,,)
न्यायली० न्यायलीला०	न्यायलीलावती	(निर्णयसागर बंबई)
न्यायली० प्रका०	न्यायलीलावतीप्रकाशः	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
न्यायली० कण्ठा०	न्यायलीलावतीकण्ठाभरणम्	(,, ,, ,,)
न्यायमुक्ता० दिन०	न्यायमुक्तावली दिनकरी	(निर्णयसागर बंबई)
न्यायसि० मं०	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी	(न्यायकोश पृ० ५५४)
न्यायबो०	तर्कसंग्रहन्यायबोधिनी	(नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स काशी)
न्यायको०	न्यायकोशः	(भाण्डारकर सीरिज़ पूना)
परीक्षामु० परीक्षामुखसू०	परीक्षामुखसूत्रम्	(जैनग्रन्थरत्नाकर बंबई)
पञ्चाध्यायी	पञ्चाध्यायी रायमल्लकृता	(प्र० कलप्पा भरमप्पा निटवे कोल्हापुर)
पञ्चास्तिका०	पञ्चास्तिकायः	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई)
पञ्चा० टी०	पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्तिः	(,, ,, ,,)
पञ्चास्ति० तत्त्व०	पञ्चास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः	
पात० महाभा०	पातञ्जलमहाभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
प्रकरणपं० प्रक० पं०	प्रकरणपञ्जिका	(,, ,, ,,)
प्रज्ञापना	प्रज्ञापनासूत्रम्	(आगमोदयसमिति सूरत)
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रहः लिखितः	(मुनि पुण्यविजयजी पाटन)
प्रमाणपरी० प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था कलकत्ता)
प्रमाणलक्षणटी०	प्रमाणलक्षणटीका	(कलकत्ता)
प्रमाणतत्त्वा० प्रमा०त० प्रमाणत०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	(आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना)
प्रमाणस० प्रमा० स०	प्रमाणसमुच्चयः	(मैसूर युनि० सीरिज़)
प्रमाणसमु० टी०	प्रमाणसमुच्चयटीका	(,, ,, ,,)
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्त्तिकम् पं० राहुलसांकृत्यायनेन संप्रेषितं प्रूफपुस्तकम्	
प्रमाणवा० अलं०	प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारः	(महाबोधि सोसाइटी सारनाथ)
प्रमेयरत्नमा० प्रमेयरत्न०	प्रमेयरत्नमाला	(विद्याविलास प्रेस काशी)
प्रमेयर० टि०	प्रमेयरत्नमालाटिप्पणम्	(,, ,, ,,)

प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्डः	(निर्णयसागर बंबई)
प्रमेयक० टि०	प्रमेयकमलमार्त्तण्डटिप्पणी	(,, ,,)
प्रव० सार	प्रवचनसारः	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई)
प्रशस्तपा० भा० प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्यम्	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
प्रश०व्योमवती प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्यव्योमवतीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
प्रशस्त० क० प्रश० कन्दली प्रश०भा०कन्द०	प्रशस्तपादभाष्यकन्दलीटीका	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
प्रशस्त० किरणा०	प्रशस्तपादभाष्यकिरणावलीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
ब०	बनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रतिः	
बोधिनी०	न्यायकुसुमाञ्जलिबोधिनी	(प्रिन्स ऑफ वेल्स सीरिज़ काशी)
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतारः	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
बोधिचर्या० पं०	बोधिचर्यावतारपञ्जिका	(,, ,, ,,)
बृह० टी०	बृहत्टीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
बृहत्स्वय० बृहत्स्व०	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्	(प्रथमगुच्छक काशी)
बृह० सर्वज्ञ सि० सर्वज्ञसि०	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः	(लघीयस्त्रयादिसंग्रहः माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बंबई)
बृहद्द्रव्यसं०	बृहद्द्रव्यसंग्रहः	(रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई)
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
बृहदा० वार्त्ति० बृहदा० वा०	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिकम्	(आनन्दाश्रम पूना)
ब्रह्म०	ब्रह्मोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
ब्रह्मबिन्दूपनि०	ब्रह्मबिन्दूपनिषत्	(,, ,,)
ब्रह्मसू०	ब्रह्मसूत्रम्	(,, ,,)
ब्रह्मसू० भास्करभा०	ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
ब्रह्मसू० शां० भां०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्	(निणयसागर बंबई)
ब्रह्मसू०शा०भा०आनंद०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य–आनन्दगिरिटीका	(,, ,,)
ब्रह्मसू०शा०भा०रत्नप्रभा	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाटीका	(,, ,,)
भगवद्गी०	भगवद्गीतोपनिषत्	(आनन्दाश्रम पूना)
भगवद्गी० शा० भा०	भगवद्गीतोपनिषत् शाङ्करभाष्यम्	(,, ,,)
भावप्रका०	भावप्रकाशः	(वेङ्कटेश्वर प्रेस बंबई)
भां०	भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरपूनासत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य ताडपत्रे कार्णाटाक्षरे लिखिता प्रतिः	

मध्यान्तवि० सू० टी०	मध्यान्तविभागसूत्रटीका	(विश्वभारती–शान्तिनिकेतन)
महाभा० प्रदीप	महाभाष्यप्रदीपव्याख्या	(चौखम्बा सीरिज़)
महायानसूत्रालं०	महायानसूत्रालङ्कारः	(पेरिस सं० सिल्वनलेवी)
माण्डूक्य० गौडपा० शाङ्करभा०	माण्डूक्योपनिषद्गौणपादकारिकाशाङ्करभाष्यम्	(आनन्दाश्रम पूना)
माध्यमिकवृ०	माध्यमिकवृत्तिः	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
मीमां० द०	मीमांसासूत्रम्	(निर्णयसागर बंबई)
मी० श्लो० मीमांसाश्लो० मीमां० श्लो०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
मी० श्लो० न्यायर० मी० श्लो० टी०	मीमांसाश्लोकवार्त्तिकन्यायरत्नाकरव्याख्या	(,, ,, ,,)
मुक्तावली	मुक्तावली विश्वनाथीया	(निर्णयसागर बंबई)
मुक्ता० दिन० रामरुद्री	मुक्तावलीदिनकरीरामरुद्रीटीका	(,, ,,)
मुण्डकोपनि०	मुण्डकोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
मैत्र्युप०	मैत्र्युपनिषत्	(,, ,,)
युक्तिप्रबो०	युक्तिप्रबोधः	(भावनगर)
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासनम्	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
युक्त्यनुशा० टी०	युक्त्यनुशासनटीका	(,, ,, ,,)
योगसू०	योगसूत्रम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
योगसू० व्यासभा० व्यासभा० योगद० व्यासभा०	योगसूत्रव्यासभाष्यम्	(,, ,, ,,)
योगद० तत्त्ववै०	योगदर्शनतत्त्ववैशारदी	(,, ,, ,,)
योगकारिका योगका०	योगकारिका	(,, ,, ,,)
योगवा०	योगवार्त्तिकम्	(,, ,, ,,)
योगशा०	योगशास्त्रम् हेमचन्द्राचार्यकृतम्	(एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
रत्नाकरावता०	रत्नाकरावतारिका	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
लघी०	लघीयस्त्रयम्	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
लघी० वृ०	लघीयस्त्रयवृत्तिः अभयनन्दीया	(,, ,, ,,)
लंकावतारसू०	लंकावतारसूत्रम्	(लन्दन)
लौकिकन्यायाञ्जलिः	लौकिकन्यायाञ्जलिः प्रथमभागः	(निर्णयसागर बंबई)
वाक्यप०	वाक्यपदीयम्	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)

वाक्यप० टी०	वाक्यपदीयटीका हेलाराजीया	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
वादन्याय	वादन्यायः	(महाबोधि सोसाइटी सारनाथ)
विधिवि०	विधिविवेकः	(लाजरस कंपनी काशी)
विधिवि० न्यायकणि०	विधिविवेकन्यायकणिकाटीका	(,, ,, ,,)
विवरणप्र० विवरणप्र० सं०	विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः	(विजयनगरम् सीरिज़ काशी)
विंश० विज्ञप्तिमा०	विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः	(पेरिस सं० सिल्वनलेवी)
विशेषाव० भा० विशेषा० भा०	विशेषावश्यकभाष्यम्	(यशोविजय ग्रन्थमाला काशी)
विशेषाव० बृहद्वृ०	विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्तिः	(,, ,, ,,)
वेदान्तपरि०	वेदान्तपरिभाषा	(निर्णयसागर बंबई)
वैशे० सू० वैशे० द०	वैशेषिकसूत्रम्	(,, ,,)
वैशे० उप०	वैशेषिकसूत्रोपस्कारः	(,, ,,)
वै० सू० वि०	वैशेषिकसूत्रविवृतिः	(,, ,,)
व्या० प्रज्ञ०	व्याख्याप्रज्ञप्तिः	(आगमोदयसमिति सूरत)
व्योम०	प्रशस्तपादभाष्यव्योमवतीटीका	(चौखम्बा सिरीज़ काशी)
शां०भा०भामती भामती	शांकरभाष्यभामतीटीका	(निर्णयसागर बंबई)
शाबरभा०	शाबरभाष्यम्	(आनन्दाश्रम पूना)
शाबरभा० बृह० बृहती	शाबरभाष्यबृहतीटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
शाबरभा० प्रभाटी०	शाबरभाष्यप्रभाटीका	(आनन्दाश्रम पूना)
शास्त्रवा०	शास्त्रवार्त्तासमुच्चयः	(आगमोदयसमिति सूरत)
शास्त्रवा० टी०	शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीका यशोविजयकृता	(यशोविजयग्रन्थमाला काशी)
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका	(विद्याविलासप्रेस काशी)
शास्त्रदी० युक्तिस्नेह-प्र० सि०	शास्त्रदीपिकायुक्तिस्नेहप्रपूरिणीसिद्धान्त-चन्द्रिका	(निर्णयसागर बंबई)
शिक्षासमु०	शिक्षासमुच्चयः	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
श्वेताश्व०	श्वेताश्वतरोपनिषत्	(निर्णयसागर बंबई)
श्र०	श्रवणबेलगोलीयजैनमठसत्का न्यायकुमुदचन्द्रस्य ताड़पत्रे कार्णाटाक्षरे लिखिता प्रतिः	
सन्मति० टी०	सन्मतितर्कटीका	(गुजरातपुरातत्त्वमंदिर अमदाबाद)

सर्वद० सं०	सर्वदर्शनसंग्रहः	(भाण्डारकरसीरिज़ पूना)
सम्बन्धवा०	सम्बन्धवार्त्तिकम्	(आनन्दाश्रम पूना)
समव० स्तो०	समवशरणस्तोत्रम्	(सिद्धान्तसारादिसंग्रहः माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
सर्वार्थसि०	सर्वार्थसिद्धिः	(कलाप्पा भरमाप्पा निटवे कोल्हापुर)
सप्तभंगित०	सप्तभंगितरंगिणी	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई)
सं० सिद्धभ०	संस्कृतसिद्धभक्तिः पूज्यपादीया	(प्र० पं० जुगुलकिशोर मुख्तार सरसावा)
सांख्यका०	सांख्यकारिका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
सां० माठरवृ० सांख्यका०माठरवृ० माठरवृ०	सांख्यकारिका माठरवृत्तिः	(,, ,, ,,)
सांख्यकौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
सांख्यसं०	सांख्यसंग्रहः	(,, ,, ,,)
सांख्यद०	सांख्यदर्शनम्	(,, ,, ,,)
सांख्यसू०	सांख्यसूत्रम्	(,, ,, ,,)
सां० प्र० भा०	सांख्यप्रवचनभाष्यम्	(,, ,, ,,)
सि० चन्द्रोदय	सिद्धान्तचन्द्रोदयः	(,, ,, ,,)
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासनम्	(प्र० मनसुखभाई अमदाबाद)
सुश्रुत०	सुश्रुतसंहिता	(निर्णयसागर बंबई)
स्थानाङ्गसूत्र	स्थानाङ्गसूत्रम्	(आगमोदयसमिति सूरत)
स्पन्दका० व्या०	स्पन्दकारिकाव्याख्या	(काश्मीर संस्कृत सीरिज़)
स्फुटार्थ अभि०	स्फुटार्थ-अभिधर्मकोशव्याख्या	(बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया)
स्या० मं०	स्याद्वादमञ्जरी	(आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना)
स्या० रत्ना० स्या० रत्नाकर	स्याद्वादरत्नाकरः	(,, ,, ,,)
स्वामिकार्त्ति०	स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	(जैन सिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
षट्प्रा० टी०	षट्प्राभृतटीका	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई)
षड्द० स० टी० षड्द० टी०	षड्दर्शनसमुच्चयटीका	(चौखम्बा सीरिज़ काशी)
षड्दर्शनसमु० बृह०	षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः गुणरत्नकृता	(आत्मानन्द सभा भावनगर)
हेतुबिन्दु	हेतुबिन्दुः लिखितः	(पं० सुखलालजी B.H.U.)
हेतुबिन्दुटी०	हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृता लिखिता	(,, ,,)



न्यायकुमुदचन्द्रस्य विषयानुक्रमणिका

प्रमाणप्रवेशे प्रत्यक्षपरिच्छेदः पृ०

मंगलाचरणम्, प्रतिज्ञावाक्यञ्च १

१ मङ्गलश्लोकः २

धर्मस्य उत्तमक्षमाद्यनेकार्थाः ३

कण्टकशुद्धिः ४

कण्टकशुद्ध्यर्थं द्वितीयकारिकावतारः ४

२ कारिकाव्याख्यानम् ५

सन्तानवादः ६–२०

(पूर्वपक्षः) सन्तानस्य लक्षणम् ६

कृतनाशादिदोषपरिहारः ७

सन्तानस्य भिन्नाऽभिन्नादिविकल्पाविषयत्वम् ७

प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिपरिहारः ७

नित्यैकरूप आत्मन्येव प्रत्यभिज्ञाद्यनुपपत्तिः ८

आत्मनः सुखादिपर्यायव्यापकत्वानुपपत्तिः ८

(उत्तरपक्षः) क्षणिकैकान्ते कार्यकारणभावस्यैवानुपपत्तेर्न तद्घटितसन्तानलक्षणसंभवः ९

क्षणिकैकान्ते विनष्टादविनष्टाद्वा न कार्योत्पत्तिः १०

क्षणिकैकान्ते उपादानसहकारिभावानुपपत्तिः ११

क्षणिकैकान्ते कार्यकारणभावाधिगमानुपपत्तिः १२

आत्मद्रव्याभावे क्षणिकत्वस्यैवाप्रतिपत्तिः १३

सन्तानलक्षणखण्डनम् ,,

अपरामृष्टभेदत्वस्य खण्डनम् ,,

सन्तानस्य सदसत्त्वादिविकल्पैः खण्डनम् १४

अवस्तुत्वे कर्मफलसम्बन्धादिहेतुत्वाभावः ,,

सन्तानस्य अवक्तव्यत्वखण्डनम् १५

सन्तानस्य सांवृतत्वनिरासः ,,

प्रत्यभिज्ञानबलादेव आत्मसिद्धिः १६

आत्मनि न सादृश्यनिमित्तकं प्रत्यभिज्ञानं किन्तु एकत्वनिमित्तकम् १७

आत्माभावे अभिलाषाद्यनुपपत्तिः १८

आत्मनः सुखादिपर्यायान्वितत्वसमर्थनम् १९

आत्मापह्नवे बन्धमोक्षाभावः १९

सम्बन्धाभिधेयादिविचारः २०-२२

सम्बन्धाभिधेयाद्यभावाशङ्कापरिहारार्थम् 'प्रत्यक्षं विशदम्' इत्यादिकारिकावतारः २०

उद्देशलक्षणपरीक्षाणां लक्षणानि २१

विभागस्य उद्देश एवान्तर्भावः ,,

सम्बन्धाभिधेयादिसमर्थनम् ,,

रुच्यपेक्षया प्रतिपाद्यस्य त्रिविधत्वम् ,,

त्रिविधस्यापि प्रतिपाद्यस्य व्युत्पन्नादिभेदचतुष्कप्रतिपादनम् २२

प्रासङ्गिकी प्रमाणसिद्धिः २२

प्रमाणस्य प्रमाणात् तदन्तरेण वा सिद्धिरित्याशङ्का २२

साधनदूषणान्यथानुपपत्त्या प्रमाणस्य सिद्धिः २३

३ कारिकाव्याख्यानम् २३-२६

प्रमाणसामान्यलक्षणम् २३

प्रत्यक्षस्य लक्षणम् २४

मुख्यसंव्यवहाररूपेण प्रत्यक्षस्य द्वेधा विभागः २५

मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम् ,,

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षलक्षणम् ,,

अक्षाश्रितत्वस्य व्युत्पत्तिनिमित्तत्वम्, अर्थसाक्षात्कारित्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम् २६

अक्षशब्दस्य आत्मवाचकतया व्युत्पत्तिनिमित्तत्वमपि ,,

विज्ञानशब्दस्य व्युत्पत्तिचतुष्टयप्रतिपादनम् २७

विवृतिव्याख्यानम् २७

प्रमाणशब्दस्य व्युत्पत्तिः २८

सन्निकर्षवादः २८-३४

(पूर्वपक्षः) 'प्रमाजनकं प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणे व्याख्यातृमतभेदः २८

साधकतमत्वात् सन्निकर्षः प्रमाणम् २८

व्यवहितार्थानुपलब्धेः सन्निकर्षः प्रमाणम् ,,

कारकत्वात् सन्निकर्षः प्रमाणम् २८
सन्निकर्षस्य षोढा विभागः २९
प्रत्यक्षस्य चतुस्त्रिद्विसन्निकर्षादुत्पत्तिः २९
(उत्तरपक्षः) सन्निकर्षस्य साधकतमत्वाभावः अन्वयव्यतिरेकाभावात् ,,
सन्निकर्षमात्रस्य प्रमाणता, तद्विशेषस्य वा ? ३०
'योग्यताभावात् नाकाशे प्रमोत्पत्तिः' इत्यस्य निरासः ३०
सहकारिकारणाभावादाकाशे प्रमोत्पत्त्यभावस्य विविधविकल्पजालैः निरासः ३०
योग्यतायाः साधकतमत्वे ज्ञानस्य प्रमाणत्वाभावाशङ्काया निरासः ३१
चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वात् सन्निकर्षस्याव्याप्तिः ३१
संयुक्तसमवायादीनामतिव्याप्तिः ३२
असन्निकृष्टग्रहणे सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गस्य निरासः ३२
व्यवहितार्थानुपलब्धेः निरसनम् ३२
सन्निकर्षस्वीकारे सर्वज्ञाभावः ३२
सन्निकर्षस्य प्रामाण्ये व्याप्तिग्रहणाभावः ३३

कारकसाकल्यवादः ३३-३९

(पूर्वपक्षः) अर्थोपलब्धिजनकत्वात् कारकसाकल्यापरनाम्नी सामग्री प्रमाणम् ३३
कारकैकदेशस्य न साधकतमत्वमपि तु कारकसाकल्यस्य ३३
कर्तृकर्मणोरपि साकल्यान्तर्गततया न साकल्यस्वरूपापहारकत्वम् ३४
ज्ञानस्य फलरूपत्वान्न प्रमाकरणत्वम् ,,
ज्ञानस्यापि साकल्यान्तर्गतत्वेन प्रामाण्यं न स्वतन्त्रतया ,,
(उत्तरपक्षः) बोधाबोधरूपसाकल्यस्य न मुख्यतः प्रामाण्यम् ,,
प्रामाण्यं ज्ञानरूपतयैव व्याप्तम् अव्यवधानेन प्रमितिकरणत्वात् ३५
उपचारेण तु सत्यपि प्रामाण्ये न वस्तुतः कारकसाकल्यस्य प्रामाण्यम् ,,
तमग्रहणस्य प्रकर्षार्थकतया अपकृष्टाभावात् न सामग्र्याः साधकतमत्वव्यपदेशः ३५
साधकतमत्वस्य विविधविकल्पैः खण्डनम् ,,
सामग्र्येकदेशस्यैव लोके करणतया निर्देशः ३६
कर्तृकर्मणोः साकल्यान्तर्गतत्वे किमपेक्षया साकल्यस्य करणत्वम् ? ,,
समग्रा एव सामग्री, समग्राणां धर्मो वा ? ३७
'समग्राणां भावः सामग्री' इति भावशब्देन किमभिधीयेत ? ३७
नित्यैकरूपाणां साकल्यजनकत्वे सर्वदा जनकत्वप्रसङ्गः ३८
सकलेभ्यः साकल्यं भिन्नमभिन्नं वा ? ,,
निर्विकल्पकप्रमित्यपेक्षया साकल्यस्य प्रमाणत्वं सविकल्पकप्रमित्यपेक्षया वा ? ३९

इन्द्रियवृत्तिवादः ४०-४१

(पूर्वपक्षः) साधकतमत्वादिन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ४०
विषयाकारपरिणतिः इन्द्रियवृत्तिः ,,
(उत्तरपक्षः) अचेतनरूपाया इन्द्रियवृत्तेरपि उपचारादेव प्रामाण्यम् ,,
'विषयंप्रति गमनम्, आभिमुख्यम्, आकारधारित्वं वा ?' इति विकल्प्य खण्डनम् ,,
भिन्नाऽभिन्नविकल्पैः इन्द्रियवृत्तेः निरासः ४१
इन्द्रियवृत्त्यालम्बनाया मनोवृत्तेः निरसनम् ,,

ज्ञातृव्यापारवादः ४२-४५

(पूर्वपक्षः) अर्थप्रकाशताख्यफलान्यथानुपपत्तेः ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम् ४२
यतः व्यापारवशादेव कारकस्य कारकत्वमतोऽसौ ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम् ,,
(उत्तरपक्षः) ज्ञातृव्यापारस्य नेन्द्रियमनःस्वसंवेदनप्रत्यक्षैः सिद्धिः ४३
नानुमानात् तत्सिद्धिः, सम्बन्धग्रहणोपायाभावात् ,,
नाप्यर्थापत्तितो ज्ञातृव्यापारसिद्धिः ,,
ज्ञातृव्यापारः कारकजन्योऽजन्यो वा ? ४४

अजन्यत्वे भावरूपत्वमभावरूपत्वं वा ? ४४
जन्यत्वे क्रियारूपः, अक्रियारूपो वा ? ,,
चिद्रूपः अचिद्रूपो वा ? ,,
अचिद्रूपत्वे धर्मी धर्मो वा ? ४५
निर्विकल्पकप्रत्यक्षवादः ४६-५१
(पूर्वपक्षः) निर्विकल्पकप्रत्यक्षलक्षणम् ४६
कल्पनालक्षणम् ,,
अर्थस्य संकेतव्यवहारकाला ननुयायित्वान्न शब्दसंसर्गः ,,
अर्थे शब्दानामसंभवात् तादात्म्याभावाच्च कथं तज्जे ज्ञाने शब्दप्रतिभासः ? ,,
अनेकशब्दार्थप्रतिभासमपि योगिज्ञानं योजनाभावात् निर्विकल्पकम् ४७
स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षाणां लक्षणानि ,,
(उत्तरपक्षः) कल्पनायाः विविधविकल्पजालैः खंडनम् ४७
निश्चयरूपकल्पनारहितत्वं प्रत्यक्षस्यासिद्धम् ४८
व्यतिरिक्तविकल्पोत्पादकत्वान्निर्विकल्पकप्रामाण्यस्य निरासः ४८
विकल्पाऽविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायस्य निरासः ४९
उल्लेखरूपकल्पनायाः निषेधानुपपत्तिः ५०
अस्पष्टतारूपकल्पनायाः निरासः ५०
अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वरूपकल्पनायाः निरासः ५१
अनक्षप्रभवत्वरूपकल्पनायाः खण्डनम् ५१
धर्मान्तरारोपात्मककल्पनायाः निरसनम् ५१
विवृतिव्याख्यानम् ५२
संशयस्य लक्षणम् ५२
विपर्ययस्य लक्षणम् ५२
विपर्ययज्ञाने स्मृतिप्रमोषवादः ५२-५९
(पूर्वपक्षः) विभिन्नकारणप्रभवत्वात् विभिन्नविषयत्वाच्च 'इदं रजतम्' इति प्रत्यक्षस्मरणरूपं ज्ञानद्वयम् ५२
तदित्यंशस्य प्रमोषात् स्मृतिप्रमोषत्वम् ५२
दोषाणां विपरीतकार्योत्पादकत्वाभावः तत्र च दुष्टयवस्य दृष्टान्तः ५३
दोषमाहात्म्यात् अतीतरजतस्य न अतीततया प्रतिभासः किन्तु वर्तमानतया ५३
'स्मरामि' इत्याकारशून्यत्वमेव स्मृतिप्रमोषत्वम् ५४
भेदाग्रहात् रजतमिदमिति सामानाधिकरण्यं प्रवृत्तिश्च घटते ५४
भेदाग्रहः त्रिप्रकारः ५४
स्मृतिप्रमोषस्वीकारेऽपि बाध्यबाधकभावः सुघटः ५४
विपरीतख्यातिवादिनां बाह्यार्थसिद्ध्यभावः ५४
(उत्तरपक्षः) इदं रजतमित्यत्र कारणभेदात् कार्यभेदः, सामग्रीभेदाद्वा ? ५५
विभिन्नकारणप्रभवत्वानुमानस्य प्रतिविधानम् ५५
विषयभेदादपि नात्र ज्ञानभेदः ५५
दोषाणां विपरीतकार्योत्पादकत्वसमर्थनम् ५५
दुष्टयवानामपि उपभुक्तानाम् उदरव्यथादिविपरीतकार्योत्पादकत्वम् ५६
रजतज्ञानस्य शुक्त्यविषयत्वे किं निर्विषयत्वम्, अतीतरजतविषयत्वं वा ? ५६
भेदाग्रहस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावः ५६
विभिन्नाकारत्वादपि न तत्र ज्ञानभेदः ,,
ज्ञानद्वयस्वीकारेऽपि युगपदुत्पत्तिः, क्रमेण वा ? ५७
क्रमोत्पत्तौ बाधकज्ञानात् 'नेदं रजतम्' इति तादात्म्यप्रतिषेधानुपपत्तिः ५७
स्मृतिविनाशस्य न स्मृतिप्रमोषता ५८
प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायस्य न स्मृतिप्रमोषता ५८
प्रत्यक्षरूपतापत्तेर्न स्मृतिप्रमोषता ५९
तदित्यंशाननुभवस्य न स्मृतिप्रमोषता ,,
'प्रमोषः' इत्यत्र प्रशब्देन एकदेशेन सर्वात्मना वा अपहारः ? ,,
तिरोभावस्यापि न स्मृतिप्रमोषता ,,
विविधविकल्पजालेन तिरोभावस्यानुपपत्तिप्रदर्शनम् ,,

विपरीतख्यातौ बाह्यार्थासिद्ध्यभावाख्यदोषस्य परिहारः ५९
विपर्ययज्ञाने अख्यातिवादः ६०
(पूर्वपक्षः) विपर्ययज्ञाने रजतसत्ता, तदभावः, शुक्तिशकलम्, रजताकारेण शुक्तिशकलं वा नालम्बनम् इत्यख्यातिः ६०
(उत्तरपक्षः) विपर्ययस्य निर्विषयत्वे विशेषतो व्यपदेशाभावः ,,
ख्यातेरभावे भ्रान्तिसुषुप्तावस्थयोरविशेषः ,,
ईषत्ख्यातित्वे विपरीतख्यातित्वमेव ,,
विपर्ययज्ञाने असत्ख्यातिवादः ६०
(पूर्वपक्षः) इदं रजतमिति प्रतिभासमानस्य नार्थधर्मत्वं न ज्ञानधर्मत्वम्, अतः असद्विषयत्वम् ६०
(उत्तरपक्षः) असतः खपुष्पादिवत् प्रतिभासाभावात् ६०
विप्रतिषिद्धं च असतः प्रतिभासनम् ६१
भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च ,,
अर्थमात्रनिबन्धनप्रवृत्त्यादिक्रियासत्त्वादर्थक्रियाकारित्वमप्यस्ति ६१
विपर्ययज्ञाने प्रसिद्धार्थख्यातिवादः ६१
(पूर्वपक्षः) असतः प्रतिभासाभावात् प्रमाणसिद्धस्यैवार्थस्य ख्यातिः ६१
प्रतिभासकाले तदर्थस्य तत्र सत्त्वमस्त्येव ,,
(उत्तरपक्षः) प्रसिद्धार्थख्यातौ भ्रान्ताभ्रान्तव्यवहाराभावः बाध्यबाधकभावाभावश्च ६१
प्रतिभासकाले उदकादेः सत्त्वे तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भप्रसङ्गः ६१
विपर्ययज्ञाने आत्मख्यातिवादः ६२
अनाद्यविद्यावशाज्ज्ञानस्यैवायमाकारो बहिः स्थिरत्वेन प्रतिभासते ६२
(उत्तरपक्षः) स्वाकारमात्रग्राहित्वे भ्रान्ताभ्रान्तविवेकः बाध्यबाधकभावश्चानुपपन्नः ,,
ज्ञानरूपत्वे च 'अहं रजतम्' इति प्रतीतिःस्यात् ६२
ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वाभावे कथं नियताकारतया उत्पत्तिः ६३
आत्मख्यातिमते छेदाभिघाताद्यभावः ,,
विपर्ययज्ञाने अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादः ६३
प्रतिभासमानार्थस्य सदसदुभयानुभयादिभिः वक्तुमशक्तेः अनिर्वचनीयार्थख्यातिः ६३
(उत्तरपक्षः) ख्यातिः किं ख्या प्रकथने इत्यस्य ख्या प्रथने इत्यस्य वा प्रयोगः? ,,
अनिर्वचनीयपक्षे ज्ञानव्यपदेशयोरनुपपत्तिः ,,
विपर्ययज्ञाने अलौकिकार्थख्यातिवादः ६४
अलौकिकस्य अन्तर्बहिर्वाऽनिरूपितार्थस्य ख्यातिः ६४
(उत्तरपक्षः) अन्यरूपप्रतिभासस्य अलौकिकत्वे विपरीतख्यातित्वम् ,,
अन्यक्रियाकारित्वस्य अन्यकारणप्रभवत्वस्य च अलौकिकत्वे अन्यार्थानामभावापत्तिः ,,
अकारणप्रभवत्वे सद्रूपस्य नित्यत्वम् ,,
असद्रूपस्य कथं 'इदं रजतम्' इति विधिरूपतया प्रतीतिः? ६४
विपरीतख्यातिरूपविपर्ययज्ञानस्य सिद्धिः ६४-६६
(पूर्वपक्षः) रजतज्ञानस्य रजतालम्बनत्वे असत्ख्यातित्वम् ६४
शुक्तिकालम्बनत्वे रजताकारतयाऽनुत्पत्तिः ,,
(उत्तरपक्षः) रजतमेव तत्रालम्बनम्, असत्ख्यातौ अत्यन्तासतः प्रतिभासः अत्र तु दोषवशात् देशान्तरादौ सतः ६५
सदृशार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितार्थग्राहितया अतद्देशार्थग्राहित्वेऽप्यस्य न विश्वग्रहणप्रसक्तिः ,,
'रजतमिदम्' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानात्मकत्वेन स्मृत्यपेक्षित्वमप्यविरुद्धम् ,,
निगृहितनिजाकारा परिगृहीतरजताकारा शुक्तिका वा तदालम्बनम् ,,
अङ्गुल्या निर्दिष्टस्य शुक्तिशकलस्य विषयत्वेनैव अपेक्षा ६६

सादृश्यहेतुकतया नेयम् असत्ख्यातिः ६६
विवृतिव्याख्यानम् ६६-६७
ज्ञानमात्रस्य प्रमाणत्वे अकिञ्चित्करस्यापि प्रामाण्यम् ६६
तन्नाज्ञानस्य प्रामाण्यमन्यत्रोपचारात् ६७
प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः ६७-७३
(पूर्वपक्षः) अगौणत्वात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नानुमानम् ६७
गौणरूपत्वात् गौणकारणजन्यत्वाच्च गौणमनुमानम् ,,
अर्थानिश्चायकत्वाच्च नानुमानस्य प्रामाण्यम् ,,
प्रत्यक्षादनुमानाद्वा व्याप्तिग्रहणाभावात् कथं सम्बद्धार्थप्रतीतिहेतुत्वम् ? ६८
अवस्थादेशकालादिभेदात् भिन्नशक्तिकार्थानां साकल्येन व्याप्तिः अशक्यग्रहा ६८
धर्मिणः सामान्यधर्मस्य च साध्यत्वे सिद्धसाधनम् ,,
विशेषधर्मस्य समुदायस्य वा साध्यत्वे अनन्वयत्वम् ६९
सर्वत्रानुमाने अनुमानविरोधस्य इष्टविघातकृतः विरुद्धाव्यभिचारिणश्च संभावना ,,
पूर्वोक्तपूर्वपक्षसमर्थनार्थं चार्वाकोक्तानां सप्तदशकारिकाणां प्रमाणरूपेण उपन्यासः ६९-७०
(उत्तरपक्षः) अविसंवादकत्वादनुमानं प्रमाणम् ७०
अविशदत्वरूपगौणत्वेन नाप्रामाण्यम्; विशदत्वस्य प्रमाणलक्षणाभावात् ७१
नापि स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वेनाप्रामाण्यम्; असिद्धत्वात् ,,
नापि विसंवादकत्वेन; अविसंवादकत्वात् ,,
ऊहपूर्वकत्वेन प्रत्यक्षपूर्वकत्वं त्वसिद्धम् ,,
अर्थादनुत्पद्यमानत्वरूपं गौणत्वं प्रत्यक्षस्यापि ७१
अवस्तुविषयत्वं त्वसिद्धम्; सामान्यविशेषात्मकार्थग्राहित्वात् ७१
धर्मिणि पक्षशब्दोपचारस्तु संक्षेपतः शब्दरचनार्थः ,,
बाध्यमानत्वं सम्यगनुमानस्य असंभाव्यमेव ७२
सम्बन्धग्राहकप्रमाणं च तर्करूपं प्रसिद्धमेव ७२
अनुमानमन्तरेण 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नानुमानम्' इति विधिनिषेधप्रतिपत्तिर्दुर्घटा ,,
'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इति परस्मै प्रतिपादनमपि नानुमानं विना संभवति ,,
अनुमानादृते स्वर्गापूर्वदेवतादेः निषेधानुपपत्तिः ,,
निरवद्यस्वरूपसद्भावान्नानुमानापलापो युक्तः ,,
अबाधितलक्षणसद्भावादपि नापलापः ७३
ऊहाख्यप्रमाणसमवधृतव्याप्तौ विप्लवाभावः ,,
व्याप्तिकाले धर्मस्य प्रयोगकाले तद्विशिष्टधर्मिणः साध्यत्वे नाननुगमादिदोषाः ,,
सम्यगनुमाने विरुद्धाव्यभिचार्यादेरसंभव एव ,,
४ कारिकाव्याख्यानम् ७४
वैशद्यस्य लक्षणम् ७४
विवृतिव्याख्यानम् ७५
सांव्यवहारिकप्रत्यक्षलक्षणम् ७५
इन्द्रियानिन्द्रियरूपाऽसाधारणकारणनिर्देशेन न साधारणानां अर्थालोकसन्निकर्षादीनां निर्देशः ,,
चक्षुःसन्निकर्षवादः ७५-८२
(पूर्वपक्षः) बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्यकारि चक्षुः ७५
अधिष्ठानदेशे सतोऽपि चक्षुषः प्राप्यकारित्वाविरोधः ,,
अधिष्ठानदेशादव्यतिरिक्तत्वं त्वसिद्धम् ७६
अधिष्ठानादन्यत्रापि रश्मिरूपस्य चक्षुषः सद्भावः ,,
तैजसत्वात् रश्मिवच्चक्षुः ,,
तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् ,,
रश्मीनां धत्तूरकपुष्पवदादौ सूक्ष्माणामप्यन्ते प्रसृतत्वात् महत्पर्वतादिप्रकाशकत्वम् ७६
शाखाचन्द्रमसोः युगपद्ग्रहणमसिद्धम्, यौगपद्याभिमानस्तु उत्पलपत्रशतच्छेदवत् भ्रान्तः ७७
शरीरापेक्षया चक्षुर्विषये दूरनिकटादिव्यवहारः ,,
अप्राप्यकारित्वे हि व्यवहितानां मेर्वादीनां प्रकाशकत्वप्रसङ्गः ७७

कारकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुः ७७
अत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वं तु साध्यसमम् ,,
(उत्तरपक्षः) 'बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वम्, बहिःकारणप्रभवत्वम्, इन्द्रियस्वरूपातीतत्वम्, मनोऽन्यत्वं वा ?' इति विकल्पैः बाह्येन्द्रियत्वस्य खण्डनम् ७७
मनोव्यवच्छेदार्थं बाह्यविशेषणमयुक्तम् ७८
गोलकरूपस्य चक्षुषः प्राप्यकारित्वं प्रत्यक्षविरुद्धम् ७८
रश्मीनां प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धिः ,,
गोलकस्य रश्मिवत्त्वे प्रत्यक्षबाधा ७९
अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य तेजोद्रव्यत्वासिद्धिः ,,
रश्मिवत्त्वे चक्षुषः पदार्थप्रकाशे आलोकापेक्षाभावः ,,
रश्मिवत्त्वे स्वसम्बद्धस्य अञ्जनादेः प्रकाशकत्वम् ,,
अञ्जनादिना गोलकरूपस्य रश्मिरूपस्य शक्तिरूपस्य वा चक्षुषः सम्बन्धोऽस्त्येव ,,
तमःप्रकाशकत्वान्न तैजसं चक्षुः ८०
रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वं चन्द्रादिनाऽनैकान्तिकम् ८०
'करणत्वे सति' 'द्रव्यत्वे सति' इति च विशेषणेऽपि अनैकान्तिकता ८१
विषयस्य चक्षुर्देशे आगमनं प्रतीतिविरुद्धम् ,,
चक्षुषः विषयदेशे गमनं प्रत्यक्षानुमानविरुद्धम् ,,
संयुक्तसमवायादादित्यादिरूपवत् तत्कर्मणोऽपि ज्ञानापत्तिः ८१
प्राप्यकारित्वे चक्षुषः काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितार्थानुपलब्धिः ८१
सन्निकर्षादर्थप्रतीतौ न शरीरापेक्षया दूरनिकटादिव्यवहारः सुघटः ८१
प्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययानुपपत्तिः ,,
अप्राप्यकारित्वेऽपि योग्यतया प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वम् ८२
अञ्जनतिलकादिदृष्टान्तेन अप्राप्यकारित्वसमर्थनम् ,,
'कारकत्वात्' इति हेतुरपि अनैकान्तिकः ८२
अत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वं प्रसङ्गसाधनरूपम् ,,
श्रोत्रस्य अप्राप्यकारित्वसमर्थनम् ८३-८६
(पूर्वपक्षः) श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वे शब्दे दूरनिकटादिव्यवहाराभावः ८३
असन्निकृष्टत्वेऽपि तीव्रतया शब्देन श्रोत्राभिघातोऽपि घटते ८३
(उत्तरपक्षः) शब्दस्यासन्निकृष्टत्वं प्रत्यक्षबाधितम् ,,
सन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि गन्धादिवत् दूरादिव्यवहारोऽपि सुघटः ८३
दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वं साकारज्ञानापेक्षया निराकारज्ञानापेक्षया वा ? ८३
शब्दस्य दूरादिस्वभावत्वं स्वरूपतः, दूरादिकारणप्रभवत्वात्, दूरादिदेशादागतत्वात्, दूरादिदेशे स्थितत्वाद्वा ? ८४
प्रतिवाते शब्दस्याश्रवणं प्रतिवातेन श्रोत्राभिघातात्, शब्दस्य नाशितत्वाद्वा ? ८४
अप्राप्तस्य अभिघाते रूपादिदृष्टान्तो विषमः ८५
देशापेक्षया दूरत्वं शब्दस्य देशग्रहणे सति, असति वा ? ८५
दूरदेशादिसन्देहात् सिद्धं प्राप्तशब्दस्य ग्रहणम् ८६
श्रोत्रविकारस्य वाधिर्यादेः दर्शनादपि शब्दस्य प्राप्तिः सिद्धा ८६
सर्वज्ञत्ववादः ८६-९७
(पूर्वपक्षः) रूपादिगोचरचारितया न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञसिद्धिः ८६
स्वभावकार्यलिंगाभावान्नानुमानादपि तत्सिद्धिः ,,
नित्यादनित्याद्वा आगमादपि न तत्सिद्धिः ८७
उपमानादर्थापत्तेर्वा न तत्सिद्धिः ,,
बुद्धादीनां वेदादसंभवः धर्माद्युपदेशः व्यामोहपूर्वक एव ८८
मन्वादीनां सम्यगुपदेशः वेदमूलत्वात् ,,
सर्वज्ञः समस्तं वस्तु स्वेन स्वेन रूपेण जानाति, वर्त्तमानतया वा ? ,,

'इदमिदानीमिह सत्' इत्यत्र तत्प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्युगपत्प्रतिभासे युगपज्जन्ममरणव्यपदेशप्रसङ्गः ८८
क्रमेण प्रतीतौ नानन्तेन कालेन सर्वज्ञता ८९
(उत्तरपक्षः) सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सर्वज्ञस्य सिद्धिः ८९
न प्रत्यक्षं सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावं साधयति ,,
निवर्त्तमानमपि प्रत्यक्षं सर्वज्ञस्याकारणत्वादव्यापकत्वाच्च न स्वनिवृत्तौ तदभावं साधयितुं समर्थम् ९०
अध्यक्षनिवृत्त्यर्थाभावयोः कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावाऽभावः ९०
धर्मिसाध्यसाधनानां स्वरूपाप्रसिद्धेः नानुमानमपि सर्वज्ञबाधकम् ९१
सर्वज्ञस्य तत्कारणस्य तत्कार्यस्य तद्व्यापकस्य वाऽनुपलम्भः न सर्वज्ञाभावप्रसाधकः ९१
तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वाद्धेतोः सर्वज्ञत्वसिद्धिः ९१
साक्षात् विरुद्धविधिरपि न सर्वज्ञाभावसाधिका ९२
तद्व्यापकविरुद्धस्य, तत्कारणविरुद्धस्य, तद्विरुद्धकार्यस्य वा विधिरपि न सर्वज्ञाभावसाधिका ९२
वक्तृत्वादिहेतवो न सर्वज्ञबाधकाः ९३
जैमिन्यादयो न तदभावतत्त्वज्ञाः सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत् ९३
अर्थापत्त्युपमानयोरपि न तद्बाधकत्वम् ९४
सर्वज्ञस्य असर्वज्ञतुल्यशरीरसंस्थानतया उपमेयता, इन्द्रियज्ञानेन अर्थपरिच्छेदकतया, खरविषाणवन्नीरूपतया वा ? ९४
अपौरुषेयो पौरुषेयो वा आगमोऽपि न तद्बाधकः ९५
तुच्छा प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिः नाभावसाधिका ९६
प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मा, तदन्यज्ञानं वाऽपि नाभावं साधयति ९६
अतीतादिकालीनं वस्तु स्वरूपेण विशदतया प्रतिभाति ९६
सर्वज्ञज्ञाने यद् यत्र यथाऽवस्थितं तत्तत्र तथा विशदतया चकास्ति ९७

ईश्वरवादः ९७-१०९
(पूर्वपक्षः) क्षित्यादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात् ९७
सावयवत्वात् कार्यत्वम् ९७
बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वमात्रेण व्याप्तिः न विशेषेण अतो नेष्टविघातकृत् ९८
सर्वज्ञता च अखिलकार्यकरणादेव ९९
ईश्वरज्ञानादीनां नित्यत्वम् १००
सकलकारकाधिष्ठातृतया एकत्वसिद्धिः ,,
जीर्णकूपादिगतकार्यत्वस्य क्षित्यादावभावात् असिद्धत्वस्य परिहारः १००
ईश्वरस्य अदृष्टापेक्षस्य कर्तृत्वात् दुःखिप्राणिविधानाऽविरोधः १००
धर्माधर्मयोरचेतनत्वान्न चेतनानधिष्ठितयोः प्रवृत्तिः १००
(उत्तरपक्षः) सावयवत्वरूपकार्यत्वहेतोः खण्डनम् १०१
स्वकारणसत्तासमवायरूपकार्यत्वस्य निरासः ,,
कृतमितिप्रत्ययविषयत्वरूपकार्यत्वस्य खंडनम् ,,
विकारित्वरूपकार्यत्वस्य प्रतिविधानम् ,,
जगतः सदा सत्त्वात् कार्यत्वाभावः ,,
कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणाविनाभावः न तु बुद्धिमता १०२
कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूपकार्यत्वविशेषस्य हेतुत्वे क्षित्यादावसिद्धत्वम् १०२
प्रामाणिकस्य कृतबुद्धिसद्भावे केन प्रमाणेन प्रामाणिकत्वम् ? १०२
विरुद्धः कार्यत्वहेतुः सशरीरासर्वज्ञकर्तृसिद्धेः १०३
प्रयोक्तृत्वस्य शक्तिपरिज्ञानाविनाभावाभावः ,,
अविनाभावे वा न समस्तकारकपरिज्ञानं प्रयोक्तृत्वे आवश्यकम् १०४
अकृष्टप्रभवैः तर्वादिभिः व्यभिचारी कार्यत्वहेतुः १०४
कालात्ययापदिष्टः कार्यत्वहेतुः १०५
ईश्वरस्याऽदृश्यत्वे किं शरीराभावः कारणम्, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ? ,,

ईश्वरस्य सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छा-प्रयत्नवत्त्वेन वा कारणत्वे अतिप्रसङ्गः १०६
व्यापारस्तु अशरीरस्यासंभाव्य एव ,,
एकदेशेन व्यापारः सर्वात्मना वा ? ,,
ऐश्वर्येणापि न कार्यकर्तृत्वम् ,,
सिसृक्षासंजिहीर्षयोः युगपद्भावः, क्रमेण वा ? १०७
सहकारिणोऽपि तदायत्ताः, अतदायत्ता वा ? ,,
ईश्वरस्य जगत्करणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्म-पारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयोजनेन, क्रीडया, निग्रहाद्यर्थम् , स्वभावतो वा ? १०७
बुद्धिमत्त्वमनित्यया बुद्ध्या, नित्यया वा ? १०८
सर्वेषां शास्त्राणां ईश्वरकार्यतया प्रामाण्यप्रसंगः ,,
प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च ,,
संसारविलोपश्च १०९

सांख्यपरिकल्पितेश्वरवादः १०९-११४

(पूर्वपक्षः) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः १०९
अन्ये मुक्ताः प्राकृत-वैकारिक-दक्षिणालक्षणबन्ध-त्रययुक्ताः ११०
निरतिशयसत्त्वोत्कर्षात् परमैश्वर्यम् ,,
अणिमालघिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम् ,,
ज्ञानादीनां तारतम्यदर्शनात् सर्वज्ञत्वादिसिद्धिः १११
कालेनानवच्छेदादसौ पूर्वेषां गुरुः ,,
जप्यमानश्च अभिमतफलदायी ,,
(उत्तरपक्षः) क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वस्य स्वरूपत्वे मुक्त एव स्यात् न तु ईश्वरः १११
स्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं प्रकृतितन्त्रस्य वा ? ११२
प्रकृतीश्वरयोः सदा समर्थत्वात् युगपदुत्पाद-विनाशस्थितीनां प्रसङ्गः ११२
असामर्थ्ये अन्यतरसामर्थ्ये वा कार्याभावः अन्यतमकार्यं वा स्यात् ११३
उद्भूतगुणसहकृतस्य कर्तृत्वेऽप्येतदेव दूषणम् ११३
ऐश्वर्याश्रयत्वादपि न कर्तृत्वम् ११४
ऐश्वर्यस्य प्रकृतिकृतत्वे दोषप्रदर्शनम् ११४

विवृतिव्याख्यानम् ११५

'साधकबाधकप्रमाणाभावात् संशयोऽस्तु' इत्याशङ्कायाः परिहारः ११५

अवग्रहादीनां लक्षणानि ११५-११६

पञ्चमकारिकावतारः ११५

५ कारिकाविवरणम् ११६

अवग्रहस्य लक्षणम् ११६
ईहायाः लक्षणम् ,,
अवायस्य लक्षणम् ,,

विवृतिव्याख्यानम् ११६

विज्ञानाद्वैतवादः ११७-१२४

(पूर्वपक्षः) यदवभासते तज्ज्ञानम् ११७
अर्थानां परतोऽवभासमानत्वाभावः ,,
अर्थः निराकारज्ञानग्राह्यः साकारज्ञानग्राह्यो वा ? ११७
वासनासामर्थ्यादेव ज्ञानवैचित्र्यमिति न तदर्थ-मर्थपरिकल्पना ११८
ज्ञानस्य स्वयमेवावभासनसामर्थ्यं स्वप्नवत् ,,
सहोपलम्भनियमाच्च ज्ञानार्थयोरभेदः ,,
वेद्यत्वाच्च ज्ञानादभेदोऽर्थस्य ११९
(उत्तरपक्षः) अवभासमानत्वं स्वतः, परतो वा ? ,,
ज्ञानार्थयोर्भेदस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धिः ,,
ग्राह्यग्राहकादिप्रतिभासभेदादपि भेदः १२०
'ज्ञानेऽर्थाकारस्य अर्थकारणकत्वात्' अतः कारणभूतस्य अर्थस्य सिद्धिः १२०
वासनायाः ज्ञानवैचित्र्यकारणत्वाभावः ,,
ज्ञानमात्रे जगति मनुष्यादीनां हस्त्यादिरूप-तापत्तिः १२१
अर्थस्यासत्त्वम् इच्छामात्रात् , साधकाभावात्, संवादासत्त्वात् , अर्थक्रियाकारित्वाभावात्, बाधकसद्भावाद्वा ? १२१
योग्यतालक्षणसम्बन्धादेव ज्ञानमर्थप्रकाशकम् ,,
अर्थस्य स्वतो व्यवस्थितिः न ज्ञानापेक्षया १२२

सहोपलम्भनियमश्चानैकान्तिकः १२२
विरुद्धश्च सहोपलम्भः १२३
व्याप्तिशून्यता च ,,
सहोपलम्भशब्दस्य किम् अर्थद्वये उपलम्भद्वयस्य सहभावः इष्टः, एकोपलम्भे अर्थद्वस्य प्रतिभासो वा ? १२३
वेद्यत्वं च वेदनकर्मत्वम्, तत्सम्बन्धित्वम्, तत्स्वभावत्वं वा ? ,,
चित्राद्वैतवादः १२४-१३०
(पूर्वपक्षः) नीलसुखाद्यनेकाकारचित्रितं ज्ञानमेव न त्वर्थः १२४
आकारविशिष्टं ज्ञानं स्वाकारानुभवचरितार्थत्वान्न अर्थव्यवस्थाहेतुः ,,
पूर्वकालभावि ज्ञानम् अर्थव्यवस्थापकम्, समकालभावि, उत्तरकालभावि वा ? १२५
विचित्राकारत्वेऽपि अशक्यविवेचनत्वादेकत्वं ज्ञानस्य ,,
विरुद्धधर्माध्यासात् चित्रतायाः अर्थधर्मत्वानुपपत्तेः १२६
सुखादेरपि ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाज्ज्ञानरूपत्वम् ,,
(उत्तरपक्षः) निराकारमेव ज्ञानं योग्यतावशात् प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकम् १२६
प्रकाशकस्य पूर्वापरसहभावानियमः १२७
अशक्यविवेचनत्वं किं ज्ञानाभिन्नत्वम्, सहोत्पन्ननीलादीनामन्यपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्याऽनुभवः, भेदेन विवेचनाभावो वा ? ,,
अशक्यविवेचनत्वादेव च बहिः अवयविनः सिद्धिः १२८
चित्रा आकाराः ज्ञाने सम्बद्धाः, असम्बद्धा वा ? ,,
चित्रतायाः अर्थधर्मत्वसिद्धिः ,,
ज्ञानसुखयोः सर्वथा अभिन्नहेतुजत्वासिद्धिः १२९
कथञ्चिदभिन्नहेतुजत्वं रूपालोकादिना अनैकान्तिकम् ,,
उपादानापेक्षया अभिन्नहेतुजत्वं सहकार्यपेक्षया वा ? १३०
ज्ञानात्मकत्वे सुखादीनां परप्रकाशकत्वं स्यात् १३०
शून्याद्वैतवादः १३०-१३९
(पूर्वपक्षः) ज्ञाने चित्राकाराणामविद्याकल्पितत्वात् मध्यक्षणस्वरूपं निरालम्बनं ज्ञानमेव एकं तत्त्वम् १३०
चित्रतापायेऽपि संवेदनस्वरूपस्य स्वतोऽगतिः संभवति १३१
स्वप्नेन्द्रजालादिवत् सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः ,,
मध्यमाप्रतिपत्-सर्वधर्मनिरात्मतादयः शून्यतायाः पर्यायाः ,,
एकानेकस्वभावरहितत्वात् सर्वधर्मशून्या अर्थाः ,,
भावा यथा यथा विचार्यन्ते तथा तथा विशीर्यन्ते १३२
उत्पादादिरूपतयापि विचारासहाः अर्थाः ,,
मन्त्राद्युपप्लववशात् मृदि सुवर्णप्रतीतिवत् अनाद्यविद्यावशात् सर्वो व्यवहारः १३३
ग्राह्यग्राहकव्यवहारोऽपि अविद्याकल्पितः ,,
(उत्तरपक्षः) नीलादिप्रतिभासस्याबाध्यमानत्वान्न अविद्याप्रभवत्वम् ,,
अर्थक्रियाकारित्वाच्च नीलादीनां परमार्थता १३४
नीलाद्यनेकाकारानुभवस्य मिथ्यात्वे मध्यक्षणरूपस्य अभिन्नसंवेदनस्यापि मिथ्यात्वम् ,,
एकस्य अनेकाकारत्वाभावे सकलशून्यतापत्तिः ,,
निरालम्बनत्वे हेतौ कालात्ययापदिष्टासिद्धाश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धविरुद्धत्वादयो दोषाः १३५
स्वप्नादिप्रत्ययानामपि बाह्यार्थालम्बनत्वेन साध्यविकलता दृष्टान्तस्य ,,
सत्याऽसत्यभेदेन द्विविधः स्वप्नः ,,
सर्वस्य निरालम्बनत्वे प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः ,,
एकानेकादिविचारासहत्वं सर्वथाऽसिद्धम् १३६
उत्पादादिधर्माभावे मध्यक्षणस्याप्यसत्त्वम् ,,
मरीचिकाचक्रेऽपि न जलस्य सर्वथाऽसत्त्वम् ,,
उत्पादादीनां ज्ञानेन तादात्म्यादिसम्बन्धाभावः १३७
सकलशून्यतासद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, न वा ? ,,

सकलशून्यता किं ग्राहकप्रमाणाभावात्, अनुपलब्धेः, विचारात्, प्रसङ्गाद्वा स्यात् ? १३७
विचारोऽपि वस्तुभूतो न वा ? १३८
ग्राह्यग्राहकभावादिरहितसंविन्मात्ररूपा शून्यता किम् अभ्युपगममात्रात्, प्रतीतेर्वा स्यात् ? १३९
शब्दाद्वैतवादः १३९–१४६
(पूर्वपक्षः) द्विविधं हि ब्रह्म शब्द-परमब्रह्मभेदात् १३९
सर्वं प्रत्यक्षं शब्दानुविद्धमेवोत्पद्यते १४०
वाग्रूपता चेत्प्रतिवस्तु प्रत्यवमर्शिनी च ,,
सकलव्यवहारः शब्दानुविद्ध एव ,,
जीवेतरस्वरूपाविर्भावः शब्दायत्त एव ,,
तैमिरिकस्य शुद्धेऽप्याकाशे चित्रत्वप्रतीतिवत् अविद्योपप्लवात् सकलो भेदव्यवहारः १४१
शब्दाकारानुस्यूतत्वात् शब्दात्मकं जगत् ,,
न शब्दाद्भेदोऽर्थस्य तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात् ,,
(उत्तरपक्षः) शब्दब्रह्मात्मनो जगतः न श्रावणप्रत्यक्षात् प्रतीतिः ; शब्दमात्रविषयत्वात् १४२
इन्द्रियान्तराणां शब्दाविषयतया न तेभ्योऽपि शब्दात्मकत्वप्रतीतिः ,,
योगिप्रत्यक्षादपि न तत्सिद्धिः ,,
अविद्या ब्रह्मणोऽभिन्ना, भिन्ना वा ? १४३
आकाशे वितथप्रतिभासहेतोः तिमिरस्य सद्भावात् न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्यम् ,,
स्वसंवेदनादपि न तत्प्रतिपत्तिः ,,
शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावे न तद्विशिष्टता ग्रहीतुं शक्या १४४
भिन्नदेशत्वात् न शब्दार्थयोः संयोगः ,,
विभिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वान्न तादात्म्यम् ,,
शब्दात्मकत्वे संकेताग्राहिणोऽप्यर्थप्रतीतिः स्यात् ,,
क्षुराग्निशब्दश्रवणात् कर्णस्य कर्त्तन-दाहादिप्रसङ्गः ,,
विभिन्नकालाकारत्वाच्च तादात्म्याभावः १४४
सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धत्वाच्च न विशेषणीभावः १४५
शब्दव्यवहारस्यैव शब्दानुस्यूतता न सकलव्यवहारस्य ,,
शब्दाकारानुस्यूतत्वस्य अर्थेष्वसिद्धत्वात् ,,
तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वमप्यसिद्धम् ,,
न शब्दपरिणामरूपत्वाज्जगतः शब्दमयत्वम् ,,
नापि शब्दादुत्पत्तेः जगत् शब्दमयम् १४६
परमब्रह्मवादः १४७-१५५
(पूर्वपक्षः) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्युपनिषद्वाक्याद् ब्रह्मप्रतीतिः १४७
कर्मात्मानः ब्रह्मणश्चेतनःपरिणामः पृथिव्यादयस्तु अचेतनः ,,
सुवर्णादेरेकत्वेऽपि कटकादिनानापरिणामवत् ब्रह्मणो नानापरिणामोपपत्त्यविरोधः ,,
देशकालसामर्थ्यचित्रत्वेऽपि एकत्वाविरोधः १४८
कर्मसापेक्षस्य ब्रह्मणः कर्तृत्वात् सुखिदुःख्यादिरूपविचित्रसृष्टिजनकत्वम् ,,
स्वभावादेव वा ऊर्णनाभूर्णनाभ इव जगत्कर्तृत्वम् ,,
अर्थानां भेदे न प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणं घटते १४९
अर्थानां भेदः क्रमेण, यौगपद्येन वा ? ,,
भेदः पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नः, उभयरूपः, अनुभयरूपो वा ? ,,
अखिलार्थानामेक एव भेदः, प्रत्यर्थं भिन्नो वा ? १५०
(उत्तरपक्षः) नित्यैकरूपे ब्रह्मणि परिणामस्यैवानुपपत्तिः ,,
सहकारिकारणवशात् परिणामे द्वैतापत्तिः ,,
ब्रह्मणो जगद्विधाने प्रयोजनमस्ति, न वा ? ,,
ब्रह्म सावयवम्, निरवयवं वा ? १५१
सुवर्णादीनामुत्पादाद्यनेकस्वभावत्वे सत्येव विचित्रपरिणामः, नैकस्वभावत्वे ,,
देश-कालभेदात् क्रमस्य द्विविधत्वम् ,,
ब्रह्मणश्चित्रत्वं अवस्थाभेदे सति, अभेदे वा ? १५२

कर्मणामपि ब्रह्माधीनोत्पत्तिकत्वान्न तत्सापेक्ष-
स्यापि विचित्रसृष्टिविधानम् १५२
न चाऽनिर्वचनीयस्वभावत्वमविद्यायाः ,,
ब्रह्माऽवेदनादविद्या, अविद्यातो वा ब्रह्मावेदनम्? ,,
उर्णनाभस्य प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् प्रवृत्तिः अतो
न तद्दृष्टान्तात् स्वभावतो जगदुत्पत्तिः १५३
प्रत्यक्षत एव भेदः प्रतिभासते ,,
भेदस्य युगपदेव प्रतीतिः १५४
अभेदेऽप्येवं भिन्नाभिन्नादिविकल्पापातः ,,
आत्मनोऽभेदे च सुखदुःखादिसांकर्य्यम् १५५
आगमोऽपि द्वैताविनाभावी ,,
ब्रह्मण एकत्वे च सर्वेषां परस्परमनुसन्धानापत्तिः ,,
**इन्द्रियाणां भिन्नजातीयपृथिव्याद्यारब्ध-
त्वनिरासः** १५६
(पूर्वपक्षः) रूपादीनां मध्ये गन्धस्यैवाभि-
व्यञ्जकत्वात् पार्थिवं घ्राणम् १५६
रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् आप्यं रसनम् ,,
रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् तैजसं चक्षुः ,,
स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् वायव्यं स्पर्शनम् ,,
आकाशप्रदेशरूपं श्रोत्रम् १५७
(उत्तरपक्षः) पूर्वोक्तहेतूनां व्यभिचारः, सर्वे-
न्द्रियाणामविशेषतः पुद्गलात्मकत्वप्रसाधनञ्च ,,
इन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वनिरासः १५७-१५८
अचेतनत्वे सति करणत्वात्, इन्द्रियत्वाद्वा
नाहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि १५७
प्रतिनियतज्ञानव्यपदेशनिमित्तत्वान्नाहङ्कारिकाणि ,,
पौद्गलिकानुग्रहोपघाताश्रयत्वान्नाहङ्कारिकाणि १५८
लब्ध्युपयोगयोः भावेन्द्रियत्वम् ,,
शक्तिस्वरूपवादः १५८-१६४
स्वरूप-सहकारिव्यतिरिक्ता नास्ति अती-
न्द्रिया शक्तिः १५८
स्वरूपशक्तिः तन्तुत्वादिरूपा १५९
चरमसहकारिरूपा सहकारिशक्तिः ,,
प्रतिबन्धकमण्यभावस्यापि सहकारित्वान्न प्रति-
बन्धकसन्निधाने दाहादयः १५९
शक्तिः नित्या, अनित्या वा? ,,
एका शक्तिः, अनेका वा? १६०
शक्तिमतो भिन्ना, अभिन्ना वा? ,,
(उत्तरपक्षः) प्रतिनियतकार्यकरणान्यथानुप-
पत्तेः अस्त्यतीन्द्रिया शक्तिः ,,
स्वरूपसहकारिरूपशक्तिमात्रादेव न कार्यकारण-
भावप्रतिनियमः ,,
दाहत्वजातेर्न दाहप्रयोजकत्वम् १६१
सर्वेषामग्नीनामन्योन्यं कार्यसङ्करपरिहारे किं
सामान्यं विशेषः द्वयं वा नियामकम्? १६२
सहकारिलाभादेव कार्यकारिता, स्वभावभेदे सति
सहकारिलाभाद्वा? ,,
अभावचतुष्टये कोऽभावः सहकारी? ,,
एकतन्मन्त्राद्यभावेऽपि कार्योत्पादकत्वम् १६३
मण्यादिमात्राभावो दाहहेतुः, प्रतिबन्धका-
भावो वा? ,,
कार्याकरत्वञ्च कार्यप्रतियोगित्वम्, प्रतिबद्धत्वं वा? ,,
सामान्यरूपा शक्तिः प्रतिबद्ध्यते, द्रव्यस्व-
भावा, गुणरूपा वा? ,,
द्वे अपि शक्ती कारणजन्ये, उत एका जन्या
अन्या नित्या? १६४
प्रतिबन्धकः प्राप्य शक्तिं प्रतिबन्धाति,
अप्राप्य वा? ,,
शक्त्यन्तरयुक्तादेव कारणात् शक्तिप्रादुर्भावः १६४
कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वं नित्यानित्यात्मकत्वञ्च
शक्तीनाम् १६४
अर्थग्रहणव्यापारः उपयोगः १६५
ज्ञानस्य साकारत्व-निराकारत्वविचारः १६५-१७१
(पूर्वपक्षः) ज्ञानमर्थस्य सम्बद्धस्य असम्बद्ध-
स्य वा न ग्राहकम् १६५
अर्थस्य नाकारमन्तरेण ग्रहणम् इति साकारत्वं
ज्ञानस्य ,,

अर्थाकारं ज्ञानम् अर्थकार्यत्वात् १६५
आकाराभावे कथमतीताद्यर्थानां ग्रहणम् ? १६६
निराकारत्वे स्वरूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वम् ,,
निराकारत्वे ज्ञानस्य अन्योन्यं भेदो दुर्घटः ,,
अर्थरूपात्यये ज्ञानस्यार्थेन सम्बन्धानुपपत्तिः ,,
आहारादीनां कारणत्वाविशेषेऽपि पित्रोरन्यतराकारानुकार्यपत्यवत् अर्थस्यैवाकारानुकरणम् ,,
(उत्तरपक्षः) योग्यतालक्षणसम्बन्धादेव ज्ञानमर्थग्राहकम् १६७
निर्विकल्पकस्यासत्त्वान्न तत्साकारेतरचिन्ता सार्था ,,
साकारत्वे प्रत्यक्षादिविरोधप्रसङ्गः ,,
साकारत्वे अनुमानविरोधः ,,
स्वसंविद्रूपता-वैशद्यादिस्वभाव-अर्थोकारोल्लेखानां साकारतास्वरूपत्वे सिद्धसाधनम् ,,
नीलाद्याकाराणां जडधर्मतया न ज्ञाने संक्रान्तिः ,,
अर्थेन सह सर्वात्मना सारूप्ये ज्ञानस्य जडत्वम् १६८
साकारत्वे प्रमाणरूपताविरोधानुषङ्गः ,,
एकदेशेन सारूप्ये अर्धजरतीन्यायानुसरणम् ,,
परारागादिवेदने यदि तदाकारता कथं तर्हि वीतरागता विधूतकल्पनाजालता वा ? ,,
यदि नीलतां तदाकारतया जडतां त्वतदाकारतया तदा अर्धजरतीन्यायः ,,
सत्त्वरूपैकदेशेन सारूप्यात् नीलवदशेषार्थानां ग्रहणप्रसङ्गः १६९
परमाणवः परमाण्वात्मना आकारसमर्पकाः संघातात्मना वा ? ,,
अर्थाकारत्वे ज्ञानस्यापि त्रिचतुरस्रदीर्घादिरूपता जलधारणाद्यर्थक्रियाकारिता बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षता च स्यात् ,,
आकारो ज्ञानादभिन्नः, भिन्नो वा ? ,,
अभिन्नाकारग्रहणे च दूरातीतादिव्यवहाराभावः ,,
अर्थेन सादृश्यमात्मनः तदेव ज्ञानं प्रतिपद्येत, ज्ञानान्तरं वा ? १७०
स्वपरप्रकाशकत्वं हि बुद्धेराकारः, अतो न स्वरूपस्य अप्रत्यक्षता १७०
प्रतिनियतार्थग्राहकत्वादेव चान्योन्यं भेदः १७१
'घटयति' इति 'सम्बन्धयति' इत्यभिप्रेतम्, अर्थसम्बद्धं निश्चाययति इति वा ? ,,
प्रतिनियतयोग्यतया न सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः ,,
न स्वाकारमात्रालम्बनं ज्ञानम्, किन्तु बहिरर्थालम्बनम् १७२
विवृतिव्याख्यानम् १७२
दर्शनमेव अवग्रहरूपेण परिणमति १७२
अवग्रहस्य ईहाऽवायरूपेण परिणामेऽपि व्यपदेशभेदः ,,
धारणालक्षणात्मकं कारिकार्धम् १७३
विवृतिव्याख्यानम् १७३
धारणायाः लक्षणम् ,,
ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम् ,,
६ कारिकाव्याख्यानम् १७४
अवग्रहादीनां बह्वादिभेदनिरूपणम् ,,
स्वसंवेदनस्य लक्षणम् ,,
स्वसंवेदनवादः १७५-१८१
(पूर्वपक्षः) ज्ञानं परोक्षं कर्मत्वेनाऽप्रतीयमानत्वात् १७५
प्रत्यक्षतो ज्ञप्त्यभावात्परोक्षता न पुनः ग्राहकाभावात् ,,
अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्तेः ज्ञानसद्भावसिद्धिः १७६
प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्यानुमानम् ,,
(उत्तरपक्षः) कर्मत्वेनाप्रतीतावपि करणत्वेन प्रतीतेः ज्ञानस्य प्रत्यक्षता १७७
सकलप्रमाणापेक्षया ज्ञानस्य कर्मत्वविरोधे असत्त्वम् ,,
स्वरूपापेक्षया कर्मत्वाप्रसिद्धरनुभवविरुद्धा ,,
अस्वसंवेदने ज्ञानस्य न प्रत्यक्षतः सत्त्वम् ,,
नापि इन्द्रियलिङ्गकानुमानात् सत्त्वम् १७८

अर्थोऽपि सत्तामात्रेण लिङ्गं ज्ञातत्वविशिष्टत्वेन वा ? १७८
अर्थातिशयस्य लिङ्गत्वे न ज्ञानस्य ज्ञानविषयत्वस्य वा अर्थातिशयरूपता १७९
प्रकाशतापि अर्थधर्मः, ज्ञानधर्मः उभयधर्मः, स्वतन्त्रा वा ? ,,
प्रकाशमानता मुख्यतः अर्थधर्मः उपचारतो वा ? ,,
प्रकाशमानता अर्थादभिन्ना, भिन्ना वा ? १८०
भेदे सम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? ,,
सम्बन्धेऽपि तादात्म्येन, तदुत्पत्त्या, संयोगेन वा ? ,,
तत्सम्बन्धलिङ्गजानुमानादपि न तत्सिद्धिः ,,
प्रवृत्तिनिवृत्तीभ्यां ज्ञानानुमाने उपेक्षमाणार्थज्ञानस्य कथमनुमानम् ? १८१
ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वे न लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणम् ,,
ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वे 'मम प्रकाशते' इति व्यपदेशाभावः ,,

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादः १८१-१८९

(पूर्वपक्षः) ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् १८१
अस्मद्विशिष्टत्वात् ईश्वरज्ञानेन न व्यभिचारः ,,
अर्थग्रहणस्वभावतयैव ज्ञानस्य व्यवस्था १८२
ग्रहणञ्च ज्ञानस्य स्वसमवेतानन्तरज्ञानेन ,,
ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽपि तृतीयज्ञानादेवार्थसिद्धेः नानवस्था ,,
स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वेन संवेदनम् ,,
स्वकीयेन अनन्तरज्ञानेन संवेदने तु सिद्धसाध्यता १८३
स्वपरप्रकाशात्मकत्वस्य बोधरूपत्वे दीपे तदभावात् साध्यविकलता ,,
भासुररूपसम्बन्धित्वे ज्ञानेऽभावात् कथं साध्यता ,,
येनात्मना ज्ञानं स्वं प्रकाशयति तेनैवार्थम्, तदन्तरेण वा ? ,,
(उत्तरपक्षः) ज्ञानसामान्यस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे ईश्वरज्ञानेन व्यभिचारः १८३
अस्मदादिविशेषणस्यान्नानुपात्तत्वात् कथमस्मदादिज्ञानस्यैव ज्ञानान्तरवेद्यता ? ,,
स्वसंविदितत्वं ज्ञानसामान्यस्य स्वभावो नेश्वरज्ञानस्यैव १८३
ईश्वरज्ञानस्य सर्वदा परोक्षत्वे च कथं सर्वज्ञता ? १८४
यदि 'अस्मदादिज्ञानत्वे सति प्रमेयत्वात्' इति हेतुः तदा दृष्टान्तस्य साधनविकलता ,,
स्वसंवेदनाभावे अर्थग्रहणात्मकता दुर्घटा ,,
अर्थग्रहणमित्यत्र अर्थस्यैव ग्रहणम्, अर्थस्यापि वा ग्रहणम् ? ,,
ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि सहसम्भूतज्ञानवेद्यता, उत्तरकालीनज्ञानवेद्यता वा ? १८५
उत्तरकालीनज्ञाने प्राक्तनं ज्ञानमनुवर्त्तते न वा ? ,,
अर्थज्ञानोत्पत्तौ नियमेन तज्ज्ञानमुत्पद्यते न वा ? १८६
अर्थजिज्ञासायामहमुत्पन्नमिति तदेव प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तरं वा ? ,,
स्वात्मनि क्रियाविरोधस्य ईश्वरज्ञानेन प्रदीपेन चानेकान्तः १८७
उत्पत्तिरूपा परिस्पन्दात्मिका वा क्रिया न स्वात्मनि विरुद्धा ,,
अकर्मिका सकर्मिका वा धात्वर्थरूपापि न विरुद्धा ,,
ज्ञानान्तरापेक्षया कर्मत्वविरोधः स्वरूपापेक्षया वा ? १८८
ज्ञानस्वरूपाप्रतिभासने कथमर्थोन्मुखतायाः प्रतीतिः ? १८८
कश्च क्रियायाः स्वात्मा—किं स्वरूपम्, क्रियावदात्मा वा ? १८८
अर्थप्रकाशकत्वम् अर्थोद्योतकत्वमात्रम् १८९
ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशस्वभावाभ्यां कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकता ,,

प्रधानपरिणामात्मक-अचेतनज्ञानवादः १८९-१९४

(पूर्वपक्षः) अचेतनं ज्ञानं प्रधानपरिणामत्वात् १८९
महत्तत्त्वरूपा बुद्धिः असंवेद्या, तन्निसृता इन्द्रियवृत्तय एव संवेद्याः १९०
बुद्धिचैतन्ययोर्भेदेऽपि संसर्गादभेदभानम् ,,
अचेतनापि बुद्धिः चेतनसंसर्गात् चेतनायमाना ,,

(उत्तरपक्षः) किमिदमचेतनत्वम् अस्वसंविदितत्वम् , अर्थाकारधारित्वम् , जडपरिणामत्वं वा ? १९१
अनित्यज्ञानपरिणामात्मकत्वेऽपि न सर्वथा अनित्यत्वमात्मनः ,,
न व्यापिका नित्या च बुद्धिः प्रधानपरिणामत्वात् ,,
प्रकृतेः बुद्धिरूपः परिणामः स्वभावतः, पुरुषार्थकर्त्तव्यतातः, अदृष्टाद्वा ? १९१
त्रिगुणात्मकत्वादत्यन्तम्लानायां बुद्धौ कथं पुरुषप्रतिबिम्बनम् ? १९२
संसर्गशब्दस्य कोऽर्थः—प्रतिबिम्बनम् , भोग्यभोक्तृभावो वा ? ,,
'चेतनावत्' इत्यस्य किमचेतनं चेतनं भवतीत्यर्थः, तच्छायाच्छुरितं वा ? ,,
बुद्धिचैतन्ययोः पर्यायतया न बिम्बप्रतिबिम्बभावः १९३
बह्वयोगोलकयोरपि भेदाभावात् ,,
आत्मापि बुद्ध्यर्थौ प्रतिपद्य, अप्रतिपद्य वा सारूप्यं प्रतिपद्येत ? १९४

६ कारिकोत्तरार्द्धव्याख्यानम् १९५

पूर्वपूर्वज्ञानस्य प्रमाणत्वे उत्तरोत्तरज्ञानानां फलत्वम् १९५

प्रामाण्यवादः १९५–२०५

(पूर्वपक्षः) प्रमाणस्य भावः अर्थपरिच्छेदिका शक्तिः प्रामाण्यम् , कर्म वा अर्थपरिच्छेदः प्रामाण्यम् १९५
स्वतः—विज्ञानमात्रसामग्रीतो जायते न गुणादिकमपेक्षते ,,
शक्तिरूपं प्रामाण्यं शक्तयश्च स्वत एव जायन्ते ,,
अर्थपरिच्छेदेऽपि न स्वग्रहणापेक्षा १९६
संवादकज्ञानात् , गुणज्ञानात् , अर्थक्रियाज्ञानाद्वा प्रामाण्यनिश्चये अनवस्था ,,
अप्रामाण्यं तु अतिरिक्तदोषानुविधानात् परत एव उत्पद्यते ,,
अप्रमाणं त्रिधा मिथ्यात्वाज्ञानसंशयभेदात् १९६
निवृत्त्याख्ये स्वकार्ये च स्वग्रहणापेक्षा ,,
गुणानां कुतश्चित्प्रसिद्धावपि दोषापसारण एव व्यापारः न तु प्रामाण्ये १९७
प्रामाण्यं बोधकत्वम् , तच्च ज्ञानोत्पत्तिसमय एव जातम् ,,
यत्र बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं च तत्र परतोऽप्रामाण्यम् ,,
(उत्तरपक्षः) किमर्थमात्रपरिच्छेदिका शक्तिः प्रामाण्यम् , यथार्थपरिच्छेदिका वा ? ,,
चक्षुरादिषु नैर्मल्यादिगुणानां प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ,,
नैर्मल्यादीनां चक्षुरादियुक्तस्यैवोत्पादात् स्वरूपता, तद्व्यतिरेकेण अनुपलभ्यमानत्वाद्वा ? १९८
स्वरूपशब्दस्य किं तादात्म्यमर्थः , तन्मात्रत्वं वा ? १९८
गुणाभावे चक्षुरादौ तत्पटुत्वतारतम्याभावः १९८
नैर्मल्यादीनां न मलाभावरूपता १९८
गुणानां दोषापसारणमात्रव्यापारत्वे दोषाणामपि गुणापसारणे व्यापाराद्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम् ,,
अनुमानोत्पत्तौ साध्याविनाभावस्यैव गुणत्वम् १९९
अयथार्थप्रकाशनशक्तिः अप्रामाण्यम् , अतस्तस्यापि स्वतस्त्वम् १९९
तदनुवृत्तावपि व्यावर्तमानत्वात् न सामान्यसामग्रीतः उत्पादः १९९
स्वशब्दः आत्मात्मीयज्ञातिधनेषु किमर्थकः ? ,,
स्वतः इति कारणमन्तरेण उत्पादःस्यात् , आत्मन एव, आत्मीयसामग्रीतो वा ? ,,
स्वत इति प्रामाण्यविशेषणं प्रमाविशेषणं वा ,,
विज्ञानमात्रोत्पादिका आत्मीयसामग्री विशिष्टा वा? २००
ज्ञप्तौ कादाचित्कत्वात्प्रामाण्यनिश्चयस्य न स्वतस्त्वम् ,,
किं स्वकार्यम्—पुरुषप्रवृत्तिः, अर्थपरिच्छेदो वा ? २०१
अर्थपरिच्छेदमात्रं स्वकार्यम् , यथार्थपरिच्छेदो वा ? ,,

अभ्यासदशायां न संवादाद्यपेक्षा यतोऽनवस्था २०१
अनभ्यासदशायां परतोऽभ्यस्तविषयात् प्रामाण्यमतो नानवस्था २०२
अर्थक्रियाज्ञानञ्च अर्थाव्यभिचार्येव ,,
अर्थक्रियाज्ञानात्प्रामाण्येऽपि न मणिप्रभायां मणिबुद्धेः नापि कूटे द्रमे तद्बुद्धेः प्रामाण्यम् २०२
बोधकत्वमात्रं प्रामाण्यम् , अर्थबोधकत्वं वा ? २०२
अर्थमात्रबोधकत्वम् , अवितथार्थबोधकत्वं वा? २०३
प्रामाण्यस्याभावः अप्रामाण्यं स्वरूपभूतो वा धर्मः ,,
सर्वत्र स्वतःप्रामाण्ये संशयादयः किं स्वतः, विषयात् , सहकारिभ्यः, प्रमातुः, ज्ञानान्तरप्रभावात् , इन्द्रियादेः, आधारसम्बन्धाद्वा स्युः ? २०४
विषयमात्रस्य संशयोत्पत्तौ व्यापारः, विशिष्टस्य वा ? ,,
अप्रामाण्यं बोधस्वरूपादतिरिक्तमनतिरिक्तं वा? २०५

विवृतिव्याख्यानम् २०५

बौद्धमते न वेद्याकारस्य प्रमाणत्वं नापि वेदकाकारस्य फलरूपत्वम् २०५
निर्विकल्पकस्य न प्रामाण्यं विकल्पापेक्षणात् २०६
बह्वाद्यवग्रहादीनां स्वभावभेदात् प्रमाणफलव्यवस्था २०७
प्रतिभासभेदेऽपि एकत्वे न क्रमः सुखदुःखादिभेदो वा ? २०७
प्रतिभासभेदेन सर्वथा भेदे कथं चित्रज्ञानमेकं स्यात् ? २०८
अतः प्रामाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यम् २०८

प्रमाणफलयोः भेदाभेदवादः २०८–२१२

(पूर्वपक्षः) प्रमाणं व्यतिरिक्तक्रियाकारि कारकत्वात् २०८
करणत्वाच्च विभिन्नफलविधायि ,,
न चैकस्य करणक्रियोभयरूपता २०९
विशेषणज्ञानस्य प्रमाणत्वात् विशेष्यज्ञानस्य च फलत्वात् कथमभेदः ? ,,
विभिन्नसामग्रीप्रभवतया विभिन्नविषयतया च भेद एव ,,
(उत्तरपक्षः) कथञ्चिद्भेदः साध्यते सर्वथा वा ? ,,
अभिन्नं फलमज्ञाननिवृत्तिः तद्धर्मत्वात् ,,
कथञ्चिद्भेदे एव धर्मधर्मिभावः २१०
एकस्यापि अपेक्षाभेदात् करण-फलरूपता ,,
अज्ञाननिवृत्तेः ज्ञानकार्यतया कथञ्चिद्भेदः ,,
अज्ञाननिवृत्तिः ज्ञानमिति धर्मरूपतया, धर्मिरूपतया वा ? ,,
अज्ञाननिवृत्तिः कार्या, अकार्या वा ? ,,
ज्ञानमात्रमेव अज्ञाननिवृत्तिः, विशिष्टं वा ज्ञानम् ? २११
हानादीनाम् अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलेन व्यवधानात् भिन्नफलत्वम् २११
विशेषणविशेष्ययोरेकज्ञानविषयत्वात् न प्रमाणफलभावः २१२
न च विषयभेदात् ज्ञानभेदः ,,

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

प्रमाणप्रवेशे द्वितीयो विषयपरिच्छेदः पृ०

विषयनिरूपणार्थं सप्तमकारिकावतारः २१३

७ कारिकाविवरणम् २१३

अर्थः द्रव्यपर्यायात्मकः २१३

विवृतिव्याख्यानम् २१३

भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् २१३

षट्पदार्थवादे वैशेषिकस्य पूर्वपक्षः २१४

द्रव्यादयः षट् पदार्थाः अभावश्च सप्तमः ,,
पृथिव्यादिनवद्रव्याणि ,,

कियावद्गुणवदित्यादि द्रव्यलक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानम् २१४
पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी ,,
अप्त्वाभिसम्बन्धादापः २१४
एवं शेषलक्षणान्यपि ,,
अकाशकालदिशान्तु पारिभाषिक्यः तिस्रः संज्ञा एव लक्षणम् २१५
आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा ,,
मनस्त्वाभिसम्बन्धान्मनः ,,
रूपादयश्चतुर्विंशतिर्गुणाः ,,
उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि ,,
परापरभेदं द्विविधं सामान्यम् ,,
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः विशेषाः ,,
अयुतसिद्धानामित्यादि समवायलक्षणम् ,,

पार्थिवादिपरमाणुलक्षणनित्यद्रव्यनिरासः २१५-२०

परमाणुसद्भावे नास्मदादिप्रत्यक्षं प्रवर्त्तते २१५
कार्यमात्रं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धं प्रसाध्येत, द्रव्यत्वविशिष्टं वा कार्यम् ? ,,
कार्यपरिमाणादधिकसमन्यूनानां वा कारणत्वप्रतीतेः २१६
स्कन्धभेदपूर्वकत्वात् विशेष्यासिद्धश्च ,,
अस्मन्मते तु अणुपरिमाणतरतमादिभेदः क्वचिद्विश्रान्तः इत्याद्यनुमानात् परमाणुसिद्धिः २१७
नित्यैकरूपतैव परमाणूनामसंभाव्या ,,
एकान्ततो नित्याः परमाणवः कार्याजननस्वभावाः, तद्विपरीता वा ? ,,
समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां लक्षणानि ,,
यदि नित्यत्वेऽपि परमाणूनां संयोगाभावान्न सदा कार्योत्पत्तिः; तदा संयोगः नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? २१८
द्व्यणुकादिनिवर्तकः संयोगः किं परमाण्वाश्रितः तदन्याश्रितः, अनाश्रितो वा ? ,,
संयोगः सर्वात्मना, एकदेशेन वा ? २१९
सहकारिणोऽपि स्वगतातिशयविशेषा एव, वस्त्वन्तराणि वा ? २१९
सहकारिणः परस्परोपकार्योपकारकत्वेन अणूनुपकुर्वन्ति, न वा ? ,,
परमाणवः येन रूपेण एकं कार्यं जनयन्ति तेनैव कार्यान्तरम्, रूपान्तरेण वा ? २१९
रूपान्तरकाले प्राक्तनं रूपं निवर्त्तते न वा ? ,,
क्रमवत्कार्यहेतुत्वादनित्यत्वं परमाणूनाम् २२०

द्व्यणुकाद्यवयविरूपानित्यद्रव्यविचारः २२०-२२२

कार्यत्वं किं स्वकारणसत्तासमवायः, अभूत्वाभावित्वं वा ? २२०
कार्यस्य स्वकारणैः सत्तया च समवायः, किं वा स्वकारणानां सत्तया समवायः, आहोस्वित् सत्तया युक्तः समवायः ? २२०
कार्यस्वरूपाभावात् न कारणत्वं व्यवतिष्ठते २२१
अभूत्वाभावित्वमपि दुर्घटम् ,,
कारणत्वमपि कार्यमात्रनिष्पादकत्वम्, नियतकार्यनिष्पादकत्वं वा ? ,,
कारणानां कार्यालम्बना प्रवृत्तिः, निरालम्बना वा ? ,,
कारणानां व्यापारवशेनैव कारणत्वम् २२२
पूर्वकालभावित्वं न कारणलक्षणम् ,,
तदेवं कार्यकारणभावाभावान्न कार्यद्रव्यं घटते ,,

अवयव-अवयविनोर्भेदाभेदादिवादः २२३-२३१

(पूर्वपक्षः) अवयवावयविनौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्, विरुद्धधर्माध्यासात्, विभिन्नकर्तृकत्वात्, विभिन्नशक्तिकत्वात्, पूर्वोत्तरकालभावित्वात्, विभिन्नपरिमाणत्वाच्च । २२३
तादात्म्ये प्रतिभासभेदादिकं दुर्घटम् ,,
वृत्तिविकल्पाद्यनुत्पत्त्याख्यं अवयविनिरासे स्वतन्त्रं साधनम्, प्रसङ्गं वा ? २२४
कात्स्न्यैकदेशशब्दौ च एकस्मिन्नवयविनि अनुपपन्नौ ,,

प्रसङ्गसाधने परेष्टिः प्रमाणमप्रमाणं वा ? २२४
(उत्तरपक्षः) भिन्नप्रतिभासत्वात् कथञ्चिद्भेदः साध्यते, सर्वथा वा ? ,,
कथञ्चित्तादात्म्यञ्च अवयवाऽवयविनोः प्रत्यक्षतः प्रतिभासते २२५
कथञ्चित्तादात्म्यस्य न प्रत्यक्षबाधा ,,
अनुमानमपि भिन्नप्रतिभासत्व-भिन्नार्थक्रियाकारित्व-भिन्नकारणप्रभवत्व-भिन्नकालत्व-विरुद्धधर्माध्यासत्व-विभिन्नशक्तिकत्व-विभिन्नपरिमाणत्वादिहेतूत्थं न बाधकम् ,,
विरुद्धधर्माध्यासोऽनैकान्तिकः ,,
भिन्नशक्तित्वात् भिन्नपरिमाणत्वाच्च अवस्थाभेद एव स्यात् न त्वन्त्यन्तभेदः ,,
अवयवेभ्यो भिन्नस्यावयविन अनुपलम्भे अदृश्यस्वभावत्वादिकारणाभावान्नास्ति भिन्नोऽसौ २२६
वृत्तिविकल्पादिहेतवो नावयविनिरासाय किन्तु तदत्यन्तभेदापाकरणाय ,,
अनेकावयवेषु एकस्यानंशस्य वृत्त्यप्रतीतेः २२७
कात्स्न्यैंकदेशं परित्यज्य प्रकारान्तरेण वृत्त्यप्रतीतेः ,,
निरंशत्वे एकदेशावरणे सर्वावरणम् ,,
प्रदेशतः आवरणे सांशत्वम् २२८
प्रदेशतोऽप्यावरणाभावे प्रागिवोपलभ्येत ,,
अवयवावरणेप्यवयविनोऽनावरणे वृत्तिविरोधः ,,
रक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाच्च न निरंशैकरूपता ,,
निरंशे संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वानुपपत्तिः २२९
निरंशत्वे चित्ररूपप्रतिपत्त्यनुपपत्तिः ,,
शुक्लादिविशेषशून्यं रूपमात्रं चित्रम्, शुक्लादय एव समुदिताः, शुक्लादिविलक्षणं वा रूपम् ? ,,
नीलादयः आश्रयव्यापिनः एकदेशवृत्तयो वा ? २३०
अवयवेष्वेव रूपाभ्युपगमे नीरूपस्यावयविनोऽनुपलम्भप्रसङ्गः ,,
नीलाद्युपाधयः अवयविनः उपकारका न वा ? २३०
एकोपाध्युपकार्यत्वेन ग्रहणे अनंशस्य सर्वग्रहणप्रसंगः ,,
संयोगेतरविरुद्धधर्माध्यासान्न निरंशैकरूपता ,,
चलाचलादिविरुद्धधर्माध्यासाच्च २३१
अतः तन्त्वादीनामातानवितानीभूतानामेकत्वपरिणतिलक्षणोऽवस्थाविशेष एव पटाद्यवयवी ,,

रूपादिव्यतिरिक्त-अवयविसद्भाववादः २३१-२३६

(पूर्वपक्षः) रूपादिव्यतिरिक्तोऽवयवी न प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते ? २३१
तदुत्पत्तौ कारणानुपपत्तेश्च ,,
अणुसंयोगः सर्वात्मना एकदेशेन वा ,,
अयःशलाकाकल्पेष्वणुषु केशेषु तैमिरिकोपलब्धिवत्स्थूलादिप्रतीतिः भ्रान्तिवशात् ,,
अनेकावयवव्यापित्वं रूपरसाद्यात्मकत्वं वा नाखिलावयवाग्रहणे ग्रहीतुं शक्यम् २३२
अखिलावयवव्यापित्वं च अर्वाग्-मध्य-परभागावयवग्राहिप्रत्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यम् ,,
रूपरसाद्यात्मकत्वं रूप-रस-उभयग्राहिप्रत्यक्षेण ज्ञातुमशक्यम् ,,
(उत्तरपक्षः) किंमेकत्वपरिणतिविशिष्टं रूपं घटादिव्यपदेशार्हम्, अन्योन्यविलक्षणानंशपरमाणुप्रचयात्मकं वा ? ,,
वृत्तिविकल्पदूषणेन सम्बन्धाभाव इष्टः, प्रकारान्तरेण वा वृत्तिः ? २३३
असम्बन्धे रज्ज्वादीनामाकर्षणाद्यभावः ,,
प्रकारान्तरञ्च स्निग्धरूक्षतानिबन्धनसम्बन्धव्यतिरेकेण नान्यत् ,,
षडंशतापत्तेः आरम्भकदेशापेक्षत्वे परमाणुत्वव्याघातः ,,
स्वभावापेक्षत्वे सिद्धसाधनम् ,,
असम्बन्धे च जलधारणाहरणादिसमर्थस्य घटादेरनिष्पत्तिः ,,

तैमिरिककेशोपलब्धिदृष्टान्तोऽसङ्गतः २३४
अवयव्यभावे घटादिप्रत्ययो निर्विषयः, सविषयो वा ? ,,
सञ्चिताणूनाम् प्रत्यक्षविषयत्वाभावः ,,
सञ्चयश्च देशप्रत्यासत्तिः, संयोगविशेषो वा ? ,,
सेनावनादिवत् अणुसमूहे प्रत्ययानुपपत्तिः २३५
स्थूलादिप्रतीतेर्न भ्रान्तता ,,
विरुद्धधर्माध्यासात् कथञ्चिद्भेदः, सर्वथा वा ? ,,
सर्वथाभेदः रूपादिनाऽनैकान्तिकः २३६
अनुसन्धानप्रत्ययात् रूपरसाद्यात्मकत्वं सुग्रहम् ,,
अवयव्यभावे परमाणोरप्यव्यवस्थितिः ,,

द्रव्यलक्षणविचारः २३६-३८

द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यत्वे अन्योन्याश्रयः २३६
क्रियावत्त्वं गुणवत्त्वं समवायिकारणत्वञ्च व्यस्तं सत् द्रव्यत्वस्य व्यञ्जकम्, समस्तं वा ? २३७
'द्रव्यमितरेभ्यो भिद्यते' इत्यनुमानदूषणम् ,,
लक्षणस्य केवलव्यतिरेकित्वग्रहोऽशक्यः २३८

पृथिव्यादिचतुर्णां पुद्गलात्मकत्वम् २३८-२४०

(पूर्वपक्षः) एकपुद्गलात्मकत्वे प्रतिनियतगुणाधारतानियमाऽभावः २३८
पृथिवीत्वादिनियतजातिसम्बन्धस्य दुर्घटत्वम् ,,
(उत्तरपक्षः) प्रतिनियतगुणाधारतानियमस्य सत्तापेक्षयाऽनुपपत्तिः; जलादावपि गन्धादीनां सत्त्वात् ,,
अभिव्यक्त्यपेक्षायां न द्रव्यान्तरत्वम् २३९
पृथिवीत्वाद्यवान्तरजातिसम्बन्धस्य तत्त्वभेदाऽप्रसाधकत्वम् ,,
पृथिव्यादीनां जातिभेदेनान्योन्यमत्यन्तभेदे उपादानोपादेयभावाभावः ,,

आकाशद्रव्यवादे शब्दस्य गुणत्वनिरासः २४०-५०

(पूर्वपक्षः) शब्दगुणाश्रयत्वादाकाशस्य सिद्धिः २४०
गुणः शब्दः द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् ,,
न द्रव्यं शब्दः एकद्रव्यत्वात् २४०
एकद्रव्यं शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ,,
न कर्म संयोगविभागाकारणत्वात् ,,
न द्रव्यं न कर्म अनित्यत्वे सति नियमेन अचाक्षुषत्वात् ,,
न द्रव्यं न कर्म व्यापकद्रव्यसमवेतत्वात् २४१
गुणत्वे शब्दस्य पारिशेष्यादाकाश एव आश्रितत्वम् न पृथिव्याद्यष्टसु ,,
शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकं विभु च २४२
निरतिशयपरिमाणाधिकरणत्वान्नित्यम् ,,
संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः ,,
(उत्तरपक्षः) शब्दस्य आश्रयमात्राश्रितत्वं साध्यम्, नित्यैकव्याप्याश्रयाश्रितत्वं वा ? ,,
कर्मान्यत्वे सत्यपि द्रव्यान्यत्वमसिद्धम् २४३
शब्दो द्रव्यं गुणक्रियावत्त्वात् ,,
स्पर्शवान् शब्दः ,,
अल्पत्वमहत्त्वपरिमाणवान् शब्दः ,,
संख्यावान् शब्दः २४४
संयोगवान् शब्दः ,,
देशान्तरगमनात् क्रियावान् २४५
वीचीतरङ्गन्याये तु क्रियावत्त्वोच्छेदः ,,
प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् स एव शब्दः श्रूयते, न वीचीतरङ्गवृत्त्या तत्सदृशः ,,
तीव्रादिभेदेऽप्यत्र क्षणिकत्वानुपपत्तिः ,,
वीचीतरङ्गवृत्त्योत्पत्तौ प्रथमतः एकः शब्दः प्रादुर्भवेत्, अनेको वा ? २४६
अनेकोऽपि स्वदेशे शब्दान्तरारम्भकः देशान्तरे वा ? २४७
आकाशगुणत्वे च अस्मदादिप्रत्यक्षतानुपपत्तिः ,,
सत्तासम्बन्धित्वं स्वरूपभूतसत्तया, भिन्नया वा ? ,,
अनेकद्रव्यः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात् २४८

स्पर्शवदणुगुणत्वनिषेधः इष्ट एव २४८
आत्मादिगुणत्वनिषेधोऽपि इष्ट एव ,,
गुणत्वनिषेधात् शब्दोत्पत्तिप्रक्रियाऽपि निषिद्धैव ,,
शब्दस्य अव्याप्यवृत्तित्वे आकाशस्य सावयवता ,,
अव्याप्यवृत्तित्वं पर्युदासरूपं प्रसज्यरूपं वा ? २४९
आकाशस्य नित्यत्वेन शब्दस्य आश्रयविनाशात् विरोधिगुणप्रादुर्भावात् तन्निमित्तादृष्टाभावाद्वा विनाशः ? ,,
पौद्गलिकः शब्दः गुणक्रियावत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ,,
आकाशस्य तु युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्यादेव सिद्धिः २५०
आकाशस्य व्यापित्वान्नान्याश्रयेऽवगाहः ,,
दिक्कालात्मनां व्यापित्वाभाव एव ,,
अमूर्त्तस्यापि आधारता ,,
समसमयवर्त्तिनामपि आधाराधेयभावः ,,

कालद्रव्यवादः २५१-२५७

(पूर्वपक्षः) परापरव्यतिकरचिरक्षिप्रप्रत्ययादिलिङ्गादस्तित्वं कालस्य २५१
आदित्यादिक्रियायाः वलिपलितादिद्रव्यस्य च तन्निमित्तत्वाभावः ,,
एकत्वं नित्यत्वं विभुत्वञ्च कालस्य ,,
कालस्य इतरभेदे व्यवहारे वा परापरादिप्रत्यया एव लिङ्गम् ,,
(उत्तरपक्षः) कालः एकद्रव्यरूपः, अनेक द्रव्यरूपो वा साध्यते ? ,,
नित्यनिरंशैकरूपता च परापरादिप्रत्ययभेदअतीतादिभेदान्यथानुपपत्त्या अनुपपन्ना ,,
नित्यादिरूपत्वे चिरक्षिप्रव्यवहाराभावः २५२
उपाधिभेदादपि न एकरूपे काले भेदः ,,
नित्यादिरूपत्वे परापरव्यतिकरानुपपत्तिः ,,
नित्यादिरूपत्वे भूतभविष्यद्वर्त्तमानत्वं दुर्घटम् २५३
अतीतादिभेदः स्वतः, अतीतादिकालसम्बन्धात्, अतीतार्थक्रियासम्बन्धाद्वा ? २५३
कालस्यैकत्वे स्ववचन-लोक-अनुमानविरोधः ,,
मुख्यकालोऽनेकद्रव्यं प्रत्याकाशदेशं व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः २५४
प्रतिलोकाकाशदेशं कालस्य अणुरूपतया भेदः ,,

कालद्रव्यसिद्धिः २५४-२५७

(पूर्वपक्षः) कालस्य स्वरूपत एव अप्रसिद्धेः २५४
कालस्य स्वतोऽन्यतो वा अतीतादिभेदानुपपत्तेः प्रमाणापेक्ष एवायमतीतादिव्यवहारः ,,
(उत्तरपक्षः) ग्राहकप्रमाणाभावात् कालस्याभावः अतीतादिकालभेदासंभवाद्वा ? २५५
आदित्यक्रियायाः घटिकादौ उदकसञ्चारादिक्रियाया वा न कालव्यवहारनिमित्तता ,,
कर्तृकर्मणोः न यौगपद्यादिनिमित्तत्वम् २५६
प्रमाणापेक्षोऽपि न कालव्यवहारः २५७
कालानभ्युपगमे लोकप्रतीतिविरोधः ,,

दिग्द्रव्यवादः २५७-२६१

(पूर्वपक्षः) इदमतः पूर्वेणेत्यादिप्रत्ययात् दिग्द्रव्यसिद्धिः २५७
नैषां प्रत्ययानां मूर्त्तद्रव्यनिबन्धनता ,,
विभुत्वैकत्वनित्यत्वादयश्चास्य धर्माः २५८
एकत्वेऽपि लोकपालगृहीतदिक्प्रदेशैः सवितुः संयोगात् प्राच्यादिभेदव्यवहारः ,,
(उत्तरपक्षः) आकाशप्रदेशश्रेणिष्वेव आदित्योदयादिवशात् प्राच्यादिभेदव्यवहारोपपत्तितः नातिरिक्तं दिग्द्रव्यम् ,,
आकाशप्रदेशे प्राच्यादिव्यवहारः स्वरूपत एव ,,
दिग्प्रदेशे स्वभावतस्तद्व्यवहारे दिक्परावृत्त्यभावानुषङ्गः २५९
अन्यथा देशद्रव्यस्य कल्पना स्यात् ,,
'पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादयः' इति प्रत्ययात् न पृथिव्यादिषु प्राच्यादिकल्पना ,,

आत्मद्रव्यवादः २५९-२६८

(पूर्वपक्षः) आत्मा व्यापकः अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् २५९

अणुपरिमाणानधिकरणः आत्मा अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधारत्वात् २६०

आत्मा नित्यः अस्पर्शवद्द्रव्यत्वात् ,,

व्यापकत्वाभावे द्वीपान्तरवर्त्तिमणिमुक्ताफलाद्याकर्षणानुपपत्तिः ,,

देवदत्ताद्यङ्गनाद्यङ्गस्य देवदत्तगुणपूर्वकत्वं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् ,,

अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ताश्रयान्तरे कर्मारम्भकम् एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात् ,,

अव्यापकत्वे देशान्तरवर्त्तिपरमाणुषु क्रियाभावात् शरीरारम्भकत्वाभावः २६०

सावयवे शरीरे प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः, तथा च कार्यत्वम् ,,

शरीरपरिमाणत्वे मूर्त्तत्वानुषंगात् मूर्त्ते शरीरेऽनुप्रवेशाभावः २६१

बालशरीरपरिमाणस्य च युवशरीरपरिमाणस्वीकारः तत्परिमाणपरित्यागात्, अत्यागाद्वा ? ,,

शरीरच्छेदे आत्मनः छेदप्रसङ्गः ,,

(उत्तरपक्षः) 'सुखी अहम्' इत्यादिप्रत्यक्षेण आत्मनः स्वशरीर एव सद्भावः ,,

व्यापकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वं भोजनादिव्यवहारसङ्करश्च ,,

अणुपरिमाणानधिकरणत्वमित्यत्र किं पर्युदासो नञर्थः प्रसज्यो वा ? २६२

प्रसज्यपक्षे किमसौ साध्यस्य स्वभावः, कार्यं वा ? ,,

नित्यद्रव्यत्वञ्चात्मनः कथञ्चित्, सर्वथा वा ? २६३

क्षणिकविशेषगुणाधिकरणत्वमनैकान्तिकम् ,,

देवदत्ताङ्गनांगादिकारणत्वेन ज्ञानदर्शनादयो गुणा इष्टाः, धर्माधर्मौ वा ? ,,

न च कार्यदेशे सन्निहितस्यैव कारणत्वम्, अञ्जनादीनामसन्निहितानामपि आकर्षकत्वादिदर्शनात् २६३

ग्रासादिवदित्यत्र को गुणोऽभिप्रेतः धर्मादिः, प्रयत्नो वा ? २६४

अदृष्टस्य गुणत्वमेकद्रव्यत्वञ्चासिद्धम् ,,

अदृष्टस्य क्रियाहेतुत्वमप्यसिद्धम् ,,

अदृष्टजन्यत्वात् क्रियानियमे शरीरारम्भकाणूनां नित्यतया क्रिया न स्यात् ,,

अदृष्टं स्वयमुपसर्पत् क्रियाहेतुः, द्वीपान्तरवर्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव वा ? ,,

स्वसंवेदनेन द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यवियुक्त एवात्मा अनुभूयते २६५

देवदत्तं प्रति उपसर्पन्तः इत्यत्र देवदत्तशब्देन शरीरम्, आत्मा, तत्संयोगः, आत्मसंयोगविशिष्टं शरीरम्, तत्संयोगविशिष्ट आत्मा, शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो वा इष्टः ? ,,

आत्मप्रदेशपक्षे प्रदेशाः काल्पनिकाः, पारमार्थिका वा ? २६६

'यद्येन संयुक्तं तं प्रति तदेवोपसर्पति' इति नियमस्याऽसंभवात् ,,

सर्वगतत्वे एव सर्वपरमाणूनामाकर्षणप्रसङ्गः ,,

सावयवत्वस्य भिन्नावयवारब्धत्वेन व्याप्त्यभावात् २६७

बालशरीरपरित्यागेन युवंशरीरस्वीकारेऽपि नात्मनो विनाशः ,,

शरीरच्छेदेऽपि नात्मनः छेदनम् ,,

'शरीरपरिमाणे मूर्त्तत्वम्' इत्यत्र किमसर्वगतपरिमाणत्वं मूर्त्तत्वम्, रूपादिमत्त्वं वा ? २६८

नात्मा व्यापकः सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् ,,

मनोद्रव्यवादः २६८-२७२

(पूर्वपक्षः) सजातीयेतरकारणाभावात् सत्त्वाच्च नित्यं मनः २६८

प्रतिशरीरञ्चैकमेव मनः २६९
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गात्तत्सद्भावः ,,
चक्षुरादीनां क्रमिकारणापेक्षा इतरसामग्रीसद्भावेऽपि क्रमेण कार्यकर्तृत्वात् ,,
कारणान्तरसाकल्येऽपि अनुत्पाद्योत्पादकत्वात् ,,
सुखादिप्रत्यक्षसन्निकर्षहेतुतयापि तत्सद्भावः ,,
अस्पर्शत्वान्नित्यम्, क्रमेणार्थपरिच्छेदकत्वादसर्वगतम्, अदृष्टविशेषाच्च प्रत्यात्मभिन्नम् ,,
(उत्तरपक्षः) पुद्गलद्रव्यस्यैव मनःकारणत्वेन अकारणवत्त्वमसिद्धम् २७०
इन्द्रियत्वात् पौद्गलिकं मनः ,,
परमाणुरूपस्य मनसश्चक्षुराद्यधिष्ठायकत्वाभावः ,,
इन्द्रियाणि मनसा युगपदधिष्ठीयन्ते, क्रमेण वा २७०
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्चासिद्धा ,,
इन्द्रियाणां क्रमेण कार्यकर्तृत्वमसिद्धम् ,,
क्रमेण कार्यकर्तृत्वञ्च मनसाऽनैकान्तिकम् २७१
अनुत्पाद्योत्पादकत्वमनैकान्तिकम् ,,
अनुत्पाद्योत्पादकत्वं क्रमेण, युगपद्वा ? ,,
सुखादिभ्यो भिन्नं नास्ति तद्ग्राहकं ज्ञानम्; ज्ञानात्मकत्वात् सुखस्य ,,
आत्मनां सर्वगतत्वात् मनसः सर्वात्मसु ज्ञानोत्पादकत्वम् ,,
भिन्नस्य मनसः प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वमनुपपन्नम् २७२
आत्ममनसोः संयोगः सर्वात्मना एकदेशेन वा ? ,,

गुणपदार्थवादः २७२-२७९

(पूर्वपक्ष) गुणस्य लक्षणम् २७२
रूपादयः सप्तदश सूत्रोक्ताः, चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वादयः सप्त इति चतुर्विंशतिर्गुणाः २७३
रूपादिचतुर्णां लक्षणानि, तेषां पाकजत्वादनित्यत्वमपि ,,
संख्यालक्षणम् तत्प्रकाराश्च ,,
परिमाणलक्षणम्, तद्भेदाश्च २७४
पृथक्त्वलक्षणं तद्द्वैविध्यञ्च ,,
संयोगविभागगुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां लक्षणानि ,,
वेगादिभेदेन त्रिविधः संस्कारः २७५
धर्माधर्मौ आत्मगुणौ ,,
आकाशविशेषगुणः शब्दः ,,
(उत्तरपक्षः) लोके शौर्यादीनाम्, व्याकरणशास्त्रे विशेषणस्य, वैद्यकतन्त्रे च विशदस्थिरखरपिच्छलादीनां गुणत्वेन स्वीकारान्न चतुर्विंशतिरेव गुणाः ,,
संख्यायाः पदार्थस्वरूपमात्रनिबन्धनतया न गुणत्वम् २७६
गुणेष्वपि च संख्या प्रतीयते ,,
परिमाणस्य गुणत्वखण्डनम् ,,
त्र्यस्रादीनामपि सद्भावान्न तस्य चतुर्विधत्वमेव ,,
पृथक्त्वगुणखण्डनम् २७७
नैरन्तर्य्यमेव संयोगो न तस्य गुणरूपता ,,
विभागः संयोगाभावरूप एव ,,
परत्वापरत्वयोः निरासः ,,
गुरुत्वस्य गुणत्वनिरासः २७८
द्रवत्वं शक्तिविशेषान्नान्यत् ,,
स्नेहोऽपि सामर्थ्यविशेषान्नान्यः ,,
क्रियासातत्ये एव वेगव्यवहारः ,,
स्मरणजननशक्तेर्नान्या भावना २७९
पदार्थस्वरूपातिरिक्तो न स्थितस्थापकः ,,
धर्माधर्मावपि न गुणौ तत्रानेकधा विवादः ,,
शब्दोऽपि न गुणः, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् ,,

कर्मपदार्थवादः २७९-२८३

(पूर्वपक्षः) कर्मणो लक्षणम् २७९
तस्य उत्क्षेपणादयः पञ्चप्रकाराः ,,
उत्क्षेपणादीनां लक्षणानि २८०
भ्रमणरेचनादीनां गमनेऽन्तर्भावः ,,

(उत्तरपक्षः) द्रव्यं गन्तृस्वभावम्, अगन्तृस्वभावम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ? २८०
परिणामिन्येव द्रव्ये कर्मसंभावना ,,
अर्थस्य परिस्पन्दात्मकपरिणाम एव कर्म नान्यत् २८१
भ्रमणादीनामतिरिक्तत्वान्न पञ्चप्रकारतैव ,,
उत्क्षेपणादीनां भेदः स्वरूपतः, जातिनिबन्धनो वा ? ,,
उत्क्षेपणत्वादिजातिः अभिव्यक्ता, न वा ? ,,
उत्क्षेपणत्वादीनां तत्कर्मक्षणो व्यञ्जकः, तत्समुदायो वा ? ,,
अर्थादर्थान्तरस्य कर्मणोऽप्रतीतेः २८२
'सालोकावयविद्रव्यसंयोगविभागव्यतिरेकेण नापरं कर्म' इति भूषणमतनिर्देशः २८२
संयोगविभागयोः न कर्मप्रतीतिविषयता ,,
कर्मप्रत्ययस्य संयोगविभागालम्बनत्वे तिष्ठत्यपि चलतीतिप्रत्ययप्रसङ्गः ,,
संयोगविभागाग्रहणेऽपि कर्म प्रतीयते ,,
संयोगविभागौ अहेतुकौ, सहेतुकौ वा ? २८३
'क्षणस्थायितयाऽर्थानां न कर्मसंभवः' इति बौद्धमतस्य निरासः ,,

सामान्यपदार्थवादः २८३-२८८

(पूर्वपक्षः) अनुगतज्ञानहेतुतयाऽस्ति सामान्यम् २८३
परापरभेदात् द्विविधं सामान्यम् ,,
एकस्यापि द्रव्यत्वादेः सामान्यविशेषरूपता ,,
सामान्यसद्भावे प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् २८४
अनुमानादपि सामान्यसद्भावः ,,
विशिष्टप्रत्ययहेतुतया सामान्यसद्भावः ,,
तस्येतिव्यपदेशहेतुत्वादपि तत्सद्भावः ,,
(उत्तरपक्षः) किमनुगतस्य ज्ञानस्य निमित्तम् अनुगतज्ञाननिमित्तम्, उत अनुगतं वा सत् ज्ञाननिमित्तम् ? २८५
निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं सामान्यपरिच्छेदकम्, सविकल्पकं वा ? २८५
किम् 'योऽयं गौः सोऽयं गौः' इत्यनुवृत्तप्रत्ययः, उत 'अयमपि गौरयमपि गौः' इति ? ,,
विशेषान्नास्त्यन्यत्सामान्यम् २८६
विशेषाणां व्यञ्जकत्वमपि न ,,
उपकारं कुर्वती व्यक्तिः व्यञ्जिका, अकुर्वती वा ? ,,
पदार्थेषु एकसामान्याभावेऽपि सामान्यादिवत् अनुगतप्रत्ययः ,,
स्वयं समानेषु सामान्यस्यानुगतप्रत्ययहेतुत्वम्, असमानेषु वा ? २८७
सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ? ,,
भिन्नत्वे व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा ? ,,
नोत्पद्यते चेत् उत्पत्तिप्रदेशेऽस्ति न वा ? ,,
आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति अपरित्यज्य वा ? ,,
सर्वसर्वगतत्वम्, स्वव्यक्तिसर्वगतत्वं वा ? २८८
पिण्डादिव्यतिरिक्तं निमित्तान्तरमात्रं साध्यम्, सामान्यं वा ? ,,
हेतवश्च अनैकान्तिककालात्ययापदोषदुष्टाः ,,

विजातीयव्यावृत्तिरूपसामान्यस्य निरासः २८९-९१

(पूर्वपक्षः) विजातीयव्यावृत्तेरेव प्रतिनियतव्यक्तिषु अनुगतप्रत्ययप्रवृत्तिः २८९
दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायाच्च प्रवृत्तिः ,,
सम्यङ्मिथ्याविवेको वस्तुप्राप्तिश्च परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् ,,
(उत्तरपक्षः) सदृशपरिणामनिमित्तक एवायमनुगतप्रत्ययः ,,
सदृशपरिणामश्च प्रत्यक्षादेव प्रतीयते ,,
व्यावृत्तिविषयत्वे विधितया प्रवृत्तिर्न स्यात् ,,
व्यावृत्त्या असमानाकारस्य समानत्वम्, समानाकारस्य वा ? २९०

सजातीयत्वञ्च एकार्थक्रियाकारित्वात्, एकप्रत्यवमर्शजनकत्वात्, एकव्यावृत्त्याधारत्वाद्वा ? २९०
व्यावृत्तिस्वरूपं किञ्चित्, न किञ्चिद्वा ? ,,
एकस्यापि सदृशेतरात्मकत्वं चित्रज्ञानवत् २९१
अनुगतज्ञानस्य निर्हेतुकत्वे देशादिनियमाभावः ,,
वासनाहेतुकत्वे अर्थापेक्षा न स्यात् ,,
सदृशपरिणामविशेषे सङ्केतात् समानप्रत्ययः ,,
विशेषपदार्थवादः २९२-२९४
(पूर्वपक्षः) विशेषाणां लक्षणम् २९२
'नित्यद्रव्यवृत्तयः, अन्त्याः' इति पदद्वयस्य सार्थक्यम् ,,
अनन्ता हि विशेषाः योगिनां प्रत्यक्षा अस्मदादीनामनुमेयाः २९२
(उत्तरपक्षः) नित्यद्रव्यस्यासंभवात् नित्यद्रव्यवृत्तित्वमसदेव ,,
जगतः सर्वथा विनाशाभावादन्त्यत्वमप्यसंभवदेव ,,
स्वस्वभावादेव अर्थाः परस्परं भिन्नाः इति न विशेषैः किञ्चित्प्रयोजनम् २९३
स्वभावेन व्यावृत्तानि द्रव्याणि विशेषैः व्यावर्त्यन्ते अव्यावृत्तानि वा ? ,,
स्वरूपतो व्यावृत्तेष्वपि विशेषकल्पने विशेषेष्वपि तत्प्रसङ्गः ,,
न प्रदीपादिवत् विशेषाणां स्वतः व्यावर्तकता ,,
अण्वादीनां स्वरूपं सङ्कीर्णमसङ्कीर्णं वा ? २९४
विलक्षणप्रत्ययस्य न अर्थव्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनत्वम् ,,
समवायपदार्थवादः २९४-३०४
(पूर्वपक्षः) समवायस्य लक्षणम् २९४
अयुतसिद्धेत्यादिसमवायलक्षणस्य पदकृत्यम् ,,
तन्तुपटादयः संयुक्ता न भवन्ति अयुतसिद्धत्वादाधाराधेयविषयत्वाच्च २९५
'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः सम्बन्धकार्यः अबाध्यमानेहप्रत्ययत्वात् ,,
नास्य प्रत्ययस्य तन्तु-पट-वासनाहेतुकत्वम् २९६
इदमिहेतिज्ञानस्य विशिष्टाधारविषयत्वात् ,,
इहेतिप्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकत्वम् ,,
न निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा समवायः, स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तित्वात् २९७
सम्बन्धस्य समानलक्षणसम्बन्धेन वृत्त्यभावात् ,,
अग्नेरुष्णतावत् स्वत एवासौ सम्बन्धः ,,
निष्क्रियत्वेऽपि आधाराधेयभावः ,,
(उत्तरपक्षः) अयुतसिद्धत्वं शास्त्रीयं लौकिकं वा ? ,,
न पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धत्वम् २९८
नापि नित्यानां पृथग्गतिमत्त्वम् ,,
युतसिद्धेरभावस्य अयुतसिद्धत्वे किं ज्ञप्तिरूपा सिद्धिः, उत्पत्तिरूपा वा ? ,,
अयुतसिद्धिः अभिन्नदेशाश्रयत्वेन, अभिन्नकालाश्रयत्वेन, अभिन्नधर्म्याश्रितत्वेन, अभिन्नकारणप्रभवत्वेन, अभिन्नस्वरूपत्वेन वा ? २९९
उभयत्रावधारणेऽपि वाच्यवाचकरूपविपक्षैकदेशे गतत्वेन व्यभिचारित्वम् ,,
तन्तुपटादीनां कथञ्चित्तादात्म्योपगमात् ,,
अयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, सम्बन्धत्वमात्रं वा समवायस्वरूपं स्यात् ? ,,
असौ सम्बन्धबुद्धौ प्रतिभासते, इहेदमित्यनुभवे, समवाय इति प्रत्यये वा ? ३००
किं सम्बन्धत्वजातियुक्तः सम्बन्धः, अनेकोपादानजनितः, अनेकाश्रितः, सम्बन्धबुद्धयुत्पादकः, तद्बुद्धिविषयो वा ? ,,
न हि 'इमे तन्तवः अयं पटः अयञ्च समवायः' इति त्रितयं विविक्तं प्रतिभासते ,,
'इह तन्तुषु पटः' इत्याद्यनुमानमाश्रयासिद्धम् पटे तन्तवः इति प्रत्ययप्रतीतेः ,,
स्वरूपासिद्धम्, अनैकान्तिकञ्च ३०१
अतोऽनुमानात् सम्बन्धमात्रं साध्यते, विशेषो वा ? ,,

परिशेषादपि न समवायसिद्धिः ३०१
विशेषविरुद्धानुमानञ्च अनुमानाभासोच्छेदकत्वान्न वक्तव्यम्, सम्यगनुमानोच्छेदकत्वाद्वा ? ,,
अनेकः समवायः भिन्नदेशकालाकारार्थेषु सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वात् ३०२
नाना समवायः अयुतसिद्धावयवावयव्याद्याश्रितत्वात् ,,
उपचारात्तु दिगादीनामप्याश्रितत्वापत्तिः ,,
इहेतिप्रत्ययाविशेषस्य असिद्धत्वात् ,,
न चानुगतप्रत्ययादेकत्वम् ३०३
स्वकारणसत्तासम्बन्धस्य निष्पत्तिरूपत्वे नित्यत्वप्रसङ्गः ,,
न समवायस्य स्वतःसम्बन्धत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् ,,
न समवायस्य स्वतः परतो वा सम्बन्धत्वम् ,,
परतो हि संयोगात्, समवायान्तरात्, विशेषणभावात्, अदृष्टाद्वा ? ,,
विशेषणभावः षट्पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा ? ३०४
अदृष्टस्य च न सम्बन्धरूपता ,,
नाप्यसम्बद्धः समवायः; सम्बन्धत्वविरोधात् ,,
समवायः समवायिनोः असमवायिनोर्वा ? ,,
गुणादीनां निष्क्रियत्वेऽप्याधेयत्वमल्पपरिमाणत्वात्, तत्कार्यत्वात्, तथाप्रतिभासाद्वा ? ३०५
युतसिद्धत्वस्य न उपरितनत्वप्रतीतिहेतुत्वम् ,,
तन्न सम्बन्धिभ्यः सर्वथाऽर्थान्तरभूतः सम्बन्धः ,,

सम्बन्धसद्भाववादः ३०५-३०९

(पूर्वपक्षः) सम्बन्धो हि पारतन्त्र्यलक्षणः, रूपश्लेषस्वभावः, परापेक्षारूपो वा ? ३०५
पारतन्त्र्यं निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा ? ,,
रूपश्लेषोऽपि सर्वात्मना, एकदेशेन वा ? ,,
परापेक्षापक्षे भावः सन् परमपेक्षते, असन् वा ? ३०६
सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा ? ,,
सम्बन्धेन सह सम्बन्धिनोः कः सम्बन्धः ? ,,
कल्पनैव असम्बद्धार्थान् सम्बद्धानिव दर्शयति ३०६
(उत्तरपक्षः) एकत्वपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् ,,
द्रव्यक्षेत्रकालभावकृता एकत्वपरिणतिरेव सम्बन्धः ३०७
कथञ्चिन्निष्पन्नयोः सम्बन्धाभ्युपगमः ,,
कथञ्चैवं पारतन्त्र्याभावात् सम्बन्धाभावः ? ,,
सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभाव एव रूपश्लेषः ,,
अशक्यविवेचनत्वमेव रूपश्लेषः ,,
प्रकारान्तरेण स्निग्धरूक्षतानिबन्धनः सम्बन्धः ३०८
सम्बन्धानभ्युपगमे कथं चित्रसंवेदनसिद्धिः ? ,,
सम्बन्धः क्वचिदन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेन, क्वचित् प्रदेशसंश्लिष्टतामात्रेण ,,
परमाणूनां सांशत्वप्रसङ्गे अंशशब्दः स्वभावार्थः अवयवार्थो वा ? ,,
न जैनैः परापेक्षालक्षणः सम्बन्धोऽभ्युपगतः अपि त्वेकत्वपरिणतिरूपः ,,
परापेक्षत्वञ्च आत्मलाभे, व्यवहारे वा ? ,,
असम्बन्धस्वभावोऽप्यर्थानां कथम् ? ३०९
न जैनैः भिन्नः सम्बन्ध इष्टः अपि त्वेकत्वपरिणामात्मकः ,,

षोडशपदार्थवादः ३०९-३४१

(पूर्वपक्षः) षोडशपदार्थनिर्देशः ३०९
प्रत्यक्षादिचतुर्विधं प्रमाणम् ,,
आत्मादिद्वादशविधं प्रमेयम् ,,
आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनसां लक्षणम् ,,
पुण्यपापात्मिका प्रवृत्तिः ३१०
रागद्वेषमोहाः दोषाः ,,
प्रेत्यभाव-फलयोः लक्षणम् ,,
शरीराद्येकविंशतिभेदं दुःखम् ,,
दुःखनिवृत्तिरपवर्गः ,,
संशयलक्षणम् ,,
वार्त्तिककारमते त्रेधा संशयः ,,

भाष्यकारमते पञ्चधा संशयः ३११
समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः विप्रतिपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धयो ज्ञातृस्थाः ,,
प्रयोजनलक्षणम्, भेदौ च ३१२
दृष्टान्तलक्षणम् ,,
सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अभ्युपगम-अधिकरणसिद्धान्तानां लक्षणानि ३१२-१३
प्रतिज्ञादिपञ्चावयवलक्षणम् ३१३-१५
तर्कस्य लक्षणम् ३१६
भवितव्यताप्रत्ययरूपः तर्कः ,,
निर्णयलक्षणम् ,,
वादलक्षणम् ,,
पक्ष-प्रतिपक्षस्वरूपम् ३१७
वादलक्षणस्य पदकृत्यम् ,,
वादे अष्टनिग्रहस्थानानां नियमः ,,
संशयविच्छेदाज्ञातार्थावबोधाध्यवसिताभ्यनुज्ञारूपं त्रिविधं वादफलम् ३१८
जल्पलक्षणम् ,,
क्वचिद्वीतरागस्य छलाद्युपयोगः ,,
वितण्डालक्षणम् ३१९
सव्यभिचारादिपञ्चहेत्वाभासानां लक्षणम् ३१९-२०
वाक्छल-सामान्यछल-उपचारछलानां लक्षणानि ३२१-२२
जातिलक्षणम् ३२२
साधर्म्यवैधर्म्यसमयोर्लक्षणम् ३२३
उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्यावर्ण्यसमानां लक्षणम् ३२४
विकल्प-साध्य-प्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्गसमानां लक्षणम् ३२५
प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशयसमानां लक्षणम् ३२६
प्रकरण-अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेषसमानां लक्षणम् ३२७
उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-अनित्यसमानां लक्षणम् ३२८
नित्य-कार्यसमयोर्लक्षणम् ३२९
निग्रहस्थानलक्षणम् ,,
अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणमिति पञ्च अप्रतिपत्त्या गृह्यन्ते ३३०
प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तरयोर्लक्षणम् ,,
प्रतिज्ञाविरोध-प्रतिज्ञासन्न्यास-हेत्वन्तराणां लक्षणम् ३३१
अर्थान्तर-निरर्थक-अविज्ञातार्थ-अपार्थकानां लक्षणम् ३३२
अप्राप्तकाल-न्यून-अधिक-पुनरुक्तानां लक्षणम् ३३३
पुनरुक्तं शब्द-अर्थपुनरुक्तभेदेन द्विधा ,,
अननुभाषणलक्षणम् ,,
अविज्ञात-अज्ञान-अप्रतिभा-विक्षेप-मतानुज्ञा-पर्य्यनुयोज्योपेक्षणानां लक्षणम् ३३४
निरनुयोज्यानुयोग-अपसिद्धान्त-हेत्वाभासानां लक्षणम् ३३५
(उत्तरपक्षः) षोडशपदार्थानां स्वरूपासंभवान्न तत्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ,,
प्रमेयस्य द्वादशविधत्वं तावत्येव प्रमाणव्यापारसमाप्तेः, प्रयोजनसमाप्तेर्वा ? ३३६
किं लौकिकस्य, अपवर्गलक्षणस्य, प्रयोजनमात्रस्य वा परिसमाप्तिः ? ,,
संशयपरिगणने विपर्ययानध्यवसाययोरपि पृथक् पदार्थत्वम् ,,
जिज्ञासादिपञ्चावयवा अपि निर्देष्टव्याः ३३७
सिद्धान्तो न प्रतिज्ञातोऽर्थान्तरम् ,,
अवयवानां पृथग्गणनेऽतिप्रसङ्गः ,,
तर्कस्य प्रमाणविषयपरिशोधकत्वं किम् तत्तिरोधायकाद्यपनेतृत्वम्, संशयादिव्यवच्छेदेन निश्चयः, तत्स्वरूपविवेचनमात्रं वा ? ,,
निर्णयस्य प्रमाणफलत्वान्न पृथगुपादानप्रयोजनम् ,,
वादस्य वीतरागविषयत्वासंभवात् ३३८
निग्रहस्थानवत्त्वाद्वादस्य विजिगीषुविषयता ,,
वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः ,,
जल्पवितण्डाभ्यां न निखिलबाधकनिराकरणात्मकं तत्त्वसंरक्षणम् ३३९
वाद एव एकः कथाविशेषः ,,
हेत्वाभासज्ञानं न मोक्षमार्गोपयोगि ,,
छलादीनि तु बालक्रीडाप्रायाणि ,,
जातयस्तु दूषणाभासाः ,,
'मिथ्योत्तरं जातिः' इति जातिलक्षणम् ,,
निग्रहस्थानानामानन्त्यान्न इयत्ता कर्त्तुं शक्या ,,
धर्माधर्मद्रव्ययोरतिरिक्तयोः सद्भावान्न षोडश एव पदार्थाः ३४०
सकलजीवपुद्गलगतिस्थितिहेतुतया तयोः सिद्धिः ,,
न गतिस्थितिपरिणामिन अर्थाः एव गतिस्थितिहेतवः ,,
न ईश्वरः गतिस्थितिहेतुः ,,

न नभो गतिस्थितिहेतुः ३४१
अदृष्टस्यापि न गतिस्थितिहेतुता ,,

भूतचैतन्यवादः ३४१-३४९

(पूर्वपक्षः) पृथिव्यादीनि चत्त्वार्येव तत्त्वानि आकाशादिसद्भावे प्रमाणाभावात् ३४१
तेभ्यश्चैतन्यम् अभिव्यज्यते ३४२
तेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते ,,
मदशक्तिवद् विज्ञानम् ,,
जलबुद्बुदवज्जीवाः स्वतः प्रादुर्भवन्ति ,,
न प्रत्यक्षं कायव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणम् ,,
शरीरान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् शरीर-स्वरूपमेव आत्मा ,,
अनुमानस्य त्वप्रमाणत्वान्न तत आत्मसिद्धिः ३४३
न च आत्मप्रतिबद्धं किञ्चिदपि लिङ्गमस्ति ,,
पृथिव्याद्यभिव्यङ्ग्यं वा चैतन्यम् किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् ,,
मृतशरीरादौ कारणान्तरवैकल्यान्न चैतन्याभिव्यक्तिः ,,
परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः ,,
(उत्तरपक्षः) 'चत्त्वार्येव' इत्यवधारणमयुक्तम् ,,
जीवस्य स्वसंवेदनतः आकाशादेश्च अनुमानागमाभ्यां सिद्धत्वात् ,,
भूतचैतन्ययोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः ३४४
पूर्वापरीभावाभावान्न कार्यकारणभावः ,,
भूतानां चैतन्यं प्रत्युपादानत्वं सहकारित्वं वा ? ,,
सहकारिभावे उपादानमन्यद्वाच्यम् ,,
तत्किं चैतन्यजातीयम्, विजातीयं वा ? ३४५
भूतानि निर्विशिष्टानि चैतन्यकारणं विशिष्टानि वा ? ,,
वैशिष्ट्यं किं समुदायात्, कायाकारपरिणतेः, अवस्थाविशेषात्, सहकार्यन्तराद्वा ? ,,
अवस्थाविशेषविशिष्टत्वं किं चैतन्योपेतत्वम्, विशिष्टादृष्टादिलष्टत्वम्, धातुविशेषोपचितत्वम्, वयोविशेषान्वितत्वं वा ? ,,
चैतन्यस्याश्रयः किं शरीरम्, भूतानि, इन्द्रियाणि, मनः, विषयो वा ? ३४६
इन्द्रियाणां व्यस्तानां समस्तानां वा आश्रयत्वम् ? ,,
मनोऽपि नित्यमनित्यं वा आश्रयः ? ३४७
मनः कारणान्तरनिरपेक्षमर्थप्रतिभासं जनयति सापेक्षं वा ? ,,
आत्माभावे कथं तदहर्जातबालस्य स्तनादौ प्रवृत्तिः ? ३४७
मदशक्तिवत् न भूतेभ्यः चैतन्यम् ३४८
जलबुद्बुददृष्टान्तस्य न दार्ष्टान्तिकसाम्यम् ,,
भूतचैतन्ययोः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य तु परलोकसाधकत्वम् ,,
सतः चैतन्यस्याभिव्यक्तिः, असतः, सदसद्रूपस्य वा ? ,,
सदसद्रूपस्य चेत्; सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? ,,
सुख्यहमित्यादि स्वसंवेदनमेव आत्मनि प्रमाणम् ,,
न अहम्प्रत्ययस्य शरीरालम्बनता ३४९
'स्थूलोऽहम्' इत्यादिप्रतीतिरौपचारिकी ,,
रूपादिज्ञानाश्रयत्वादात्मसिद्धिः ,,
ज्ञानसुखाद्युपादानत्वादात्मसिद्धिः ,,
जीवच्छरीरस्य प्रयत्नवदधिष्ठितत्वादात्मसिद्धिः ,,
श्रोत्रादीन्द्रियाणां कर्तृप्रयोज्यत्वादपि ,,

सांख्यीयतत्त्वप्रक्रियावादः ३५०-३५८

(पूर्वपक्षः) प्रधानं जगत्प्रपञ्चकारणम् ३५०
तत् शक्ति-करण-कार्यभेदात् त्रेधा ,,
कार्यं तन्मात्रमहाभूतात्मकं दशविधम् ,,
करणं त्रयोदशविधम् ,,
शक्तिश्च प्रकृतिरूपा एकैव ,,
भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्याविभागादस्ति प्रधानम् ,,
'प्रकृतेर्महान्' विषयाध्यवसायरूपः ३५१
ततः वैकारिकः भूतादिश्च द्विविधोऽहङ्कारः ,,
ततः षोडशकगणपञ्चमहाभूतात्मिका तत्त्वसृष्टिः ३५२
भूतसृष्टौ प्रवर्त्तमानायाः प्रकृतेः प्रथमं ब्रह्मणः प्रादुर्भावः, तस्य महत्तत्त्वात् बुद्ध्यादिक्रमेण भूतसृष्टिः ,,
अयं महदादिप्रपञ्चः प्रकृतौ सन्नेव कुतश्चिदाविर्भवति ,,
'असदकरणात्' इत्यादि हेतुपञ्चकात् सत्कार्यम् ,,
व्यक्ताव्यक्तरूपद्विविधप्रधानस्य लक्षणम् ३५३
(उत्तरपक्षः) प्रकृतिसद्भावावेदकं 'भेदानां परिमाणात्' इति साधनमनेकदोषदुष्टम् ३५४
'समन्वयात्' हेतुरपि अनैकान्तिकः ,,

प्रकृतिः तत्त्वसृष्टौ भूतसृष्टौ च स्वभावतः प्रवर्त्तते, किञ्चिन्निमित्तमाश्रित्य वा ? ३५५
निमित्तञ्च पुरुषप्रेरणम्, पुरुषार्थकर्त्तव्यता वा ? ,,
महदादिप्रपञ्चः प्रकृतेर्भिन्नः, अभिन्नो वा ? ,,
'असदकरणात्' इति हेतौ दोषप्रदर्शनम् ३५६
कार्यत्वं किमसतः प्रादुर्भावः, अङ्गाङ्गिभावगमनम्, धर्मिणः पूर्वधर्मत्यागेन धर्मान्तरस्वीकारो वा ? ,,
धर्मान्तरस्वीकारोऽपि उत्पादः, अभिव्यक्तिर्वा ? ३५७
न च सत्कार्यवादे कारणानां साफल्यम् ,,
'उपादानग्रहणात्' इति हेतोः दूषणम् ,,
सर्वसंभवाभावः सत्कार्यवादे दुर्घटः ३५८
सत्कार्यवादे शास्त्रप्रणयनं हेतूपन्यासश्च व्यर्थः ,,

द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदवादः ३५९-३७२

(पूर्वपक्षः) द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् ३५९
विरुद्धधर्माध्यासादपि तयोर्भेदः ,,
तन्तुपटादीनां तादात्म्ये संज्ञा-वचनभेदः तद्धितोत्पत्तिः तत्पुरुषादिसमासाश्च न स्युः ,,
तादात्म्यमित्यत्र कीदृशो विग्रहः ? ,,
एवं गुणगुणिनोः क्रियातद्वतोः सामान्यविशेषयोः भावाभावयोश्च तादात्म्याभावः ,,
भेदाभेदात्मकत्वे चार्थानां संशयाद्यष्टदोषाः ३६०
अनेकान्ते मुक्तोऽप्यमुक्तः स्यात् ३६१
(उत्तरपक्षः) भिन्नप्रतिभासत्वं किं भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमिष्टम्, भिन्नाकारावभासित्वं वा ? ,,
कथञ्चिद्भिन्नाकारत्वमिष्टम्, सर्वथा वा ? ,,
दूरपादपादिना अनैकान्तिकञ्च भिन्नप्रतिभासत्वम् ,,
कथञ्चिद्भेदग्राहकञ्च प्रत्यक्षमेव ३६२
भिन्नार्थक्रियाकारित्वं नर्त्तक्यादिना व्यभिचारि ,,
भिन्नकारणप्रभवत्वमङ्कुरादिना व्यभिचारि ,,
भिन्नकालत्वादपि अप्राप्तपटावस्थतन्तुभ्यः पटस्य भेदः, प्राप्तपटावस्थतन्तुभ्यो वा ? ,,
विरुद्धधर्माध्यासो धूपदहनादिना व्यभिचारी ,,
घटपटादिदृष्टान्तः साध्यसाधनविकलः ३६३
तन्तुपटेत्यादिसंज्ञाभेदस्य अवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात् ,,
संज्ञाभेदः अनैकान्तिकः ,,
'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्' इत्यत्र भेदाभावेऽपि षष्ठ्याद्युत्पत्तिः ३६३
अस्तित्वस्य अपरास्तित्वाभावात् कथं व्यतिरेकनिबन्धना विभक्तिः ? ३६४
'सेनागजः' इतिवदभेदेऽपि तत्पुरुषः ,,
तादात्म्यस्य विग्रहप्रदर्शनम् ,,
उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वम्, द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्वं नाप्यवस्तुता, किन्तु वस्त्वेकदेशता ,,
'स पट आत्मा येषाम्' इति विग्रहेऽपि न दोषः ३६५
'ते तन्तवः आत्मा यस्य' इति विग्रहे पटस्य किम् अनेकावयवात्मकत्वरूपमनेकत्वम्, प्रतितन्तु तत्प्रसङ्गो वा ? ,,
द्विविधः परिणामः—समुदायावस्थायाम्, प्रत्येकावस्थायाञ्च ,,
गुणगुण्यादीनामपि कथञ्चिद्भेदः ,,
सामान्यस्यापि सदृशपरिणामात्मकतया अनेकत्वानित्यत्वसावयवत्वाद्व्यापिस्वरूपता ,,
कथञ्चिद्भेदे एव धर्मधर्मिभावः ,,
धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदे निःस्वभावत्वम् ,,
धर्मधर्मिणोरभेदे अन्यतरस्वभावाभावः ३६६
निर्बीजकल्पनाया असंभवात् न काल्पनिकः धर्मधर्मिभावः ,,
स्वपररूपतया भावाभावात्मकत्वेन वस्तुन उपलब्धेः न विरोधः ,,
न स्वरूपसत्त्वमेव पररूपासत्त्वम् ३६७
सत्त्वासत्त्वयोः सर्वथाऽभेदे विभिन्ननिमित्तनिबन्धनत्वानुपपत्तिः ,,
प्रतिनियतस्वरूपव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः प्रतिनियतकार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेश्च सदसदात्मकं वस्तु ,,
इतरेतराभाववशाद्वस्तुव्यवस्थायां न इतरेतराभावस्य स्वतन्त्रता ,,
भावधर्मत्वे घटस्य, भूतलस्य, उभयस्य वा धर्मः ? ,,
अभावरूपतया भावरूपतायाः ग्राहीकरणं किं स्वरूपापहाररूपम्, एकाश्रयप्रतिषेधात्मकं वा ? ३६८
सुनयप्रतीतैकान्तस्यैव नत्वा प्रतिषेधात् ,,
प्रमाणापेक्षया अनेकान्तः नयापेक्षया एकान्तः ,,

सदसदाद्यनेकधर्मात्मकवस्तुप्रतीतौ संशयाद्यनवकाशः ३६८
बलात् संशयापादनेतु सर्वत्र संशयप्रसङ्गः ,,
भिन्ननिमित्तनिबन्धनयोः सत्त्वासत्त्वयोः विरोधोऽपि न संभाव्यः ३६९
उपलभ्यमानयोश्च सत्त्वासत्त्वयोर्न विरोधः ,,
कथमेकस्य सामान्यविशेषत्वम् , मेचकस्य एकानेकस्वभावत्वं वा ? ,,
कथं वा एकस्य नरसिंहत्वम् उमेश्वरत्वं वा ? ,,
विरोधश्च सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिरूपः, बध्यघातकरूपो वा ? ३७०
विरोधोऽयं धर्मयोः, धर्मधर्मिणोर्वा ? ,,
भावेभ्यो भिन्नो विरोधः, अभिन्नो वा ? ,,
विरोधस्य अभावरूपत्वे सामान्यविशेषभावानुपपत्तिः ३७१
गुणादिरूपत्वे गुणादिविशेषणत्वानुपपत्तिः ,,
षट्पदार्थव्यतिरिक्तत्वे द्रव्यादौ सम्बद्धस्य विशेषणत्वम् , असम्बद्धस्य वा ? ,,
सम्बन्धोऽपि संयोगेन, समवायेन, विशेषणभावेन वा ? ,,
वैयधिकरण्यसंकरव्यतिकरादिदोषाणां परिहारः ,,
क्रमाऽक्रमभेदेन द्विविधः अनेकान्तः ३७२
एकरूपत्वे चात्मनः बन्धमोक्षाद्यभावः ,,
न केवलं साक्षात्करणाभाव एव एकान्तस्य किन्तु अर्थक्रियाभावोऽपि तत्र ,,

८ कारिकार्थः ३७२

नित्यक्षणिकपक्षयोः क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावः ३७२

नित्ये अर्थक्रियाभावसमर्थनम् ३७२-७४

अर्थक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता ३७२
नित्यस्य न क्रमेण कार्यकर्तृत्वम् ,,
सहकारिक्रमादपि न क्रमेण कार्यकर्तृता ३७३
पौर्वमन्येन स्वभावेन तत् तज्जनयति पाश्चात्यश्चान्येन; तदा तत्स्वभावद्वयं ततः भिन्नमभिन्नं वा ?,,
नापि यौगपद्येन नित्यस्य कार्यकर्तृत्वम् ,,
सर्वदा तत्कारित्वस्वभावता, कदाचिद्वा ? ३७४
तदुत्पत्तिसमये असमर्थस्वभावं त्यजति, न वा ? ,,
सहकारिवशान्नित्यस्य कार्यकर्तृत्वे परिणामित्वमेव समर्थितम् ३७४
नापि क्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वं पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानविरहात् , सकृदनेकशक्तिविकलत्वाच्च ३७५

क्षणभङ्गवादः ३७५-३८९

(पूर्वपक्षः) सत्त्वात् सर्वे क्षणिकाः ३७५
अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति इत्यसत्त्वमक्षणिकस्य ,,
सहकारिणोऽपि नित्यस्य उपकारं कुर्वन्ति न वा ? ,,
कुर्वन्ति चेत् ; व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ? ,,
उत्पादिताशेषकार्यग्रामस्य नित्यस्य तत्स्वभावो निवर्त्तते, न वा ? ,,
कृतकत्वाच्च क्षणिकत्वं भावानाम् ३७६
भावाः उत्पद्यमाना विनश्वरस्वभावा एवोत्पद्यन्ते इति कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्यम् ,,
नश्वरस्य प्रतिक्षणमनाशे कालान्तरेऽपि नाशाभावः ,,
शतसहस्रक्षणस्थितिस्वभावः द्वितीयादिक्षणे तथैवास्ते, न वा ? ,,
अनेकक्षणस्थायित्वरूपमक्षणिकत्वं प्रतिपत्तुमशक्यम् ,,
विनाशहेतुः विनश्वरं नाशयति, अविनश्वरं वा ? ३७७
भावाद् भिन्नो नाशः, अभिन्नो वा हेतुतः स्यात् ? ,,
भिन्नश्चेत् ; भावसमकाले, प्राक्काले, उत्तरकाले वा ? ,,
मुद्गरादिभिः भङ्गुरत्वं तदवस्थितस्य विधीयते, विनष्टस्य वा ? ३७८
मुद्गरादीनां विसदृशसन्तानोत्पत्तौ व्यापारः न घटविनाशे ,,
विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणाद् विनश्वराः भावाः ,,
प्रत्यक्षेण क्षणिकताग्रहणमेव भवति ,,
(उत्तरपक्षः) सत्तासम्बन्धरूपं सत्त्वं भागासिद्धम् ३७९
प्रमाणविषयत्वरूपं सत्त्वं प्रतिपदार्थं भिद्यते न वा ? ,,
अर्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वम् असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययादिदोषदुष्टम् ,,
क्षणिकोऽर्थः न क्रमेण कार्यकारी, देशकालकृतक्रमाऽसंभवात् ,,

युगपदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावान्न युगपत्करणम् ३७९
अक्षणिकेऽप्यर्थे सहकारिवशात् कार्यकारित्वम् ३८०
अन्योन्यमुपकारकाणामेव सहकारित्वम् ,,
क्षणिकोऽप्यर्थः सहकारिसापेक्षः अर्थक्रियाकारी निरपेक्षो वा ? ,,
सामग्रीभेदान्न द्वितीयक्षणभाविकार्यस्य प्रथमक्षणे उत्पादः ३८१
क्षणिकपक्षस्य प्रत्यक्षत एव बाधा ,,
प्रत्यभिज्ञानादपि क्षणिकपक्षबाधा स्फुटा ,,
अतीतदेशकालयोरतीन्द्रियत्वेऽपि स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवस्य प्रत्यभिज्ञानस्य प्रवृत्तिरविरुद्धा ३८२
अर्थस्यास्थायित्वे प्रत्यभिज्ञानस्याप्रवृत्तिरेव ,,
अर्थक्रियायाः अर्थक्रियान्तरात् सत्त्वम्, स्वतो वा ? ,,
अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम्, अर्थक्रियाकारित्वेन वा ? ,,
घटादीनां क्षणिकत्वाभावात् साध्यविकलत्वम् ३८३
विपक्षे बाधकं प्रमाणं किं विपक्षाभावमवबोधयति, हेतोस्ततो व्यतिरेकम्, प्रतिबन्धं वा प्रसाधयति ? ,,
क्षणिकत्वं नीलादन्यत्र वर्त्तते, न वा ? ,,
क्षणलवादीनां कालविशेषत्वात्, कालस्य च बौद्धैरनभ्युपगमात्कथं क्षणिकत्वम् ? ,,
क्षणस्थायित्वं क्षणिकत्वम्, क्षणानन्तरमभावो वा ? ,,
प्रथमकार्ये उत्पादिते तदुत्पादकस्वभावः व्यावर्त्तत एव ३८४
क्षणिके एकस्मात् कारणादेकं कार्यमुत्पद्यते, अनेकस्मादनेकम्, एकस्मादनेकम्, अनेकस्मादेकं वा ? ,,
समग्रेभ्यो भिन्ना सामग्री अभिन्ना वा ? ३८५
पूर्वसमुदायेन उत्तरसमुदायारम्भे तदन्तर्गतं समुदायिनमेकैक एव उत्पादयेत्, सर्वे संभूय वा ? ,,
एकैकसमुदायिनिष्पत्तौ सर्वसमुदायिनां क्रमेण व्यापारः युगपद्वा ? ,,
कृतकस्य स्वसत्ताक्षणानन्तरनाशित्वनियमाभावात् ,,
विचित्रा हि कारणसामग्री उदयानन्तरविनश्वरम् अविनश्वरञ्च भावमुत्पादयति ३८६
अन्ते विनाशोपलम्भेऽपि नादौ तत्सत्त्वम् ३८६
मुद्गराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानान्मुद्गरादिहेतुक एवायं विनाशो न स्वतः ,,
निर्हेतुकत्वे विनाशस्य सदा सत्त्वम्, असत्त्वं वा ? ३८७
अहेतुकत्वञ्च अर्थोदयानन्तरभावित्वात्, व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पाभ्यां तज्जन्यत्वासंभवाद्वा ? ,,
उत्पादोऽप्येवमहेतुकः किन्न स्यात् ? ३८८
नष्टशब्दस्य कश्चिदर्थोऽस्ति न वा ? ,,
प्रसज्यरूपः विनाशः निर्हेतुकः, पर्युदासरूपो वा ? ,,
अन्यानपेक्षत्वं हेतुः, तत्स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्वं वा ? ३८९
अन्त्या कारणसामग्र्यपि नानपेक्षा कार्यजनिका ,,
शतसहस्रक्षणस्थायी भावः द्वितीयादिक्षणेष्वपि तत्स्वभावं न त्यजति ,,
न हि क्षणिकत्वेन अर्थानामवभासः ,,
क्षणिके अर्थक्रियाभावादसत्त्वम् ,,

प्रतीत्यसमुत्पादवादः ३९०-३९५

(पूर्वपक्षः) विभाषा सद्धर्मप्रतिपादकग्रन्थविशेषं ये अधीयते ते वैभाषिकाः ३९०
प्रतीत्यसमुत्पादवशाद्विश्ववैचित्र्यम् ,,
तस्य अविद्यादिद्वादशाङ्गानि ,,
अविद्यालक्षणम् ३९१
शुभाशुभमिश्राचरणहेतवः संस्काराः ,,
पंचेन्द्रियविज्ञान-स्मृतिभेदात् षड्विधं विज्ञानम् ,,
रूपवेदनादिस्कन्धचतुष्टयं नामरूपम् ,,
रूपस्कन्धः एकादशधा ,,
आकाशं च छिद्रम्, आलोकतमःपरमाणुभ्यो नान्यत् ,,
वेदना त्रिप्रकारा ,,
संज्ञा पदार्थानां निमित्तोद्ग्रहणात्मिका अनेकप्रकारा ,,
साश्रवास्ते एव कारणभूताः समुदयः, निराश्रवास्त एव मार्गाः ,,
प्रतिसंख्यानिरोधस्य लक्षणम् ३९२
अप्रतिसंख्यानिरोधस्य लक्षणम् ,,
चक्षुरादीन्द्रियाणि आयतनानि ,,
विषयेन्द्रियविज्ञानसन्निपातः स्पर्शः ,,
वेदनादीनां लक्षणम् ,,

भवशब्देन चात्र कामरूपारूप्यसंज्ञकाः त्रयो धातवः ३९२
कामधातुः नरकादिसंस्थानः, रूपधातुः ध्यान-रूपः, आरूप्यधातुः शुद्धचित्तसन्ततिरूपः ,,
(उत्तरपक्षः) द्वादशांगानि मुमुक्षूणामुपयोगित्वात् प्रदर्शितानि, किं वा एतावन्त्येव संभवन्तीति ? ,,
मिथ्यादर्शनचारित्रयोरपि निर्देष्टव्यत्वात् ३९३
क्षणिकादिज्ञानस्यैव अविद्यात्वम् ,,
रागादीनां संस्कारता तद्रूपतया प्रसिद्धत्वात्, व्युत्पत्तिमात्रेण वा ? ,,
पुण्यादिप्रकारता च दुर्घटैव ,,
रागादीनां विज्ञानप्रतिबन्धकतया तद्धेतुत्वानुपपत्तेः ,,
रूपादिस्कन्धलक्षणनामरूपस्य विज्ञानप्रभवत्वासंभवात् ३९४
अविज्ञप्तिः किं चिद्रूपा अचिद्रूपा वा ? ,,
अष्टद्रव्यकाणुत्वकल्पना अतीवासङ्गता ,,
विज्ञानधातूनां प्रतिविहितत्वात् तस्य 'सवितर्क-विचारा हि' इत्यादि वर्णनमसङ्गतम् ३९५

विवृतिविवरणम् ३९६

अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसदंगीकुर्वन् कथमर्थ-क्रियां निरोकरोति सौगतः ? ३९६
अभेदेऽपि क्रियाप्रतिपादनार्थं कारिकावतारः ,,

९ कारिकार्थविवरणम् ३९६

अभेदेऽपि विक्रिया अविक्रिया वा न विरुद्धयते ३९६

विवृतिविवरणम् ३९७

अनेकार्थक्रियाकारिणो ज्ञानस्य प्रतिभासाः तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयन्ति ३९७
योगाचारमतं अनेकान्तनान्तरीयकं दर्शयितुं कारिकावतारः ३९७

१० कारिकाव्याख्यानम् ३९७

ज्ञानं मिथ्येतरात्मकं दृश्येतरात्मकं वा सत् तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयति ३९७

विवृतिविवरणम् ३९८

चित्रज्ञानवत् वस्तु उत्पादादित्रयात्मकं द्रव्य-पर्यायात्मकञ्च ३९८

उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थनम् ३९८-४०२

न सत्तासम्बन्धात् सत्त्वमव्यापकत्वात् ३९८
सामान्यादिषु सत्त्वस्य वैलक्षण्यं किं विलक्षण-प्रत्ययग्राह्यत्वम्, अबाधितत्वम्, गौणत्वं वा? ३९९
द्रव्यादौ मुख्यसत्त्वस्याप्यनुपपत्तिः ,,
सत्ता स्वयं सती अन्यस्य सत्त्वहेतुः, असती वा ? ,,
सत्तासम्बन्धात् सत्त्वे अतिप्रसङ्गवैयर्थ्यलक्षण-बाधप्रसक्तिः ४००
नापि भिन्नार्थक्रियातोऽर्थस्य सत्त्वम् ,,
अर्थक्रियाकरणयोग्यतातोऽपि न सत्त्वम् ,,
नापि प्रमाणसम्बन्धात् सत्त्वम् ४०१
प्रमाणसम्बन्धः स्वयं सन्, असन् वा ? ,,
सच्चेत्; स्वयमन्यतो वा ? ,,
अन्यतोऽपि; प्रमेयसम्बन्धात्, निमित्तान्तराद्वा ? ,,
प्रमाणसम्बन्धादर्थानां सत्त्वं क्रियते, ज्ञाप्यते वा? ,,
एवमन्यतः सत्त्वानुपपत्तेः उत्पादादित्रयात्मक-त्वादेव सत्त्वम् ,,
उत्पादादीनां तादात्म्यान्नानवस्था ४०२
एकान्तस्यानुपलब्धेः अनेकान्तात्माऽर्थः ,,

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयो विषयपरिच्छेदः।

स्वविवृतिकं लघीयस्त्रयम्

तदलङ्कारभूतश्च

न्याय कुमुद चन्द्रः

(प्रथमो विभागः)

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्य-तुलना-ऽर्थबोधकटिप्पण्याद्यंशुभी राजितः]

कल्याणावसथः सुवर्णरचितः विद्याधरैः सेवितः,
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीको गिरीन्द्रोपमः।
भ्राम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभिः प्राप्तं यदीयं पदम्,
न्यायाम्भोनिधिमन्थनः चिरमसौ स्थेयात् प्रबन्धः परः॥

—प्रभाचन्द्रः



श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कदेवरचितम्

स्वविवृतियुतं लघीयस्त्रय-प्रकरणम्

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यनिर्मित-

न्यायकुमुदचन्द्राख्य-व्याख्यासहितम्।

प्रमाणप्रवेशे प्रत्यक्षपरिच्छेदः।

सिद्धिं[1]प्रदं प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वमानन्दमन्दिरमशेषगुणैकपात्रम्।
श्रीमज्जिनेन्द्रमं[2]कलङ्कमनन्तवीर्यं[3]मानम्य लक्षणपदं प्रवरं प्रवक्ष्ये॥ १॥

यज्ज्ञानोदधिमध्यमुन्नतमिदं विश्वं प्रपञ्चाञ्चि[4]तम्,
प्राप्याभाति विचित्ररत्ननिचयप्रख्यं प्रभाभासुरम्।
श्रीचिन्तामणिसुप्रभे[5]न्दुसदृशः शास्त्रप्रबन्धश्चिरम्,
जीयात्सोऽत्र कु[6]तर्कदर्पदलनो भव्याब्जतेजोनिधिः॥ २॥

माणिक्यनन्दि[7]पदमप्रतिमप्रबोधम्, व्याख्याय बोधनिधिरेष पुनः प्रबन्धः।
प्रारभ्यते सकलसिद्धिविधौ[8] समर्थे, मूले प्रकाशितजगत्त्रयवस्तुसार्थे॥ ३॥

---

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डस्य प्रारम्भोऽपि अनेनैव ग्रन्थकृता "सिद्धेर्धाम महारिमोहहननम्" इत्यादिना कृतः। पूज्यपादेनापि "सिद्धिरनेकान्तात्" इति सूत्रेण जैनेन्द्रव्याकरणं प्रारब्धम्। आदौ सकारप्रयोगः सुखदः, तथा च "सहौ सुखदाहदौ" अलं० चि० १।४९। "मङ्गलार्थम्—माङ्गलिकं आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते"। पात० महाभा० पृ० ५७। २ जिनेन्द्रविशेषणम्, लघीयस्त्रयकर्त्तुर्नाम च। ३ जिनेन्द्रविशेषणम्। अकलङ्कविरचितगूढाभिसन्धिप्रकरणानां ख्यातनामा ज्ञाता, सिद्धिविनिश्चयप्रकरणस्य टीकाकारश्च; तथा च "गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्। व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाग् दीपवर्त्तिरनिशं पदे पदे।" न्यायविनि० वि० पृ० १, तथा ४७६ पृ०। ४-च्चार्चि-ब०,-च्चाम्वि-भां०। ५ न्यायकुमुदचन्द्रकर्त्तुर्नाम। 'प्रभेन्दुभवनम्' इत्यादि, प्रमेयक० पृ० १। ६ कुतर्कतर्कद-ज०। ७ परीक्षामुखम्। ८-विधे-ज०।

बोधः कोऽप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याऽकलङ्कं पदम्,
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्।
किन्न श्रीगणभृत् जिनेन्द्रपदतः प्राप्तप्रभावः स्वयम्,
व्याख्यात्यप्रतिमं वचो जिनपतेः सर्वात्मभाषात्मकम्॥ ४ ॥

५ येषां न्यायमहोदधौ प्रतरणे वाञ्छास्ति सद्धीमताम्,
नौतुल्यं निखिलार्थसाधनमिदं प्रारभ्यते तान् प्रति।
ये तु स्वान्ततमस्तरङ्गतरलावर्तभ्रमभ्रामिताः,
ते दोषेक्षणतत्पराः पदमपि प्राप्तुं न तत्र क्षमाः ॥ ५ ॥

श्रीमन्न्यायमहार्णवस्य निखिलप्रमेयरत्नसन्दर्भगर्भस्यावगाहनमव्युत्पन्नप्रज्ञैः कर्तुमशक्य-
१० मिति सङ्क्षेपतस्तद्व्युत्पादनाय तदवगाहने पोतप्रख्यप्रकरणमिदमाचार्यः प्राह। तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्करोति—

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥ १ ॥

---

१ प्रकरणम्। २ सविवृतिलघीयस्त्रयम्। ३ तथाच "तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्" बृहत्स्व० श्लो० ९६। "गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हितम्, कण्ठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम्। स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकम्, दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः" ॥ २९ ॥ समव० स्तो०। "सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे"। काव्यानुशा० श्लो० १। ४ "ये नूनं प्रथयन्ति नोऽसमगुणा" इत्यादिना प्रमेयकमलमार्त्तण्डेऽपि स्मृतो दुर्जनः। वादिराजोऽपि अमुमेव अनुसरति; तथाहि—"येषामस्ति गुणेषु सस्पृहमतिर्ये वस्तुसारं विदुः"—इत्यादि, न्याय वि० वि०। ५—धिप्र-भां। ६ यत्तु-आ०, ब०, ज०। ७ न्यायस्य विविधलक्षणानि—"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम् सा अन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। यत्पुनः अनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः इति"। न्यायभा० पृ० ६। "साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्य अवयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः—आगमः प्रतिज्ञा, हेतुः अनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयः उपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्यायः इति।" न्याय भा० पृ० ९। "समस्तरूपोपन्नलिङ्गबोधकवाक्यजातम्"। न्यायकु० प्रका० पृ० १, बोधिनी पृ० २। "न्यायः तर्कमार्गः" न्यायप्र० वृत्ति पं० पृ० ३८। "अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यम्"। तत्त्वचि० अव० पृ० ६९१। वैशे० उप० पृ० ३२९। "न्यायः परार्थानुमानम्" न्यायली० पृ० ५६। "अनिश्चितं निर्बाधश्च वस्तुतत्त्वं नीयतेऽनेन इति न्यायः"। न्यायविनि० वि० पृ० १५ पू०। न्यायाव० टि० पृ० १। प्रमेयर० टि० पृ० ३। ८ अखिल-भां०। ९ भट्टाकलङ्कः। १० आदिपदेन नास्तिकत्वपरिहारशिष्टाचारपरिपालनादिकं समुच्चीयते। ११ वृष-लघी०।

धर्मः सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं पुण्यम्[1], उत्तमक्षमादिस्वरूपो वा[2], तत्साध्यः कर्तृशुभफलदः पुद्गलपरिणामो वा[3], जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वभावो वा[4]। न पुनः परपरिकल्पित आत्मविशेषगुणः, द्रव्यगुणकर्मलक्षणो वा[5], प्रकृतिपरिणामविशेषो वा, अचेतनस्वभावो वा, तस्याऽग्रे यथास्थानं निराकरिष्यमाणत्वात्। स एव **तीर्थं** संसारार्णवोत्तरणहेतुत्वात्, तस्य वा **तीर्थम्** आगमस्तदवगाहनहेतुत्वात्, तत् कृतवन्तोऽनुष्ठितवन्तः उपदिष्टवन्तश्च ये[6] **ऋषभादिमहावीरान्ता** भगवन्तस्तेभ्यो **नमोनमः अस्तु** इत्याभीक्ष्ण्यप्रयोगेणात्यर्थं नमस्क्रियायां व्यापृतमात्मानं दर्शयति। पुनरपि किंविशिष्टेभ्यः ? **स्याद्वादिभ्यः**, [10]स्याच्छब्दोऽनेकान्तार्थः, **स्यात्**

कारिकार्थः—

---

१ "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्"। तत्त्वा० सू० ८।२५। "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।" तत्त्वार्थभा० ८।२६। २ "उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"। तत्त्वा० सू० ९।६। ३ "पुद्गलस्य कर्तृनिश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम्"। पञ्चास्ति० तत्त्व० पृ० १९६। ४–**तत्त्वभा**–आ०, ब०, ज०। "धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो"॥ 'उक्तं च' इति कृत्वा षट्प्रा० टी० पृ० ८। ५ "प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः।" न्या० सू० ४।१।५२। "प्रीतिः आत्मप्रत्यक्षत्वाद् आत्माश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितम्, धर्मस्य आत्मगुणत्वात् तस्मादात्मव्यतिरेकानुपपत्तिः।" न्याय भा० पृ० ३७३। "धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियः अन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः। तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेन अवस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि·····दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य एतानि साधनानि भावप्रसादं च अपेक्ष्य आत्ममनसोःसंयोगाद् धर्मोत्पत्तिरिति"। प्रश० भा० पृ० २७२। ६ "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः। चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता"॥१९१॥ मी० श्लो० सू० २। ७ "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्"॥२३॥ तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति–धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यम् इति"–सांख्य का० माठर वृ०। "अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्"। सांख्य द० ५।२५। ८ **चेतननानास्व**– भां०। बौद्धास्तु धर्मशब्दार्थमित्थं वर्णयन्ति–आत्मसंयमकं चेतः परानुग्राहकं च यत्। मैत्रं स धर्म तद्बीजं फलस्व प्रेत्य चेह च। (?)···धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः स्वलक्षणधारणार्थेन, कुगतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन। तत्र स्वलक्षणधारणार्थेन सर्वे साश्रवा अनाश्रवाश्च धर्मा इत्युच्यन्ते, कुगतिगमनविधारणार्थेन च दश कुशलादयो धर्मा इत्युच्यन्ते–'धर्मचारी सुखं शेते अस्मिल्लोके परत्र च'। पाञ्चगतिकसंसारविधारणार्थेन निर्वाणो धर्म इत्युच्यते। धर्मं शरणं गच्छति इत्यत्र कुगतिगमनविधारणार्थेनैव धर्मशब्दोऽभिप्रेतः'। माध्यमिक वृ० पृ० ३०३-३०४। ९–**येतेवृष**–भां०। १० "वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि"॥ १०३॥ आप्तमी०। युक्त्यनु० श्लो० ४७। "स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः, तस्य अनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो

स्वेपररूपादिना सदसदाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु वदन्तीत्येवंशीलास्तेभ्यः। किमर्थं तेभ्यो नमोनमोस्तु ? इत्याह–**स्वात्मोपलब्धये** स्वस्य नमस्कर्त्तुः आत्मा नास्तिकतापरिहारादिविशिष्टं स्वरूपम्, तस्य उपलब्धये सकलजनप्रतीतये। अथवा, स्वस्य नमस्कर्त्तुरात्मनोऽनन्तज्ञानादिस्वरूपस्य उपलब्धये सिद्धये *"सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः"* [सं०सिद्धभ०श्लो०१] इत्यभिधानात्।

५ ननु चैकस्यापीष्टदेवताविशेषस्य नमस्कारकरणान्नास्तिकतापरिहारादिप्रयोजनप्रसिद्धेरशेषस्य तत्करणप्रयासो निष्प्रयोजन इति चेत्; तन्न; अशेषेष्टदेवताविशेषसंस्तवनस्य अशेषविघ्नविनाशेन अशेषप्रमाण-प्रमेय-नय-निक्षेपनिरूपणपरिसमाप्तिप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वात्। न खलु निखिलं प्रमाणादिप्ररूपणं निखिलविघ्नविनाशव्यतिरेकेण सिद्धिमध्यास्ते, निखिलविघ्नविनाशोऽप्यखिलेष्टदेवतासंस्तवनव्यतिरेकेण। अथवा सर्वेषामप्यविशेषतो विघ्नविनाशनिमित्तत्वख्यापनार्थं तत्क-
१० रणम्, उक्तविशेषणविशिष्टेष्टदेवताविशेषस्य इयत्ताख्यापनार्थं वा। अस्तु नामैतत्; तथापि–अनन्तगुणोदधिस्वरूपाणां भगवतामनन्तगुणसद्भावे किमित्येतद्गुणद्वयद्वारेण संस्तवनम् ? इत्यप्यचोद्यम्; शास्त्रकृतस्तद्गुणार्थित्वात्, यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्कुर्वाणो दृष्टः यथा कश्चिद्धनुर्वेदपरिज्ञानार्थी तत्परिज्ञानगुणोपेतम्, धर्मतीर्थकरत्व-स्याद्वादित्वगुणार्थी चायं शास्त्रकार इति।

१५ ननु क्षणिक-नित्यत्वादि-यथावस्थितवस्तुस्वभाववादित्वात् सुगतेश्वरकपिलब्रह्मणामेव धर्मतीर्थकरत्वम्, अतस्त एव शास्त्रस्यादौ वन्द्याः तत्प्रणीतमेव च प्रमाणादिलक्षणं तत्र व्युत्पादनार्हम् इत्याशङ्क्य स्वप्रमाणादिलक्षणवर्त्मनि कण्टकशुद्ध्यर्थं निराकुर्वन्नाह–

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम्।
२० **सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,**
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

निरन्वयक्षणिकचित्तानाम् अन्योन्यविलक्षणक्षणिकज्ञानानां **सन्तानेषु** सन्ततिषु, कथंभूतेषु ? **असत्स्वेव** अविद्यमानेष्वेव, असत्त्वं च
कारिकार्थः तेषां प्रमाणतोविचार्यमाणानामनुपपद्यमानत्वात्सिद्धम्, तदनुपपद्यमा
२५ नत्वं चानन्तरमेव समर्थयिष्यते। ननु माभूवंस्तत्सन्तानाः तच्चित्तानि तु

गृह्यते"। त० राजवा० पृ० १८१। "सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे। स्यात्कारः संप्रयुज्येत अनेकान्तद्योतकत्वतः" ॥ ५४ ॥ तत्त्वार्थश्लो० १।६। पञ्चा० तत्त्वप्र० पृ० ३०। "स्याद् इत्यव्ययम् अनेकान्तावद्योतकम्"–रत्नाकरावता० ४। १५। सिद्ध हे० पृ० १। स्या० मं० पृ० १५।

१ **स्वरूपपर–** भां०। २–**खिल प्र–** भां०। ३–**वनाद्य**–आ०, ब०, ज०। ४–**त्यचो**–भां०। ५ तुलना–"यो यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वन्द्यमानो दृष्टः, यथा शास्त्रविद्यादिगुणलब्ध्यर्थी शास्त्रविद्यादिविदं तत्प्रणेतारं च" आप्तप० पृ० ३। ६ शास्त्रे। ७–**निष्कंद**–ब०।

कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानानि भविष्यन्ति इत्यत्राह– **तत्त्वाहेतुफलात्मनां** तत्त्वेन-परमार्थेन अहेतुफलभूतः अकार्यकारणभूतः आत्मा स्वरूपं येषां तेषां तथाभूतानां तच्चित्तानां **सन्तानेषु असत्स्वेव** सत्सु, **चेत्** यदि **बुद्धः स्वयम्** आत्मना **व्यवतिष्ठते**–स्थितिं लभते, केन ? **स्वपरसङ्कल्पेन** स्वपरयोः संङ्कल्पः 'असतोः सन्तौ' इत्यवसायः तेन, किमर्थं व्यवतिष्ठत इत्याह–**सत्त्वार्थं** दुःखाद् दुःखहेतोर्वा विनेयजनोद्धरणार्थम्, कया ? **करुणया** ५

तदुक्तम्– *"निर्वाणेऽपि परे प्राप्ते कृपार्द्रीकृतचेतसाम् ।*
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" [ ] इति ।

स इत्थंभूतो बुद्धः असति वस्तुनि सत्त्वाध्यवसायवान् नैव धर्मतीर्थकरो यथावस्थित-वस्तुस्वभाववादित्वाभावाद् ईश्वरकपिलब्रह्मवत्, किन्तु **मिथ्याविकल्पात्मक** एव मिथ्या असत्यो यो विकल्पः संवृत्यपरनामा तदात्मक एव, किंवत् ? **नित्यत्ववत्**–यथा नित्यत्व- १०
मीश्वर-कपिल-ब्रह्मणाम् तत्प्रणीततत्त्वस्य च यत् परैः प्रतिज्ञातं तत् मिथ्याविकल्पात्मकमेव, न पुनः परमार्थतोऽस्ति तथा बुद्धोऽपि इति । नन्वस्य सर्वस्याऽभ्युपगमान्न दोष इति प्रतिभासाद्वैतवादी, तं प्रति **तत्र** इत्याद्याह । **तत्र** तस्मिन् प्रतिभासाद्वैतवाद्यभ्युपगते, कस्मिन् ? **समये** संगतः सकलविज्ञानव्यक्तितादात्म्येन स्थितः अयः प्रतिभासस्तस्मिन् समये **नार्थ-क्रिया** अनुभवः *"अन्त्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नाम"* [ ] १५
इत्यभिधानात् । सा न, कस्य ? **वस्तुनः** अद्वयपदार्थस्य । **'वस्तुतः'** इति च क्वचित्

१ **संकल्पौ** आ०, ब०, ज० । २ "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिताः । तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" अभि० आलोक पृ० १३४ । 'तिष्ठन्त्येव' इत्यादि उत्तरार्द्धस्तु प्रमाणवार्त्तिके (२।१९९) मूलरूपेण, तथा सिद्धि वि० टी० पृ० ३८६ उ० । आप्तप० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० २५ पू० । न्यायविनि० वि० पृ० ४७१ उ० । लघी० वृ० पृ० ४ । इत्यादिषु अवतरणरूपेण उपलभ्यते । ३ **चेतसः** भां० । ४ **तिष्ठत्येव** ज० । ५-**वापरा**–भां० । ६ सुगतानाम् । ७ "कृपा हि त्रिविधा सत्त्वालम्बना पुत्रकलत्रादिषु, धर्मालम्बना सङ्घादिषु, निरालम्बना संपुटसंदष्टमण्डूकोद्धरणादिषु । तत्र महती निरालम्बना कृपा सुगतानां सत्त्वधर्माऽनपेक्षत्वात् इति । ते तिष्ठन्त्येव न कदाचित् निर्वान्ति धर्मदेशनया जगदुपकारनिरतत्वात् जगतश्च अनन्तत्वात् ।" आप्तप० पृ० ४३ । ८–**त्यपरिणामा**–ब० । ९ **नित्य-वत्**–भां० । १०–**ब्रह्मणात**–आ०,ब०,ज० । ११ नैयायिकादिभिः । १२–**ज्ञानं**–ब०,ज० । १३ **बुद्धे-पि**–आ०, ब०, ज० । १४ **सर्वथा**–ब० । १५–**वादित्वं प्र**–भां० । १६ "तत्रेत्यादि—तस्मिन् समये संगतः समस्तज्ञानेष्वनुगतः अयः प्रतिभासः समयः, तस्मिन् प्रतिभासाद्वैते वस्तुनः अद्वयपदार्थस्य अर्थक्रिया अनुभवो न स्यात् ।" लघी० वृ० पृ० ५ । १७–**दने नाना**–आ०, ब०, ज० । "तदुक्तम्– मत्या (?) तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नाम इति ।" तत्त्वार्थ श्लो० पृ० १९५ । १८ "वस्तुतः परमार्थतः पाठान्तरापेक्षया इदमुक्तम् ।" लघी० वृ० पृ० ५ ।

पाठः। तत्रापि **वस्तुतः** परमार्थतो नै, संवृत्या तु स्यात्। यथा च नित्य-क्षणिकैकान्ते-ऽद्वैते चार्थक्रिया नोपपद्यते तथाग्रे प्रतिपादयिष्यते। अतो बुद्धादिवत् प्रतिभासाद्वैतमपि मिथ्याविकल्पात्मकमेव।

योप्याह–प्रमाणादिलक्षणपरीक्षार्थं शास्त्रमिदमारभ्यते, नचासत्प्रमाणादेः परीक्षा घटते, तदसत्त्वं च 'सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनतया स्वप्नप्रत्ययतुल्यत्वात्' इति, तन्मतमपाकर्त्तुमाह– **तत्र** इत्यादि। **तत्र** तस्मिन् परोपगते **समये** समः सदृशो जाग्रत्स्वप्नदशासाधारणोऽयो बोधः 'शकन्ध्वादित्वादकारस्य पररूपत्वम्' तस्मिन्, किम्? इत्याह—**नार्थक्रिया** इति। अर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन अनर्थस्यापि ग्रहणम्। तत्र अर्थः क्षणिकनिरंशज्ञानमात्रम् तस्य तेन अर्थ्यमानत्वात्, ततोऽन्यःअनर्थः विपर्ययात्, तयोः क्रिया हानोपादानलक्षणा सा न स्यात्; नह्यर्थस्योपादानमनर्थस्य च परिहारः सर्वज्ञानानां समत्वे युक्त इत्यग्रे प्रतिपादयिष्यते। कथं सा न स्यात्? इत्याह–**वस्तुनः** परमार्थेन। '**वस्तुनः**' इति च पाठे साधनदूषणलक्षणाद् वस्तुनः सकाशादित्यर्थः। एतेन भ्रान्तिमात्रमपि निरस्तं न्यायस्य समत्वात्।

ननु च '**असत्स्वेव चित्तसन्तानेषु**' इत्ययुक्तमुक्तम् तेषां सत्त्वसंभवात्; तथाहि–

सन्तानवादे बौद्धानां पूर्वपक्षः— परमार्थसन्तः कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानाः पूर्वोत्तरचित्तक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवोऽपरामृष्टभेदाः सन्तानशब्दवाच्याः। न च प्रतिक्षणविशरारुत्वे चित्तक्षणानां कर्मफलसम्बन्धाश्रयस्यैकस्यात्मनोऽसत्त्वात् कृत-

---

१ अर्थक्रिया। २-**था प्रति**–भां०। ३-**दिव प्र**–आ०,ब०,ज०। ४. माध्यमिकः। ५ आदिपदेन प्रमेय-नय-निक्षेपाः। ६ **परोगते**–आ०, ब०, ज०। ७ "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इति कात्यायनवार्तिकम्। ८ अर्थाऽनर्थयोर्मध्ये। ९ **ततो यो नार्थो**–आ०, ब०, ज०। १० विभ्रमैकान्तः। ११-**त्रं नि**–आ०, ब०, ज०। १२-**णाविश**–आ०, ब०, ज०। १३ "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा। सन्तानो नाम न कश्चिदेकः परमार्थसन् संभवति। किं तर्हि? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम्, ततो व्यतिरिक्तस्य अनुपलम्भात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थं सन्तान इति"। बोधिचर्या० पृ० ३३४। "नैव, सन्ततिशब्देन क्षणाः सन्तानिनो हि ते। सामस्त्येन प्रकाश्यन्ते लाघवाय वनादिवत् ॥१८७७॥ नैष दोषः, सन्ततिशब्देन क्षणा एव वस्तुभूताः सन्तानिनो व्यवहारलाघवाय सामस्त्येन युगपत् प्रकाश्यन्ते वनादिशब्देन इव धवादयः"। तत्त्वसं० पं०। न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ४१। इदमेव सन्तानलक्षणम् बृहदा० वार्त्ति० पृ० १४८९, न्यायवा० ता० टी० पृ० २१४, न्यायमं० पृ० ४४३, सिद्धिवि० टी० पृ० १९६ उ०, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३, अष्टसह० पृ० १६५ इत्यादिषु उद्धृत्य खण्डितम्। जैननये सन्तानलक्षणं तु— "पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोः अतिशयात्मनोः अन्वयः सन्तानः"। अष्टश० अष्टसह० पृ० १८६।

नाश-अकृताभ्यागमदोषोपनिपातः; सन्तानापेक्षया तत्सम्बन्धसंभवात्। एकसन्ततिपतितानां हि चित्तक्षणानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वेऽपि कर्मफलसम्बन्धस्योपपत्तेर्न तद्दोषोपनिपातप्रसङ्गः। नापि सन्तानिभ्य सन्तानो भिन्नो (भिन्नोऽभिन्नो) वेत्याद्यनल्पविकल्पापातः; तस्य वस्तुविषयत्वात् सन्तानस्य चाऽवस्तुत्वात्। व्यवहारार्थं हि विभिन्नेष्वपि क्षणेष्वभेदपरामर्शरूपा संवृतिः सन्तानः, सोऽवस्तुत्वाद्भेदाभेदविकल्पैः अवक्तव्य एव, यदवस्तु तद्भेदाभेदादिविकल्पैरवक्तव्य- ५
मेव यथा गगनेन्दीवरम्, अवस्तु च विभिन्नक्षणेष्वभेदकल्पनारूपतया सन्तान इति।

नन्वेवमप्यन्योन्यविलक्षणचित्तक्षणेषु प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यात्मनोऽनभ्युपगमात् प्रत्यभिज्ञाना-द्यनुपपत्तिः; इत्यप्यसमीचीनम्; सादृश्यादेव तदुपपत्तेः प्रदीपवत्, यथैव हि प्रतिक्षणविना-

---

१ "तच्च कुशलाकुशलं चित्तमुत्पाद्य निरुद्ध्यमानं स्वोपादेयचित्तक्षणे कुशलाकुशलादिसंस्कारविशेष-वासनामादधाति। तदपि तदाहितवासनम् उत्तरोत्तरतदभिसंस्कृतक्षणपरम्पराविच्छेदनः सन्तानप्रवर्त्तमानं परिणतिविशेषमुपगच्छन् कर्मविशेषानुरूपं सुखादिस्वभावं चित्तात्मकमेव फलमभिनिर्वर्त्तयति परलोके····· इति नाऽकृताभ्यागमो न कृतप्रणाशो बाधकम्। ततो नात्मानमन्तरेण कर्मफलसम्बन्धो न युज्यते"। बोधिचर्या० पं० पृ० ४७२। "कृतनाशो भवेदेवं कार्यं न जनयेद्यदि। हेतुरिष्टं न चैवं यत् प्रबन्धेना-स्ति हेतुता॥ ५३८॥ अकृताभ्यागमोऽपि स्यात् यदि येन बिना क्वचित्। जायेत हेतुना कार्यं नैतन्नियत-शक्तितः॥ ५३९॥ तत्त्व सं०। यदि हि परिमार्थतः कर्त्ता भोक्ता वा अभीष्टः स्यात् तदा क्षणभङ्गित्वाङ्गी-कारेण कृतनाशादिप्रसङ्गः स्यात्। यावता इदं प्रत्ययमात्रमेव विश्वम्, न केनचित् कर्त्रा किंचित् कृतं नापि भुज्यते तत्कथं कृतनाशादिप्रसङ्गापादनं स्यात्·····लाक्षादिरसावसिक्तानामिव बीजानां सन्तान-मनुवर्त्तन्त एव पूर्वकर्माहिता सामर्थ्यविशेषा यत उत्तरकालं लब्धपरिपाकेभ्य इष्टमनिष्टं वा फलमुदेति"। तत्त्व सं पं०। —'बृहदा० वा० (पृ० १५०१) न्यायमं० (पृ० ४४३)' इत्यादौ तु सन्तानवादस्य पूर्वपक्षे "यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्ताने कार्पासे रक्तता यथा" इति श्लोकमुद्धृत्य अकृताभ्यागमकृतनाशदोषस्य परिहारः कृतः। २ "भेदाभेदविकल्पस्य वस्त्वधिष्ठानभावतः। तत्त्वा-न्यत्वाद्यनिर्देशो निःस्वभावेषु युज्यते"॥ ३४०॥ तत्त्वसं०। ३ अनल्पविकल्पापातस्य ४–र्थावि– ब०। –र्थाहि आ०, ज०। ५–पुभे -आ०, ब०, ज०। ६ "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामवाच्यमथ वर्ण्यते। सन्तानादीव कारित्रं स्यादेवं सांवृतं ननु॥ १८०७॥ तत्त्व सं०। यथा सन्तानिभ्यः तत्त्वान्यत्वेन अवा-च्यत्वात् पुद्गलवत् सन्तानो निःस्वभावः। स्वभावेहि सति तत्त्वमन्यत्वं वा अवश्यम्भावि।" तत्त्व सं० पं०। तुलना—"अथ न सन्ताने भेदाभेदादिविकल्पोपनिपातः तस्य वस्तुविषयत्वात् सन्तानस्य चावस्तु-त्वात्·····" स्या० रत्ना० पृ० १०८९। ७–तद् भेदादि–भां०। ८–नासहतया ब०। ९–नत्वे- आ०, ब०, ज०। १० "सदृशापरभावनिबन्धनं च एकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्वेव नखकेशादिषु इत्यत्र विरोधाभावात्।" हेतुबि० टी० पृ० १३३ उ०। "केषाञ्चिदेव चित्तानां विशिष्टा कार्यकारिता। नियता तेन निर्बाधा सर्वत्र स्मरणादयः॥५४३॥ तत्त्व सं०। यत्र सन्ताने पटीयसा अनुभवेन उत्तरोत्त-रविशिष्टतरतमक्षणोत्पादात् स्मृत्यादिबीजमाहितम् तत्रैव स्मरणादयः समुत्पद्यन्ते नान्यत्र, प्रतिनियतत्वात् कार्यकारणभावस्य·····स्मरणादिपूर्वकाश्च प्रत्यभिज्ञानादयः प्रसूयन्त इत्यविरुद्धम्"। तत्त्व सं० पं०।

शिष्वपि प्रदीपज्वालादिषु सादृश्यात् 'स एवायं प्रदीपः' इति प्रत्यभिज्ञानमाविर्भवति एवमत्रापि।

नित्यैकरूपत्वे चात्मनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तितोऽसत्त्वात् कथं प्रत्यभिज्ञानादिहेतुत्वम् ? यत्र क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः तदसत् यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, अस्ति च नित्यैकरूपतयाभिमते आत्मनि तथा[3] तदनुपपत्तिः। न चास्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिरसिद्धा; तथाहि—क्रमेणास्यार्थक्रियाकारित्वे किं[4] येनैव स्वभावेनैकं कार्यं करोति तेनैवापरम्, स्वभावान्तरेण वा ? यदि तेनैव; तर्हि द्वितीयादिक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षण एवोत्पादप्रसङ्गः, तदुत्पादकस्वरूपस्य प्रागपि भावात्। प्रयोगः—यदा[5] यदुत्पादहेतुरस्ति तत्तदोत्पत्तिमत्प्रसिद्धम् यथा तत्कालाभिमतं कार्यम्, अस्ति च द्वितीयादिक्षणसाध्यकार्यस्य प्रथमक्षण एवोत्पादको नित्यैकरूपतयाभिमतस्यात्मनः स्वभाव इति। अथ स्वभावान्तरेणासौ तत्करोति; तर्हि पूर्वस्वभावस्य प्रच्युतत्वात् सिद्धमस्य क्षणिकत्वं स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तस्य। यौगपद्येनाप्यस्य कार्यकारित्वे युगपदेवाखिलकार्योत्पादकस्वभावतया प्रथमक्षण एवाखिलकार्योत्पादनात् क्षणान्तरे तदुत्पाद्यकार्याऽभावतोऽनर्थक्रियाकारित्वेन अश्वविषाणवदसत्त्वानुषङ्गः।

किञ्च, क्रमभाविसुखादिपर्यायव्यापकत्वमात्मनो भवताभ्युपगम्यते, तच्च किमेकेन स्वभावेनास्येष्यते[6], अनेकेन वा ? यद्येकेन; तदा तेषामेकरूपतापत्तिः, यदेकस्वभावेन व्याप्यते तदेकरूपमेव यथैकपर्यायस्वरूपम्, एकस्वभावेन व्याप्यन्ते चात्मना सुखादयोऽनेकपर्याया इति। अथानेकेन; तदा सोप्यनेकस्वभावोऽपरेणानेकस्वभावेन व्यापनीय इत्यनवस्था। अथैकादृशेन स्वभावेन तेन[10]ते व्याप्यन्ते अत्रापि 'अनेकस्वभावेन सजातीयेन' इत्युक्तं स्यात्, तत्र च सैवानवस्था। नचापरं प्रकारान्तरमस्ति, अतः कथं क्रमभुवां सुखादीनामन्वितं रूपं सिद्ध्येत येनात्मसिद्धिः स्यादिति ?

---

१ "क्रमयौगपद्याभ्याम् इत्यादि। नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते, किन्तु तद्व्यापकविरहात्; तथाहि—क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराऽभावात्। ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोः तयोः अक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेः तद्व्याप्तायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणम् असत्त्वम् अक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिः आकर्षति विरुद्धयोरेकत्राऽयोगात्। ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति—यत् सत् तत् क्षणिकमेव"·····। हेतुबि० टी० पृ० १४२ उ०। "क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः ॥ ७६ ॥ क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः। न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः" ॥ ३९४ ॥ तत्त्वसं०। २ क्रमयौगपद्याभ्याम्। ३ अर्थक्रिया। ४ "किं येन स्वभावेनाद्यामर्थक्रियां करोति किं तेनैवातराणि कार्याणि समासादितस्वभावान्तरो वा करोति"। तत्त्वोप० पृ० १२६। ५ यथा यदुत्पादकमस्ति-भां०। ६ अर्थक्रियाकारित्वाभावेन। ७-ष्येत—ब०, ज०। जैनेन। ८ सुखादिपर्यायाणाम्। ९-त्मनः—आ०, ब०, ज०। १०-तेनव्या—ज०। स्वभावेन ते—आ०, ब०। आत्मना।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'कार्यकारणभाव' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; क्षणिकैकान्ते कार्यकारणभावस्यैवासंभवात्। तत्र हि किं कार्यम्, किञ्च कारणम्? यदभूत्वा भवति तत्कार्यमिति चेत्; नन्वभवने भवने च कस्य कर्तृत्वम् तस्यैव, अन्यस्य वा? न तावत्तस्यैव, सर्वथाप्यसतः कर्तृत्वधर्माधारत्वानुपपत्तेः। यत् सर्वथाप्यसत् न तत् कर्तृत्वधर्माधारः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, सर्वथाप्यसच्च परमते कार्यमिति। भवनं हि स्वरूपस्वीकरणम्, तच्च सर्वथाप्यसतो वन्ध्यास्तनन्धयस्येवाऽतिदुर्घटम्। नाप्यन्यस्य; अस्यैव कार्यत्वप्रसङ्गात्, यदेव ह्यभवने भवने च कर्तृ तदेव कार्यम्, तस्यापि सर्वथाप्यसत्त्वे न कार्यत्वम् उक्तानुमानविरोधात्।

सन्तानवादे जैनानामुत्तरपक्षः–

कारणत्वमपि कार्यमात्रोत्पादकत्वम्, नियतकार्योत्पादकत्वं वा? प्रथमपक्षे सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्, ततः कार्यार्थी न कश्चिन्नियतोपादानं कुर्यात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; खपुष्पप्रख्येण कार्येण कारणस्वरूपस्य विशेषयितुमशक्यत्वात्। यद् वास्तवं रूपं तद्विद्यमानेनैव विशेषणेन विशेष्यते यथा स्वसंवेदनं स्वसंविद्रूपतया, वास्तवं च कारणत्वं (णस्व) रूपमिति। असता कार्येण 'इदमस्य जनकम्' इति कारणस्य विशेष्यत्वे चाऽसत्त्वप्रसङ्गः। यत् सर्वथाप्यसता विशेष्यते तदसत् यथा 'असन् घटः'इत्यभावेन विशेष्यमाणो घटः, असता सर्वथा कार्येण विशेष्यते च परमते कारणमिति। विकल्पाधिरूढेन कार्येण कारणस्य विशेष्यत्वमित्यप्येतेन प्रत्याख्यातम्; न खलु विकल्पाधिरूढं कार्यमसद्रूपतां परित्यजति। विकल्पाधिरूढेन विशेष्यत्वे च न वास्तवरूपं कारणत्वं सिद्ध्येत्। यत् विकल्पाधिरूढविशेषणसापेक्षं रूपं न तद्वास्तवम् यथा माणवकेऽग्नित्वम्, विकल्पाधिरूढकार्यलक्षणविशेषणसापेक्षञ्च कारणे कारणत्वं रूपमिति। सर्वथाऽसति च कार्ये व्याप्रियमाणानां कारणानां निरालम्बना प्रवृत्तिरिष्टा स्यात्, एवञ्च विवक्षितकार्योत्पत्तिवत् आकाशकुशेशयाद्युत्पत्तावपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात् न किञ्चिदन्त्यन्तमसत् स्यात्। तत्र तेषामप्रवृत्तौ वा विवक्षितकार्येऽप्यप्रवृत्तिः सर्वथाऽसत्त्वाऽविशेषात्। यत् सर्वथाप्यसत् न तत्र कारणानां प्रवृत्तिः यथा खपुष्पादौ, सर्वथाऽसच्च भवन्मते कार्यमिति। यदि च, किमप्यनालम्ब्य कारणानां प्रवृत्तिः स्यात्तदा विवक्षितकारणस्य विवक्षितकार्यवत् कार्यान्तरेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् कारणान्तरकल्पनानर्थक्यं स्यात्।

---

१ पृ० ६ पं० १४। २ "यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत्खलु अभूत्वा भवति यथा घटादि कार्यम्।" न्यायभा० पृ० ४४२। "कार्यत्वम् अभूत्वाभावित्वम्" प्रशस्त० कंदली० पृ० २९। क्षण० सि० पृ० ३०। "अभूत्वाभावरूपत्वाज्जन्मनो नान्यथा स्थितिः ॥ ५११ ॥" तत्त्व सं०। अभूत्वाभावित्वं स्याद्वादरत्नाकरे (पृ० ४१८) प्रमेयरत्नमालायाञ्च (पृ० ६८) प्रसङ्गतः चर्चितम्। ३–सत्त्व आ०, ब०, ज०। ४ बौद्धमते। ५ खपुष्पाख्येन ब०, ज०। ६–दनं संवि–ब०। ७ वासत्त्व–भां०। ८ परमते अवीरमतेका–आ०, ब०, ज०। ९ यद्धि भां०। १०–क्षत्वं–भां०। ११–णत्वरूप–भां०। १२ सत् तत्र–आ०, ब०, ज०। १३–असत्त्व–आ०, ब०, ज०।

अस्तु वा अविचारितरमणीयस्वभावं भवन्मते किञ्चित् कार्यत्वं कारणत्वञ्च; तथापि विनष्टात्कारणात् कार्यमुत्पद्येत, अविनष्टात्, विनश्यदवस्थाद्वा ? न तावद्विनष्टात्; स्वरूपेणासतः सकलशक्तिविकलस्य तत्प्रति कारणत्वानुपपत्तेः। यत् स्वरूपेणासत् न ततः किञ्चित् प्रभवति यथा वन्ध्यास्तनन्धयात् पुत्रः, स्वरूपेणासच्च परमते कारणमिति। 'विनष्टम् कार्यं करोति' इति किमपि महाद्भुतम् ! न हि मृताच्छिखिनः केकायितसम्भवः। कथं वाऽतो जायमानं कार्यं सहेतुकं स्यात् ? अथाविनष्टात्ततः तदुत्पद्यते; तर्हि दत्तो जलाञ्जलिः क्षणक्षयाय भावानामनेकक्षणस्थायित्वप्रसिद्धेः, ते हि प्रथममुत्पद्य कार्यकरणाय व्याप्रियन्ते तदनन्तरं कार्यमाविर्भावयन्तीति। अथोत्पत्तिसमय एवैते कार्यमाविर्भावयन्ति; तन्न; सकलसन्तानोच्छेदप्रसक्तेः तदुत्पाद्यकार्यस्यापि तदैव स्वकार्योत्पादकत्वप्रसङ्गात्।

अथ विनश्यदवस्थात् कारणात् कार्यमुत्पद्यते; न; एकान्तवादिनो विनश्यदवस्थाया एवानुपपत्तेः। एकदैकस्य हि वस्तुनः केनचिद्रूपेण विनाशः केनचिच्चावस्थानं विनश्यदवस्थोच्यते, सा च अनेकान्तस्वभावत्वाद् एकान्ते कथं घटेत ? किञ्च, असौ विनश्यदवस्था सती, असती वा ? यदि सती; तदा तयापि क्षणिकस्वभावया भवितव्यम् इति कोऽस्यास्तद्गतो विशेषः ? अथ असती; कथं तया क्रोड़ीकृतस्य जनकत्वम् ? यदसद्रूपेण क्रोड़ीकृतं न तत् कस्यचिज्जनकम् यथा गगनाम्भोजम्, असद्रूपया विनश्यदवस्थया क्रोड़ीकृतं च भवन्मते कारणत्वेनाभिमतं वस्त्विति।

किञ्च, अयं कार्यकारणभावसम्बन्धः काल्पनिकः, वास्तवो वा ? काल्पनिकत्वे कर्मफलसम्बन्धोऽपि तादृश एव स्यात्, लौकायतिकत्वप्रसङ्गश्च पूर्वभवान्त्यचित्तक्षणस्य ऐहिकाद्यचित्तक्षणेन सह वास्तवसम्बन्धाभावात्। अथ वास्तवः; तन्न; एकान्तभिन्नानां क्षणिकार्थानां वास्तवतत्सम्बन्धानुपपत्तेः। अथ 'कार्यस्य भवनं कारणस्य भवनम्' इत्येतावानेव अत्र कार्यकारणभावः; ननु यत् कार्यस्य भवनं तत् कार्यनिष्ठमेव, यच्च कारणस्य भवनं तत् तन्निष्ठमेव इति नानयोः कश्चित् सम्बन्धः, अन्यथा 'घटस्य भवनं पटस्य भवनम्' इत्ययमपि कार्यकारणभावः स्यात्, ततश्च नियतकार्यार्थिना यत्किञ्चित् कारणमुपादीयेत। अथ

---

१ कार्यं का-आ०, ब०, ज०। २ तुलना-"किञ्चान्यत् नष्टाद्वा पूर्वक्षणादुत्तरस्य क्षणस्य उदयः स्यात्, अनष्टात्, नश्यमानाद्वा इत्यादि।" माध्यमिक वृ० पृ० २८२। तत्त्व सं० श्लो० ४८८-४८९। "न विनष्टं कारणमसत्त्वाच्चिरतरातीतवत्"...अष्टश० अष्टसह० पृ० १८२। "क्षणिकं वस्तु विनष्टं सत् कार्यमुत्पादयति, अविनष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ?" प्रमेयक० पृ० १४७ पू०। सन्मति० टी० पृ० ३१८। स्या० रत्ना० पृ० ७७७। ३ कार्यं प्रति। ४-णतानु-भां०। ५ असद्रूपात्। ६ तुलना-"सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्त्ति स्यात्, कारणक्षणकाले एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् ततः सन्तानाऽभावात्।" अष्टसह० पृ० १८७। ७ घटते भां०। ८ क्षणिकत्व स्व-भां०। ९ अवस्थायाः। १० अवस्थावतः। ११ असद्रूपतया ब०। १२ कार्यकारणभाव। १३ कार्यकारणयोः। १४-दीयते ब०, भां०।

यत्स्वरूपमात्रे व्यावर्तमाने यस्य व्यावृत्तिः स तस्मिन् सति भवति असति च न भवति इत्यन्वयव्यतिरेकतः[1] तत्कार्यम्; तन्न; क्षणक्षयैकान्ते अन्वयव्यतिरेकाऽसिद्धेः[3], कारणाभावे एव कार्यस्य सदा संभवात्। स्वकाले सति समर्थे कारणे अनन्तरं कार्यमुत्पद्यते नासति इत्यन्वयव्यतिरेकसंभवः अकिञ्चित्करेऽप्यविशिष्टः, यथैव हि कार्यं विवक्षितक्षणेन समनन्तरभाविना[4] विना नाविर्भवति एवं पूर्वोत्तरसमानसमयैर्नानाविधैः क्षणान्तरैरपि। नियतकाले हि[6] भवता भावेन अवश्यं कुतश्चित् पूर्वकालभाविना कुतश्चिदुत्तरकालभाविना केनचित्समानसमयभाविना भवितव्यम्। न च ते पूर्वोत्तरसमानसमयवर्तिनः सन्तानान्तरक्षणाः तस्य कारणम् अकिञ्चित्करत्वात्, एवं विवक्षितोपि क्षणोऽकिञ्चित्करत्वात् पूर्वकालवर्त्यपि न तस्य कारणं स्यात्। ५

किञ्च, उपादान-सहकारिभावेन[7] कारणं कार्यमाविर्भावयते, न च क्षणिकैकान्ते तद्भावो[8] घटते। तत्र हि उपादानत्वं पूर्वकालभावित्वम्, स्वसदृशसमानदेशकार्यारम्भकत्वं वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; सन्तानान्तरक्षणैः व्यभिचारात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; सौगतैः देश-सादृश्ययोरनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे[9] वा अत्यन्तविलक्षणक्षणिकैकवादविरोधः। नीलादिज्ञानस्य[9] पीतादिज्ञानं प्रति अयोगिचित्तस्य योगिचित्तं प्रति उपादानत्वाभावः स्यात् अत्यन्तवैसादृश्यात्। तदेवं क्षणिकैकान्ते[10] उपादानकारणस्याऽव्यवस्थितेः सहकारिकारणस्याप्य[11] (प्यव्य)वस्थितिः स्यात्[12] तन्मूलत्वात्तस्याः। अतः[13] कथञ्चिदन्वयिन्येवार्थे कार्यकारणभावः उपादानत्वञ्चोपपन्नम्, तत्रैव अन्वयव्यतिरेकयोः तन्निबन्धनयोः पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तो[14]- १० १५

---

१ सति भवति इत्य-आ०, ब०, ज०। २-रेकस्तत्-भां०। ३ तुलना-"तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यम् इति चेन्न; तस्य असिद्धेः।" अष्टसह० पृ० १८२। ४ नित्येऽपि। ५-भाविनाविर्भ-भां०। ६ हि भवन्तावेतावश्यं आ०, ब०, ज०। ७ उपादान-सहकारिभावः। ८-क्षणिकक्षणवाद-ज०, भां०। ९-स्य च पी-आ०, ब०, ज०। तुलना-"तद्भावेऽपि न ज्ञायते किं कस्य तत्र उपादानम् इति? रूपज्ञानं रूपज्ञानस्य एवमन्यत्रापि योज्यम् इतिचेत्; आद्यं सौगतं ज्ञानम् अनुपादानं प्रसक्तं पूर्वं तथाविधस्य तदुपादानस्य अभावात्, अन्यथा कुतः सोपायं सुगतत्वम्।" सिद्धि वि० टी० पृ० १९७ पू०। १० तुलना-"कथञ्च निरन्वयविनाशे कारणस्य उपादानसहकारित्वस्य व्यवस्था?" प्रमेयक० पृ० १४७ पू०। ११ तुलना-"तदा प्रवृत्तिविज्ञानानाम् उपादानताविरहे निमित्तत्ताऽपि न स्यात् उपादानताव्याप्तत्वान्निमित्तताया:।" वैशे० उप० पृ० १४५। १२ उपादानव्यवस्थितिमूलत्वात् सहकारिव्यवस्थितेः। १३ तुलना-"एकद्रव्यस्वभावत्वात् कथञ्चित्पूर्वपर्ययः। उपादानम् उपादेयश्चोत्तरो नियमात्ततः॥ १८२॥" तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३८। "तदुक्तम्-त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत् पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते। कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥ यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥" अष्ट सह० पृ० २१०। "पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्य उपादानत्वप्रतीतेः।" अष्ट सह० पृ० ६५। १४-त्तोत्तरोपा-आ०, ब०, ज०।

त्तराकारोपादानस्य च उपादानलक्षणस्य संभवात्। अतः पूर्वोत्तरचित्तविशेषाणां कार्यकारणभावमिच्छता एकप्रमातृसमन्वयोऽभ्युपगन्तव्यः।

कार्यकारणभाववत् तदधिगमोप्येकप्रमातृव्यतिरेकेण अनुपपन्नः। प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकसाधनो हि कार्यकारणभावो बौद्धैरिष्टः, प्रथमं हि कार्यकारणयोरनुपलम्भः शुद्धभूतलोपलम्भलक्षणः, तदुत्तरकालं वह्नेः उपलम्भः तदनन्तरञ्च धूमस्य, तदुत्तरकालं वह्नेरनुपलम्भे धूमस्याप्यनुपलम्भः, तदित्थमनुपलम्भत्रयेण उपलम्भद्वयेन च वह्निधूमयोः तद्भावो गृह्यते। उपलम्भत्रयेण अनुपलम्भद्वयेन वा, प्रथमतो हि वह्निधूमयोरुपलम्भः, तदुत्तरकालं वह्नेरनुपलम्भः तदनन्तरञ्च धूमस्य, पुनर्वह्नेरुपलम्भे धूमस्याप्युपलम्भ इति, तान्येतानि प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन पञ्चवस्तूनि एकसंवित्परामर्शविषयताम् एकप्रमात्रैवानीयन्ते। तावत्कालव्याप्यशेषसंवेदनानवच्छिन्नान्वयिस्वसंवेदनावभास एव च एकप्रमात्रवभासः। न हि क्रमेण प्रतिक्षणमुत्पद्यापगच्छतां परस्परविषयवार्तानभिज्ञानानाम् (भिज्ञानाम्) एवंविधपरामर्शात्मको व्यापारो घटते। विकल्पस्यापि निर्विकल्पकविषय एव व्यापारादसौ[10] न युक्तः; य एव हि नीलाद्यर्थो निर्विकल्पकेन गृहीतः तत्रैव तदनुसारी विकल्पः प्रवर्तते नाधिकविषये, अगृहीतग्राहित्वेन प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गात्।

अस्तु वा अस्य[11] तद्व्यापारः; तथाप्यसौ क्षणिकः, अक्षणिको वा? अक्षणिकत्वे नाममात्रभेदः स्यात् 'आत्मा विकल्पः' इति च। क्षणिकत्वेऽपि निर्विकल्पान्न विशेषः, तथाचैकस्य कार्यकारणताप्रतिपत्तिर्न स्यात् प्रतिक्षणं भेदात्, यस्य हि कारणप्रत्यक्षता न तस्य कार्यप्रत्यक्षता। अस्तु वैकस्य उभयप्रत्यक्षता; तथापि 'यस्य कारणप्रत्यक्षतायां कार्यप्रत्यक्षता सोऽन्यः, यस्य च कारणानुपलम्भे कार्यानुपलम्भः सोऽन्यः' इति विभिन्नप्रमातृप्रत्यक्षानुपलम्भवत् एकप्रमातृप्रत्यक्षानुपलम्भयोरप्यत्यन्तभेदात् कथं तत्तस्तदवगमः स्यात्? तथाहि—यौ परस्परतोऽत्यन्तविभिन्नौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ न तौ कस्यचित् कार्यकारणभावमवगच्छतः यथा देवदत्त-यज्ञदत्तप्रत्यक्षानुपलम्भौ, परस्परतोऽत्यन्तविभिन्नौ[14] च भवद्भिरभ्युपगम्येते कार्यकारणक्षणयोः प्रत्यक्षा-

---

१—नस्य ल—भां०। २—दभि ग—आ०, ब०, ज०। ३ "तदुत्पत्तिविनिश्चयोऽपि कार्यहेतुः पञ्च प्रत्यक्षोपलम्भाऽनुपलम्भसाधनः—कार्यस्य उत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सत्युपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात् कारणाऽनुपलम्भादनुपलम्भः इति कार्यस्य द्वौ अनुपलम्भौ एकः उपलम्भः कारणस्य च उपलम्भाऽनुपलम्भौ इति। एवम् उपलम्भाऽनुपलम्भैः पञ्चभिः सत्येव अग्नौ धूमस्य भावः असति अभावो निश्चीयते।" प्रश० कन्दली पृ० २०६। सर्वद० सं० पृ० १७। ४—च सा—भां०। ५—स्याप्युप—आ०, ब०, ज०। ६—हेः धू—आ०, ब०, ज०। ७ कार्यकारणभावः। ८ तत्काल—भां०। ९—मात्राव—ब०। १० एवंविधपरामर्शात्मको व्यापारः। ११ विकल्पस्य। १२ परामर्शात्मको व्यापारः। तदव्या—आ०, ब०, ज०। १३ प्रत्यक्षानुपलम्भतः। १४—लम्भौ क—आ०, ब०, ज०। १५—नौ भ—ज०। १६ सौगतैः। १७—कारणयोः प्र—भां०।

नुपलम्भौ इति । तेन्नैकप्रमात्रनभ्युपगमे कार्यकारणभावः तत्प्रतिपत्तिर्वा घटते, तत्कथं तेषां तद्भावप्रबन्धेन प्रवृत्तिः स्यात् ?

किञ्च, क्षणिकत्वे सिद्धे तेषां कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवृत्तिर्युक्ता, न तु तत्सिद्धं तत्प्रसाधकप्रमाणाऽभावात्, तदभावश्च अक्षणिकत्वसिद्धौ प्रसाधयिष्यते । किञ्च, अर्थानां क्षणिकत्वमिच्छतापि प्रमातुरेकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, तदभावे पूर्वोत्तरक्षणविवेकलक्षणक्षणिकत्वस्य प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । पूर्वाकारदर्शनं ह्यन्यस्य ज्ञानस्य संवृत्तम् उत्तराकारदर्शनं चान्यस्य, अतश्चोत्तरज्ञानं स्वविषयपरिच्छेदमात्रोपक्षीणशक्तिकं न 'पूर्वज्ञानगृहीतविषयाकारात् विलक्षणोऽयम्' इति परामृष्टुं क्षमं सर्वथा तद्विषयवार्तानभिज्ञत्वात् । यत् सर्वथा यद्विषयवार्तानभिज्ञं न तत् तद्विषयात् स्वविषयस्य वैलक्षण्यपरामर्शे समर्थम् यथा चैत्रज्ञानं मित्रज्ञानविषयात्, सर्वथा पूर्वज्ञानविषयानभिज्ञश्च उत्तरज्ञानमिति । न खलु चैत्रेण अन्याकारेऽर्थे दृष्टे तदनन्तरं मित्रस्य अन्याकारार्थदर्शने सति 'विलक्षणोऽयम्' इति प्रत्यवमर्शो दृष्टः ।

यच्चान्यदुक्तम्–'पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवः' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; पूर्वोत्तरक्षणयोः वर्तमानक्षणकालेऽसत्त्वेन अस्य तौभ्यामसम्बद्धस्य सन्तानत्वानुपपत्तेः, सतामेव हि अन्योन्यसम्बन्धा(द्धा)नां लोके सन्ततिः प्रसिद्धा पक्षिवत् । अथ वर्तमानक्षणोऽतीतानागतक्षणापेक्षः सन्तानः स्यात्; नन्वनयोः विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्योमोत्पलप्रख्ययोः कापेक्षा नाम ? अन्यथा शशशृङ्ग-वन्ध्यास्तनन्धयापेक्षयापि वर्तमानक्षणस्य एकसन्तानता स्यात् । अत्रैवार्थे प्रयोगद्वयम्–बौद्धाभिमतो वर्तमानज्ञानक्षणः तदुत्पाद्योत्पादकाभिमतज्ञानक्षणान्तरेण एकसन्तानिको न भवति, सत्त्वात्, अनभिमतज्ञानक्षणवत् । तथा, विवादापन्नानामतीताऽनागतवर्तमानज्ञानक्षणानां नैकः सन्तानः सदसद्रूपत्वात्, वन्ध्या-तत्पुत्रक्षणवत् ।

यदप्युक्तम्–'अपरामृष्टभेदाः' इति; तदप्ययुक्तम्; यतोऽभेदपरामर्शस्तेषां ज्ञानान्तरात्, स्वतो वा ? यदि ज्ञानान्तरात्; किमस्मदादिसम्बन्धिनः, योगिसम्बन्धिनो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अस्मदादेरतीतादिक्षणगोचरस्य ज्ञानस्याऽसंभवात् स्वहेतुक्षणमात्रविषयतया तस्य सौगतैरभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षोप्यसम्भाव्यः; योगिज्ञानस्य विधूतकल्पनाजालतयाऽभेदपरामर्श-

---

१–भिन्नैक प्र–आ०, ब०, ज० । २ पूर्वोत्तरक्षणानाम् । ३ कार्यकारणभावप्रबन्धेन । ४–प्रबन्धनेन ब० । ५ न च तत्–भां० । ६ क्षणिकत्वप्रसाधक । ७–श्याभ्यु–आ०, ब०, ज० । ८–कं पू–आ०, ब०, ज० । ९–षयः स्व–आ०, ब०, ज० । १० मित्रज्ञानं चैत्रज्ञान–भां० । ११ पृ० ६ पं० १४ । १२ वर्तमानक्षणस्य । १३ पूर्वोत्तरक्षणाभ्याम् । १४ संज्ञान–आ०, ब० ज० । १५ अतीतानागतक्षणयोः । १६ तत्रै–आ०, ब०, ज० । १७ एतत्प्रयोगद्वयं स्याद्वादरत्नाकरस्य १०८७ पृष्ठेऽपि । १८ उत्पाद्य उत्तरक्षणः, उत्पादकः पूर्वक्षणः । १९–सन्तानकः–भां० । २० पृ० ६ पं० १४ । २१ तुलना–"यस्मादभेदपरामर्शः प्राचीनोत्तरक्षणानाम् ज्ञानान्तरात्, स्वतो वा ? यदि ज्ञानान्तरात्; किमस्मदादिसम्बन्धिनो योगिसम्बन्धिनो वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १०८८ । २२ तेषां ज्ञानान्तरात्किमस्म–आ०, ब०, ज० । २३–मर्शहे–आ०, ब०, ज० ।

र्शाऽहेतुत्वात्। अथ स्वत एव; तन्न; अतीताऽनागतक्षणयोरसत्त्वेन अभेदपरामर्शहेतुत्वानुपपत्तेः। यदसत् न तदभेदपरामर्शहेतुः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, असन्तौ च अतीताऽनागतौ ज्ञानक्षणाविति। वर्तमानज्ञानक्षणस्यापि अतीताऽनागतज्ञानक्षणाभ्यां सह नाऽभेदपरामर्शहेतुत्वं तत्कालेऽसत्त्वात्। यद्यत्काले असत् न तस्य तेन सह एकसन्तानहेतुरभेदपरामर्शः यथा रावण-शङ्खचक्रवर्त्यादिना, अतीतानागतक्षणकाले असंश्च वर्तमानक्षण इति। ततः प्रतिक्षणविशरारुक्षणानामुक्तप्रकारेण कार्यकारणभावस्य अभेदपरामर्शस्य चानुपपत्तेः कथं यथोक्तलक्षणः सन्तानो व्यवतिष्ठेत ?

अस्तु वा; तथाप्यसौ सन् स्यात्, असन् वा ? यदि सन्; तदाऽसौ अनित्यः, नित्यो वा ? प्रथमपक्षे सन्तानिभ्योऽस्याऽविशेषात् कथं कर्मफलसम्बन्धव्यवस्थाहेतुत्वं यतः कृतनाशाकृताभ्यागमदोषोपनिपातो न स्यात् ? द्वितीयपक्षे तु नाम्नि विवादो नार्थे, आत्मन एव 'सन्तानः' इति नामान्तरकरणात्। अथ असन्; कथं तद्व्यवस्थाहेतुः ? यदसत् न तत् कस्यचिद् व्यवस्थाहेतुः यथा खरविषाणम्, असंश्च भवन्मते सन्तान इति।

यदप्युक्तम्[10]–'भेदाभेदादिविकल्पैरवक्तव्य एव सन्तानोऽवस्तुत्वात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; अवस्तुनो वस्तुव्यवस्थाहेतुत्वाऽसंभवात्। तथाहि–सन्तानः कर्मफलसम्बन्धादिव्यवस्थाहेतुर्न भवति अवस्तुत्वात् आकाशकुशेशयवत्। तद्व्यवस्थाहेतुत्वे[12] वा अवस्तुत्वविरोधः। यद् वस्तुव्यवस्थाहेतुः न तदवस्तु यथा प्रत्यक्षादि, कर्मादिवस्तुव्यवस्थाहेतुश्च भवद्भिः परिकल्पितः[14] सन्तान इति। वस्तुत्वे चास्य[15] सन्तानिभ्यो भेदः, अभेदो वा स्यात् ? अभेदे प्रतिक्षणं तेनापि

१–मर्शाहे–आ०, ब०, ज०। २ "यथा रावणशङ्खचक्रवर्त्तिभ्यां सह इति" स्या० रत्ना० पृ० १०८८। ३–मर्शानु–भां०। ४ सन्तानः। ५ सत् स्यादसद् वा आ०, ब०, ज०। ६ तुलना–"अथ द्रव्यसत्त्वमस्यावसीयते; संज्ञाभेदमात्रम् 'आत्मा सन्तानः' इति नार्थविप्रतिपत्तिः" राज वा० पृ० ८५। "सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात् अन्यथात्मा तथोच्यताम् ॥ ८३ ॥" तत्त्वा० श्लो० पृ० २३। ७ नास्ति वि–आ०, ब०, ज०। ८ असत् आ०, ब०, ज०। ९ कर्मफलसम्बन्धव्यवस्था। १० पृ० ७ पं० ५। ११ तुलना–"अवस्तुनो वस्तुव्यवस्थाहेतुत्वानुपपत्तेः।" स्या० रत्ना० पृ० १०८९। १२–धादि हे–भां०। १३–हेतुः वा–आ०, ब०, ज०। १४ परिकल्प्यते भां०, ज०। १५ सन्तानस्य भिन्नाभिन्ननित्यानित्यादिविकल्पैः प्रत्यवस्थितिः इतरग्रन्थेष्वपि दृश्यते। तथाहि–"व्यतिरिक्तो हि सन्तानो यदि नाभ्युपगम्यते। सन्तानिनामनित्यत्वात् कर्त्ता कश्चिन्न लभ्यते ॥३७॥ सन्तानानन्यतायां तु वाचोयुक्त्यन्तरेण ते। तत्र चोक्तं नचाऽवस्तु सन्तानः कर्तृतां व्रजेत् ॥ ३९ ॥ सन्तानक्षणिकत्वे च तदेवाऽक्षणिकस्त्वथ। सिद्धान्तहानिरेवञ्च सोऽपि द्रव्यान्तरं भवेत् ॥ ४० ॥ एका चाऽव्यतिरिक्ता च सन्तानिभ्योऽथ सन्ततिः। भेदाऽभेदौ प्रसक्तव्यौ ग्राह्यग्राहकयोर्यथा ॥ ४१ ॥" मीमांसा श्लो० पृ० ६९७। "सन्तानिभ्यश्च सन्तानोऽभिन्नो भिन्नोऽथवा द्विधा ॥ ६३३ ॥ अभेदे ऽनित्यतासक्तिः स्यास्तुभेदे प्रसज्यते। कार्यकारणभावश्च न च वः स्यादभीप्सितः ॥ ६३४ ॥ भिन्नाऽभिन्नत्वपक्षोऽपि विरोधान्न च युज्यते। स्वसिद्धान्तस्य च ध्वस्तिर्न च संगच्छते जनिः ॥ ६३५ ॥ सन्तानिनां स्वसन्तानाद्भिन्नाऽभिन्नत्वकल्पने। वाच्या दोषा यथायोगं सन्तानार्थानुरोधतः ॥ ६३६ ॥ अवाच्यमितिपक्षश्चेन्मैवं तस्याप्यसंभवात्। अन्याऽनन्योभयात्म-

तद्वत् विनष्टव्यं ततोऽभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत्, सन्तानिवद्वा सन्तानस्य भेदप्रसङ्गश्च ततः एव तद्वत्। भेदे नित्यः, अनित्यो वा स्यात्? नित्यत्वे स एव नाममात्रभेदः, सत्त्वादेर्नश्वरत्वे साध्यो (ध्ये)ऽनैकान्तिकत्वश्च। अनित्यत्वे तु सन्तानिवद् भेदात् कथं कर्मादिप्रतिनियमनिबन्धनत्वम्? कथं वा रूपादिस्कन्धपञ्चकव्यवस्था सन्तानलक्षणस्य षष्ठस्कन्धस्य प्रसङ्गात्?

किञ्च, अस्य तद्विकल्पैरवक्तव्यत्वमसत्त्वात्, वक्तुरशक्तेः, अज्ञानाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सन्तानस्याऽसत्त्वे कर्मादिव्यवस्थाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात्। अस्तु वाऽसत्त्वम्; तथापि असद्रूपस्य सद्रूपाद् भेदोपपत्तेः भेदेन वक्तुं शक्तेश्च कथमसौ तद्रूपोऽप्यवक्तव्यः स्यात्? असद्रूपोह्यर्थः सद्रूपतया वक्तुमशक्यो न पुनरसद्रूपतयापि। द्वितीयविकल्पोऽप्यसाम्प्रतः; सुगतस्याऽचिन्त्यशक्तिसद्भावाभ्युपगमात्। तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; तस्याऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। †यच्चोक्तम्-'संवृतिः सन्तानः' इति; तदतीवाऽसङ्गतम्; संवृतेर्मृषारूपतया दृष्टाऽदृष्टप्रयोजनप्रसाधकत्वानुपपत्तेः। किञ्च, संवृतिः कल्पनोच्यते; सा च असति मुख्ये न प्रवर्तते।

"अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्राध्यारोपः कल्पना" [ ] इत्यभिधानात्।

न च मुख्यरूपतयान्वितं रूपं भवतां क्वापि प्रसिद्धं यत् पूर्वोत्तरक्षणेषु कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्त्तमानेषु कल्प्येत। अतः संवृतिरूपसन्तानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याप्येकप्रमातृसद्भावोऽवसीयते।

त्वकल्पने ह्यसदेव तत् ॥ ६३७ ॥" बृहदा० वार्ति० पृ० १४८९। "अथ सन्तानमाश्रित्य क्रियते तत्समर्थनम्। न तस्य भिन्नाऽभिन्नत्वविकल्पाऽनुपपत्तितः ॥ अभेदपक्षे क्षणवत् व्यवहारो न सिद्ध्यति। व्यतिरेके तु चिन्त्योऽसौ वास्तवोऽवास्तवोऽपि वा ॥ अवास्तवत्वे पूर्वोक्तं कार्यं विघटते पुनः। वास्तवत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वेति चिन्त्यताम् ॥ सन्तानिनिर्विशेषः स्यात् सन्तानः क्षणभङ्गुरः। न सिद्ध्येत् पुनरप्येष व्यवहारः पुरोदितः ॥ अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपैषि भावम्। उत्तिष्ठ भिक्षो फलिता तवाशा सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥" न्याय मं० पृ० ४६४।

१ सन्तानिक्षणवत्। २-**वत्तावद्वा सन्ता**-भां०। ३ ततोऽभिन्नत्वादेव। ४-**ध्य अनै**-भां०। ५ कर्मफलसम्बन्धादि। ६ **रूपस्कन्ध**-ब०। रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानरूपाः पञ्च स्कन्धाः। ७ भेदाऽभेदादिविकल्पैः। ८-**त्वसमत्वात्**-आ०, ब०, ज०। "अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात् किमबोधतः ॥ ५० ॥" आप्तमी०। ९-**स्यास**-आ०, ब०, ज०। १० असद्रूपोऽपि। ११ **ङ्गतिः सं**-आ०, ब०, ज०। १२ **संवृतेस्तृषा**-आ०, ब०, ज०। तु०-"अन्येष्वनन्यशब्दाऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्। मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥ ४४ ॥" आप्तमी०। "न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा·····मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टा" युक्तानु० पृ० ४१। "सत्यं चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥ ६ ॥" मी० श्लो० पृ० २१८। १३ तुलना-"अपि च संवृतिः कल्पना उच्यते, सा च असति मुख्ये न संभवति" स्या० रत्ना० पृ० १०९०। "संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनाच्च। अनया इति संवृतिः। अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायाः।" बोधिचर्या० पं० पृ० ३५२। १४ उद्धृतञ्चैतत् स्या० रत्ना० पृ० १०९०। १५ **भवतः** भां०। †पृ० ७ पं० ५।

प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेश्च; नहि 'यमहमद्राक्षमेतर्हि तमेव स्पृशामि' इति एकानुसन्धातृव्यतिरेकेणैवंविधमनुसन्धानं संभवति, प्रतिक्षणमाविर्भवतामपरापरज्ञानानां परस्परस्वरूपाऽनभिज्ञतया अन्योन्यं[२] प्रत्यवमर्शाऽसामर्थ्यात्। यत् परस्परस्वरूपानभिज्ञं न तद् अन्योन्यप्रत्यवमर्शसमर्थम् यथा देवदत्त-यज्ञदत्तविज्ञानम्, परस्परं[४]स्वरूपानभिज्ञं च उक्तप्रकारं[५] रूपस्पर्शादिज्ञानमिति। अथ एकमेवोभयप्रतिसन्धानात्मकमेतज्ज्ञानमिष्यते; कथमेवं क्षणिकवादः तदात्मनो ज्ञानस्याऽनेकक्षणस्थायित्वात्? कथं वा नैरात्म्यवादः तँस्यैवाऽऽत्मत्वोपपत्तेः? एकस्य ग्रहण-स्मरणानुसन्धातुः सिद्धत्वात्। न खलु ज्ञानादर्थान्तरमात्मानं प्रतिजानीमः, पूर्वोत्तरचिद्विवर्त्तवर्तिनोऽनुस्यूतचैतन्यस्य आत्मत्वप्रतिज्ञानात्। न हि प्रमाता नाम अननुभूतपूर्वं

---

१ भारतीयदर्शनेषु सर्वत्रैव प्रत्यभिज्ञानादेव आत्मनित्यत्वसिद्धिः दृश्यते। तथाहि–"दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। ३।१।१।" न्यायसू०। "यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि इति, यं चास्पाक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि इति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययौ एककर्त्तृकौ प्रतिसन्धीयेते" न्याय भा० पृ० २१८। "नहि भवति यद्रूपमद्राक्षं सोऽयं स्पर्श इति, नापि भवति 'यत् स्पर्शमस्पार्क्षं तद्रूपं पश्यामि' इति। नापि देवदत्तदृष्टे यज्ञदत्तप्रतिसन्धानं दृष्टम्, नहि भवति देवदत्तो यमाद्राक्षीत् यज्ञदत्तः तमद्राक्षम् इति। किं कारणम्? बुद्धिभेदानां प्रतिनियतविषयत्वात् इति। प्रतिनियतविषया इतरेतरव्यावृत्तिरूपा नैरात्म्यवादिनो न भवन्ति इति न युक्तं प्रतिसन्धानम्, तस्मात् यः प्रतिसन्धाता स आत्मा इति।" न्याय वा० पृ० ६४। "स्मरणप्रत्यभिज्ञाने प्रत्युत स्थैर्यसाधके। एवञ्च वञ्चनामात्रम् आशुनाशित्वदेशना।" .....इत्यादि, न्यायमं० पृ० ४४४। "अनुस्मृतेश्च" ब्रह्म सू० २।२।२५। "कथं हि 'अहमदोऽद्राक्षम् इदं पश्यामि' इति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात्। अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्त्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धः 'अहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामि'। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात् ततोऽहं स्मरामि अद्राक्षीदन्यः इति प्रतीयात्, नत्वेवं प्रत्येति कश्चित्.....तथा अनन्तरामनन्तराम् आत्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन् एककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासाद् अतीताश्च प्रतिपत्तीराजन्मनः आत्मैककर्तृकाः प्रतिसन्दधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नाऽपत्रपेत्?" ब्रह्म० सू० शां० भा०। "प्रत्यभिज्ञायते कर्त्ता यः पूर्वापरकालयोः। तस्य स्थाल्नोः स्फुटो भेदो विज्ञानात् क्षणभङ्गुरात्॥ विषयप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेर्ज्ञातुरेकत्वकल्पनायां स्यादप्येतदुत्तरम् 'सन्तानैकत्वादेव उपपद्यते' इति। यदा तु ज्ञातैवैकः पूर्वापरकालयोः प्रत्यभिज्ञायते 'योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहमनुपश्यामि' इति तदा प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञातुरेकत्वावगमात्, विज्ञानस्य च क्षणिकत्वात् ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवतीति।" शास्त्रदी० पृ० ४७५। प्रत्यभिज्ञानं तु *भिन्नकर्त्तृकेभ्यो व्यावर्त्तमानमेककर्त्तृकतायां पर्य्यवस्यति।*" वैशे० उप० पृ० ९९। "क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥ ४१॥" आप्तमी०। २-न्य प्र-भां०। ३-भिज्ञानं त-आ०, ब०, ज०। ४-स्परूपा-भां०। ५-र रूप-ज०, भां०। ६ "तत्र आत्मा नाम योऽपरायत्तस्वरूपः स्वभावः, तदभावो नैरात्म्यम्। तच्च धर्मपुद्गलभेदाद्द्वैतं प्रतिपद्यते-धर्मनैरात्म्यम्, पुद्गलनैरात्म्यञ्चेति।" चतुःश० पृ० १५१। ७ उभयप्रतिसन्धानात्मनो ज्ञानस्यैव।

किञ्चिद्वस्तु; किं तर्हि ? प्रतिनियतार्थावभासिज्ञानेषु अहमहमिकया प्रतिप्राणि भासमानमन्वितं चिद्रूपम्, तदनभ्युपगमे प्रतिसन्धानवार्त्तोच्छेदः स्यात्। नँ हि अन्येनानुभूते घटे अन्यस्य 'स एवायं घटः' इति प्रतिसन्धानं प्रतीतम्, अन्यथा प्रथमदर्शनेऽपि तत् स्यात्। अथ द्वितीयदर्शने सत्येव तद् भवति, नँन्वेकस्यावस्थातुः तद् द्वितीयदर्शनम्, अनेकस्य वा ? यद्येकस्य; अस्मन्मतसिद्धिः। अनेकपक्षे तु एकावस्थातृरहितत्वात् देवदत्तदर्शनानन्तरं यज्ञदत्तदर्शन इव प्रतिसन्धानानुपपत्तिः, नहि देवदत्तानुभूतमर्थं यज्ञदत्त इत्थं प्रतिसन्धत्ते 'यमहमद्राक्षं देवदत्तः तमेवाहं यज्ञदत्तः स्पृशामि' इति, एतत्तु स्यात् 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इति। क्षणिकचित्तपक्षे तदँपि वा न स्यात्; पूर्वोत्तरचित्तक्षणयोर्विभिन्नकालत्वँतोऽन्योऽन्यार्थदर्शनाऽभावात्, अभिन्नकालयोरेव हि देवदत्त-यज्ञदत्तयोः अँन्योन्यार्थदर्शने सति 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इति प्रतिसन्धानं प्रतीतम्।

यदपि 'सादृश्यात् प्रदीपवत् प्रतिसन्धानम्' इत्युक्तम्[10], तदप्ययुक्तम्[11]; दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्, प्रदीपादौ हि प्रमातुरवस्थाने सति विषयभेदेऽपि सादृश्यात् प्रतिसन्धानं युक्तम्, नात्र, प्रमातृ-प्रमेययोरत्यन्तभेदात्। न हि अन्येन दृष्टेऽन्यस्य सादृश्यात् 'मया दृष्टोऽयम्'[12] इति प्रतिसन्धानं दृष्टम्, 'सोऽयम्' इत्यादिज्ञानं हि स्मृतिमपेक्षते, स्मृतिः संस्कारम्, सोऽप्यनुभवमित्यनुभवादिज्ञानमुक्ताफलानामनुस्यूतैकप्रमातृसूत्रानुप्रवेशे सत्येव 'अनुभवात् स्मृतिः' इत्याद्युपपद्यते, नान्यथा। प्रदीपवत् [13]प्रँमातुर्मुहुर्मुहुर्निरन्वयनिवृत्तौ पूर्वोत्तरदर्शिनो भिन्नसन्ता-

१ "अहमहमिकयात्मा विवर्त्ताननुभवन् अनादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकानां·····गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः।" अष्टसह० पृ० १२८। २ प्राणिप्रति आ०, ब०, ज०। ३ प्रत्यभिज्ञान। ४ "स्थित्यभावे हि प्रमातुः अन्येन दृष्टं नाऽपरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति।" अष्टसह० पृ० २०५। ५ नत्वेकस्यावस्थानः आ०, ब०, ज०। ६-तुः द्वि-भां०। ७ 'तेन दृष्टं स्पृशामि' इत्यपि। ८-लतोऽन्यार्थ-आ०, ब०, ज०। ९ अन्यार्थ-भां०। १० पृ० ७ पं० ८। ११ "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा चेत् न स्यादसदृशेषु सा॥ १२१॥ गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः॥" मीमां० श्लो० पृ० ७२०। "स यदि ब्रूयात् सादृश्यादेतत् संपत्स्यत इति, तं प्रति ब्रूयात् 'तेनेदं सदृशम्' इति, द्वयायत्तत्वात् सादृश्यस्य। क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोः गृहीतुरेकस्याऽभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानम् इति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्।" ब्रह्म सू० शा० भा० २।२।२५। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं कृत्तकेशनखादिवत्। इति चेन्नैतदेवं स्यात् सादृश्याऽसंभवात्तव॥ ६६४॥ सादृश्याऽसंभवश्चापि सर्वस्य क्षणिकत्वतः। नाप्यनेकार्थदर्श्यस्ति सादृश्यं स्याद्यतस्तव॥ ६६५॥" बृहदा० वा० पृ० १४९६। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम्।" न्या० वि० पृ० ४७० पू०। "सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं नानासन्तानभागिनाम्। भेदानामिति तत्रापीत्यदृष्टपरिकल्पनम्॥१४७॥ तदेवेदमिति ज्ञानादेकत्वस्य प्रसिद्धितः। सर्वस्याप्यस्खलद्रूपात् प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिवत्॥ १४८॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३। "यदप्युक्तम्-'सादृश्यादेव तत्संभवात् प्रदीपवत्' इति; तदपि नावदातम्; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्।" स्या० रत्ना० पृ० १०९०। १२ इति संधानं-आ०, ब०, ज०। १३ प्रमातुर्मुहुर्नि-आ०, ब०, ज०।

नन्वदन्यत्वात्। न च पूर्वबुद्धिविशेषात् तच्छैक्त्यनुविधानेन उत्तरं बुद्ध्यन्तरमुत्पद्यते, अतः संस्कारादेः संभव इत्यभिधातव्यम्; पूर्वबुद्धिविशेषस्यानुभवरूपत्वात् तत्प्रभवबुद्ध्यन्तरस्यापि अनुभवरूपस्यैवोत्पत्तिप्रसङ्गात्।

प्रमातुरन्वितत्वाऽभावे च आम्रफलादिरूपोपलम्भे तद्रूपाविनाभाविषु गन्धरसादिषु विभिन्नप्रमातृवत् स्मरणपूर्वकस्यैवाभिलाषादेरनुपपत्तेस्तदुपभोगाय प्रवृत्तिरतिदुर्घटा स्यात्। इष्टानिष्टयोः प्राप्तिपरिहारेच्छा हि अनुभवस्मरणाधारैकप्रमातृनिष्ठा तदनन्तरं नियमेनोत्पद्यमानत्वात्, या तु नैकप्रमातृनिष्ठा नासौ तदनन्तरं नियमेनोत्पद्यते यथा देवदत्तानुभूते यज्ञदत्तस्येच्छा, अनुभवाद्यनन्तरं नियमेनोत्पद्यते च तत्प्राप्तिपरिहारायेच्छेति। न खलु विभिन्नकर्तृकत्वे देवदत्तेनानुभूते इष्टेऽनिष्टे वाऽर्थे तत्प्राप्तिपरिहाराय यज्ञदत्तस्येच्छा प्रादुर्भवन्ती प्रतीयते, अतो विभिन्नकर्तृकत्वाद् व्यावर्तमानेयम् एककर्तृकत्वेनैव व्याप्यते, ततो 'य एवानुभवति स्मरति च स एवेच्छति' इत्येकप्रमातृसिद्धिः। अथ एकप्रमात्रभावेऽपि वासनावशादेवेच्छा प्रभवतीत्युच्यते; ननु सा वासना वस्तु, अवस्तु वा स्यात्? वस्तुत्वे नाममात्रभेदः 'वासना, आत्मा' इति च। अवस्तुत्वे गगनाम्भोरुहवत् तद्धेतुत्वानुपपत्तिः। क्षणिकैकान्ते च वास्यवासकभावाऽसंभवः, स्थितस्य स्थितेन तदर्शनात् वस्त्रधूपादिवत्।

---

१ पूर्वबुद्धिविशेषगतशक्ति। २ **उपलादि**–आ०, ब०, ज०। तुलना–"इन्द्रियान्तरविकारात्" न्यायसू० ३।१।१२। "कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्य इन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्तितो दन्तोदकसम्प्लवभूतो गृह्यते। तस्य इन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः नान्यदृष्टमन्यः स्मरति।" न्यायभा० पृ० २२९। "प्रमातुरेकस्याऽभावे च आम्लादिरूपोपलम्भे तद्रूपाविनाभाविषु गन्धरसादिषु विभिन्नप्रमातृवत् स्मरणपूर्वकस्य इच्छाभिलाषादेरनुपपत्तेः तदुपभोगाय प्रवृत्तिरिति दुर्घटा स्यात्"·····स्या० रत्ना० पृ० १०९१। ३–**त्तिरिति**–आ०, ब०, ज०। ४ "इच्छा नाम तावदित्थमुपजायते–यज्जातीयमर्थमित्थमुपयुञ्जानः पुरुषः पुरा सुखमनुभूतवान् पुनःकालान्तरे तज्जातीयमुपलभ्य सुखसाधनतामनुस्मृत्य तमादातुमिच्छति सेयमनेन क्रमेण समुपजायमाना इच्छा पूर्वाऽपरानुसन्धानसमर्थमाश्रयमनुमापयति।" न्यायमं० पृ० ४३४। "इष्टानिष्टयोः विवादापन्ना प्राप्तिपरिहारेच्छा अनुभवस्मरणाधारैकप्रमातृनिष्ठा·····"स्या० रत्ना० पृ० १०९१। ५ इच्छा। ६–**र्तृत्वे**–आ०, ब०, ज०। ७ तुलना–"ज्ञातरि प्रत्यभिज्ञां च वासना कर्तुमर्हति ॥१२४॥" मी० श्लो० पृ० ७२०। "वास्यवासकभावाच्चेत् नैतत्तस्याप्यसंभवात्। असंभवः कथं न्वस्य विकल्पाऽनुपपत्तितः ॥ ३२५ ॥ वासकाद्वासना भिन्ना अभिन्ना वा भवेद् यदि।" शास्त्रावार्त्ता०। "नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते यथा। तथैव प्रत्यभिज्ञेयं पूर्वतद्वासनोद्भवा ॥ १७२ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३७। ८ "अस्थिरत्वाद्बुद्धीनाम्, स्थिरं हि वासकेन वास्यमानं दृष्टम्।" न्यायवा० पृ० ६६। "अवस्थिता हि वास्यन्ते भावा भावैरवस्थितैः ॥ १८५ ॥" मी० श्लो० पृ० २६२। "भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत्।" अष्टस०, अष्टसह० पृ० १८२। "पूर्वचित्तस्य वासकता अपरस्य वास्यता न भवत्येव कुत इत्याह–प्रत्यासत्तेरभावात्" सिद्धिवि० टी० पृ० १९७ उ०। "न च अस्थिराणां भिन्नकालतया अन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च

यदप्यभिहितम्[1]–'नित्यैकरूपत्वे चात्मनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः' इत्यादि; तदप्यसम्यक्; नित्यैकरूपत्वस्यात्मनोऽनभ्युपगमात्, तस्य परिणामिनित्यताप्रतिज्ञानात्। तत्र च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वं यथा संभवति तथाऽक्षणिकत्वसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादयिष्यते।

यदप्युक्तम्[3]–'सुखादीनां क्रमभुवामात्मा व्यापकं[4] को भवन् किमेकेन स्वभावेन भवति अनेकेन वा' इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; अनेकस्वभावेनैव[6] तेन तेषां व्याप्यत्वात्। नचैवमनवस्था अर्थान्तरभूतानां तेषामर्थान्तरभूतैः स्वभावैर्व्याप्त्यनभ्युपगमात्, तद्रूपतया परिणामो हि तद्व्याप्तिः चित्रज्ञानं[9] नीलाद्याकारव्याप्तिवत्। नहि तद्रूपतया परिणतेरन्या तत्र तदाकारव्याप्तिरस्ति, तज्ज्ञानात् तदाकाराणामर्थान्तरत्वानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा तद्दोषोपनिपातप्रसक्तिः। अथ चित्र[10]ज्ञानस्य नीलाद्याकारात्मकतया तद्व्यापिनः स्वयं संवेदनान्न[11] तत्प्रसक्तिः; तर्हि आत्मनोऽपि सह क्रमेण च सुखाद्यनेकाकारव्यापिनः स्वयं संवेदनात् कथं तद्दोषोपनिपातः स्यात्? नहि दृष्टेऽनुपपत्तिर्नाम। [12]तदपह्नवे च बन्धमोक्षयोरभावः स्यात् तयोरेकाधिकरणत्वात्; तथाहि–विवादापन्नौ बन्धमोक्षौ एकाधिकरणौ तत्त्वात्[13] लोकप्रसिद्धबन्धमोक्षवत्। सर्वथा भेदे हि बद्ध-मुक्तपर्याययोः 'अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते' इति बद्धस्यैव मोक्षार्था प्रवृत्तिर्न स्यात्। सन्ता-

---

तेषां वास्यवासकभावो युज्यते, स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रादेः मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति।" स्या० मं० पृ० १६०।

१ पृ० ८ पं० २। २ "जीवो अणाहिनिहणो परिणममाणो हु णवणवं भावं॥ २३१॥" स्वामिकार्त्ति०। ३ पृ० ८ पं० १५। तुलना–"स्यान्मतं सुखादीनां चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवति अनेकेन वा? यद्येकेन...तदेतत् चित्रज्ञानेऽपि समानम्।" अष्ट सह० पृ० ७७। "कथमेकः पुरुषः क्रमेण अनन्तान् पर्यायान् व्याप्नोति? न तावदेकेन स्वभावेन सर्वेषामेकरूपतापत्तिः···तेऽपि दूषणाभासवादिनः; कथम्? क्रमतोऽनन्तपर्यायान् एको व्याप्नोति ना सकृत्। यथा नानाविधाकारांश्चित्रज्ञानमनंशकम्॥१५४॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३४। आप्तप० पृ० ४४। ४–**को भवति किमेकेन स्वभावेन न भवति अनेकेन न वा** भां०। ५ सुखादीनाम्। ६–**चैवान**–आ०, ब०, ज०। ७–**ज्ञाननी**–भां०। ८–**न्या तदा**–आ०, ब०, ज०। ९ चित्रज्ञानात्। १० "तस्य पीताद्याकारव्यापिनः स्वयं संवेदनान्न तत्प्रसक्तिः; तर्हि आत्मनोऽपि सह क्रमेण च सुखाद्यनेकाकारव्यापिनः स्वयं संवेदनात् कथमुपालम्भः स्यात्, नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम।" अष्टसह० पृ० ७७। स्या० रत्ना० पृ० १०९२। ११ अनवस्था। १२ सुखाद्यनेकाकारव्यापिन आत्मनोऽपह्नवे। तु०–"न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ" युक्त्यनु० श्लो० १५। "आत्मापलापे बन्धमोक्षयोरप्यभावः स्यात् तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतीतेः।" स्या० रत्ना० पृ० १०९२। "बुद्धिसन्ततिमात्रे तु न कश्चिद् दीर्घमध्वानं संधावति न कश्चित् शरीरप्रबन्धाद् विमुच्यते इति संसारापवर्गाऽनुपपत्तिः।" न्यायभा० पृ० ३१५। १३ बन्धमोक्षत्वात्। तत्त्वसंग्रहे कर्मफलसम्बन्धपरीक्षायां पूर्वपक्षरूपेण कस्यचिदुक्तिः–"एकाधिकरणावेतौ बन्धमोक्षौ तथास्थितेः। लौकिकाविव तौ तेन सर्वं चारुतरं स्मृतम्॥ ४९९॥"

नापेक्षया बद्धस्यैव मोक्षः; इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्; सन्तानस्यैवोक्तप्रकारेण असंभवात्। तथा निहित-मन्त्रिता-ऽधीतस्मृतिः दत्तग्रहादिश्च एकात्माऽपह्नवे दुर्घट इति।

तदेवं कण्टकशुद्धिं विधाय स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थं शास्त्रमिदमुपक्रमते। ननु सम्बन्धा-ऽभिधेय-शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति शास्त्राणि प्रेक्षावद्भिरादृियन्ते नेतराणि। अतः शास्त्रमिदमारभ्यमाणमभिधेय-तत्सम्बन्धवत्, तद्रहितं वा स्यात्? यदि तद्रहितम्; तत्प्रारम्भप्रयासो निष्फलः स्यात्, उन्मत्तवाक्यवत् प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। तद्वच्चेदस्तु, तथापि तदभिधेयं निष्प्रयोजनम्, प्रयोजनवद्वा स्यात्? निष्प्रयोजनं चेत्; तर्हि तत्प्रारम्भप्रयासो व्यर्थः काकदन्तपरीक्षावत् तत्र प्रामाणिकानामादराऽसंभवात्। अथ प्रयोजनवत्; तत् किमभिमतप्रयोजनवत्, अनभिमतप्रयोजनवद्वा? अनभिमतप्रयोजनवत्त्वे मातृविवाहोपदेशवत् नितरामनादरणीयत्वम्। अभिमतप्रयोजनवत्त्वेऽपि तत्प्रयोजनस्याऽशक्यानुष्ठानत्वे सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालंकारोपदेशवत् कथं कस्यचित्तत्रोपादेयता स्यात्? इत्यारेकापनोदार्थमक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसंग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥ ३॥ इति

---

१ "बुद्धिसन्ततिमात्रे च सत्त्वभेदात् सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहितमव्यावृत्तमपरिनिष्ठितञ्च स्यात् ततः स्मरणाऽभावात्।" न्यायभा० पृ० ३१५। "एवं तु निष्प्रमाणे पदार्थाऽस्थैर्यपक्षे ज्ञानं तु जनकस्य नियतस्य वस्तुनो दर्शनं दर्शनविषयीकृतस्य प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिविषयीकृतस्य प्राप्तिः इति व्यवहारो न स्यादर्थक्षणनानात्वात्·····पूर्वदृष्टस्य स्मरणं स्मृतस्य कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञातस्य गृहादेरर्थकृतस्य समापनम् इत्यादयश्च व्यवहारा विलुप्येरन्।" न्यायमं० पृ० ४६४। २ "अभिधेयं तु यदि निष्प्रयोजनं स्यात् तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसन्दर्भोऽपि नारम्भणीयः स्यात् यथा काकदन्तप्रयोजनाऽभावात् न तत्परीक्षा आरम्भणीया प्रेक्षावता·····सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनमन्विष्य प्रवर्त्तन्ते, ततश्च आचार्येण प्रकरणं किमर्थं कृतं श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयते इति संशयव्युत्पादनं प्रयोजनमभिधीयते··· अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिः निष्प्रयोजनमभिधेयं सम्भाव्येत अस्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षावत्। अशक्यानुष्ठानं वा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालंकारोपदेशवत्। अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहकर्मोपदेशवत्।" न्यायबि० टी० पृ० २। सम्बन्धाभिधेयाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य व्यस्त-समस्तरूपेण चर्चा निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्या। माध्यमिक वृ० पृ० ३। हेतुबि० टी० पृ० १। बोधिचर्या० पं० पृ० ५। तत्त्वसं० पं० पृ० २। मीमांसाश्लो० पृ० ४। सम्बन्धवा० पृ० ७। माण्डूक्य० गौड़पा० शाङ्करभा० पृ० ४। शास्त्रदी० पृ० ४। न्यायवा० ता० टी० पृ० ४। न्यायमं० पृ० ६। सिद्धिवि० टी० पृ० ४ पू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३। जैनतर्कवा० पृ० २। प्रमेयक० पृ० २। सन्मति० टी० पृ० १६९। स्या० रत्ना० पृ० १४। रत्नाकराव० पृ० ५। ३-**वद्वा निष्प्र**-आ०, ब०, ज०। ४-**तक्ष चू**-भां०। ५-"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः॥१॥" प्रमाणसं०। ६ "तत्प्रमाणे।" तत्त्वार्थसू० १।१०।

विवृतिः–सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । न[1] वै 'ज्ञानम्' इत्येव प्रमाणम्, संशयविपर्यासकारणस्य अकिञ्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । नहि 'तत्त्वज्ञानम्' इत्येव यथार्थनिर्णयसाधनमित्यपरः, तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत, वस्तुबलायाततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तन्न अज्ञानस्य प्रमाणता अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ।

शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयादिसमर्थनम्–

त्रिधा[2] हि शास्त्राणां प्रवृत्तिः–उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति । तत्र नाममात्रेणार्थानामभिधानम् उद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मः लक्षणम्[3] । उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च 'यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणतोऽर्थावधारणं परीक्षा । विभागश्च[4] उद्देश एवान्तर्भवति, सामान्यसंज्ञया हि कीर्तनम् उद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया[5] कीर्तनं विभागः इति । तत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणभेदाः श्रुतभेदाश्च नयनिक्षेपाः लक्षण-सङ्ख्या-विषय-फलसम्पत्समन्विताः शास्त्रस्यास्याभिधेयाः इत्युद्देशतः सकलशास्त्रार्थस्याभिधेयस्यानेन प्रतिपादनाद् अभिधेयरहितत्वाशङ्काव्युदासः । तेन च सहास्य वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः इति सम्बन्धरहितत्वारेकानिरासः । शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनं तु साक्षात् तल्लक्षणव्युत्पत्तिरेव, परम्परया तु अभ्युदयनिःश्रेयसावाप्तिः । परव्युत्पादनार्था हि शास्त्रकृतः प्रवृत्तिः । नचाभिधेयादिरहितं शास्त्रं कुर्वता परो व्युत्पादितो भवति, तथाविधस्यास्य[6] परप्रतारकत्वप्रसङ्गात् । स च व्युत्पाद्यत्वेनाभिप्रेतः परस्त्रिधा भिद्यते–सङ्क्षेपरुचिः,

१ न विज्ञान–ज० वि० । २ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्य अभिधानम् उद्देशः । तत्र उद्दिष्टस्याऽतत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा ।" न्यायभा० पृ० १७ । न्यायमं० पृ० १२ । न्यायसू० वृ० पृ० ३ । "पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणञ्च । परीक्षायास्तु न नियमः ।" प्रश० कन्दली पृ० २६ । ३ "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।" तत्त्वार्थराजवा० पृ० ८२ । "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः ।" न्यायमं० पृ० ६५ । प्रश० कन्दली पृ० २६ । "एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्, यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । स एव असाधारणधर्म इत्युच्यते ।" तर्कसं० दी० पृ० ५ । तर्कभाषा पृ० १ । ४ "उद्दिष्टविभाग उद्देश एवान्तर्भवति" न्यायवा० पृ० २८ । "ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव·····उद्देशरूपानपायात्तु उद्देश एव असौ । सामान्यसंज्ञया कीर्त्तनमुद्देशः प्रकारभेदसंज्ञया कीर्त्तनं विभाग इति ।" न्यायमं० पृ० १२ । प्रश० कन्दली पृ० २६ । ५–यानुकी–आ०, ब०, ज० । ६ प्रमाणादिलक्षण । ७ शास्त्रकारस्य । ८–प्रभारक–आ०, ब०, ज० । ९ "केचित् सङ्क्षेपरुचयः, अपरे नाऽतिसङ्क्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः" सर्वार्थसि० पृ० १३ । तत्त्वार्थरा० वा० पृ० ३१ ।

विस्तररुचिः, मध्यमरुचिश्चेति । स च त्रिविधोऽपि परः प्रत्येकं चतुर्धा भिद्यते–व्युत्पन्नः, अव्युत्पन्नः, सन्दिग्धः, विपर्यस्तश्च । तत्र व्युत्पन्नो विपर्यस्तश्च न प्रतिपाद्यः, व्युत्पित्साविरहात् । अव्युत्पन्नस्तु स्वभावतो व्युत्पित्सारहितोऽपि लोभभयादिना व्युत्पित्सायामुत्पादितायां व्युत्पाद्यो भवत्येव, यथा पितुः पुत्रः । सन्दिग्धोऽपि यदा स्वगतसंशयख्यापनपूर्वकम् 'अनयोः कः सत्यः इति पूर्वापरपक्षयोः गुणदोषनिरूपणद्वारेण मां बोधयतु भवान्' इति तत्त्वज्ञानार्थमाचार्यमुपसर्पति तदैव व्युत्पित्सासंभवात् प्रतिपाद्यः, नान्यदा ।

ननु प्रसिद्धे प्रमाणे अभिधेयादिमत्ता शास्त्रस्य स्यात्, न च तत् प्रसिद्धम्; तस्य हि प्रसिद्धिः प्रमाणान्तरात्, तदन्तरेण वा ? यदि प्रमाणान्तरात्; तदानवस्था, कुतः ? प्रमाणान्तरस्यापि प्रमाणान्तरात् प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । प्रमाणान्तरमन्तरेण तत्सिद्धौ च सर्वं सर्वस्येष्टं सिद्ध्येत्, तथा च सकलशून्यतासिद्धेरपि प्रसङ्गात् कथमस्याऽभिधेयादिमत्ता सिद्ध्येदिति ? तदसमीक्षिताभिधानम्; सकलशून्यतामभ्युपगच्छताऽपि प्रमाणाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तथाहि–सकल-

प्रासङ्गिकी प्रमाणसिद्धिः–

---

१ "तत्त्वप्रतिपित्सायां सत्यां त्रिविधः प्रतिपाद्यः संशयितो विपर्यस्तबुद्धिः अव्युत्पन्नश्च ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५३। "चत्वारो हि प्रतिपाद्याः व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्च ।" लघी० स्व० पृ० ६ । २ "तत्र संशयितः प्रतिपाद्यः तत्त्वपर्यवसायिना प्रश्नविशेषेण आचार्यं प्रति उपसर्पकत्वात् नाऽव्युत्पन्नो विपर्यस्तो वा तद्विपरीतत्वाद् बालकवद् दस्युवद्वा ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५२ । ३–स्य अन्यथा स्यात् न न च आ०, ब०, ज० । ४ प्रमाणम् । ५ "प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ।" न्या० सू० २ । १ । १७ । यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेन उपलभ्यन्ते येन प्रमाणान्तरेण उपलभ्यन्ते तत् प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यते इत्यनवस्थामाह–तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येन इति, न च अनवस्था शक्याऽनुज्ञातुम् अनुपपत्तेरिति ।" "तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः" न्या० सू० २ । १ । १८ । "यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्त्तते, आत्मेत्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्तस्यति अविशेषात्, एवं च सर्वप्रमाणविलोप इति ।" न्यायभा० पृ० १०७ । न्यायवा० पृ० १९८ । "प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात् स्वत एव वा ? यदि यथा प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाधीना एवं प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीना इति तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यत् इत्यनवस्था । अथ स्वत एव सिद्धिः एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिः तथा प्रमेयस्यापि प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पना न घटते ।" तत्त्वा० राजवा० पृ० ३५ । "ननु प्रमाणसंसिद्धिः प्रमाणान्तरतो यदि । तदानवस्थितिर्नो चेत् प्रमाणान्वेषणं वृथा ॥ १३४ ॥" तत्त्वा० श्लो० पृ० १७८ । ६–द्धेरति प्र–भां० । ७ शास्त्रस्य । ८–मत्त्वम् भां० । ९ "अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥" आप्तमी० । "बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोऽसंभवात् न प्रमाणम्, ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य स्वार्थं परार्थं वा केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम्.....बहिरन्तश्च परमार्थसत् तदन्यतरापायेऽपि साधनदूषणप्रयोगाऽनुपपत्तेः ।" अष्टसह० पृ० ११५। "स्वेष्टाऽनिष्टार्थयोर्ज्ञातुर्विधानप्रतिषेधयोः । सिद्धिः प्रमाणसंसिद्ध्यभावेऽस्ति न हि कस्यचित् ॥ १३३ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७८ ।

शून्यवादिनोऽपि अस्ति प्रमाणम्, इष्टानिष्टयोः साधनदूषणाऽन्यथानुपपत्तेः। नचैवमनवस्था, इष्टसिद्धेः अनिष्टप्रतिषेधस्य च प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वेन अशेषवादिनां निर्विवादतः प्रमाणान्तरापेक्षानुपपत्तेः। निराकरिष्यते च सकलशून्यता बाह्यार्थसिद्ध्यवसरे विस्तरतः इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

ननु सिद्धेऽपि प्रमाणसद्भावे तत्स्वरूपविशेषनिश्चयासिद्धिः, ज्ञानाऽज्ञानरूपतया तत्र वादिनां विप्रतिपत्तेरित्याह–**ज्ञानम्** इति। यत् तदिष्टाऽनिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तितः प्रसाधितं प्रमाणं तज्ज्ञानम् प्रमाणत्वात्, यत् पुनर्ज्ञानं न भवति न तत् प्रमाणम् यथा घटादिः, प्रमाणञ्चेदं विवादापन्नम्, तस्माज्ज्ञानम्, इति[2] प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तच्चैतल्लक्षणलक्षितं प्रमाणं प्रत्यक्ष-परोक्षप्रकारेण द्विधा[3]भिद्यते इत्येतत् **'प्रमाणे'** इत्यनेन दर्शयति। तत्राद्यप्रकारस्वरूपं **'प्रत्यक्षं विशदम्'**

कारिकाव्याख्यानम्–

---

१ "सम्यज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः।" प्रमाणप० पृ० १। प्रमेयक० पृ० ३ पू०। प्रमेयरत्न० पृ० १०। स्या० रत्ना० पृ० ४१। २–ति **सामान्यप्रमाण**–ब०। प्रमाणस्य क्रमविकसितानि सामान्यलक्षणानि निम्नप्रकारेण द्रष्टव्यानि–"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्॥ १०१॥" आप्तमी०। "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्॥ ६३॥" बृ० स्वय०। "प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।" सर्वार्थसि० पृ० ५८। त० राजवा० पृ० ३५। "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५। "कोऽस्याऽतिशयः सकलप्रमेयव्यवस्थाहेतुत्वं यद्वक्ष्यते 'सिद्धं यन्नपरापेक्ष्यम्' (?) इत्यादि–सिद्धि वि० टी० पृ० ३ उ०। एषैव कारिका 'तदुक्तम्' इति निर्दिश्य उद्धृता न्यायविनिश्चयटीकायाम् (पृ० ३० उ०) सिद्धं यन्न परापेक्ष्यं सिद्धौ स्वपररूपयोः, तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।" "तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानम्॥ ७७॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४। प्रमाणप० पृ० ५३। "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" परीक्षामुख १।१। "गेण्हइ वत्थुसभावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं। भणियं खु तं पमाणं पच्चक्खपरोक्खभेयेहिं॥" नयचक्रसं० पृ ६५। आलापपद्धतिः पृ० १४५। पञ्चाध्यायी श्लो० ६६६। तत्त्वार्थसार १।१७। "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।१।" न्यायाव०। जैनतर्कवा० श्लो० २। "प्रमीयन्तेऽर्थास्तैः इति प्रमाणानि।" तत्त्वार्थभा० १।१२। "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।" सन्मति० टी० पृ० ५१८। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।" प्रमा० त० १।२। जैनतर्कभा० पृ० १। "सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।" प्रमाणमी० १।१।२। स्या० मं० पृ० २२८। "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥ १०॥" प्रमा० स० पृ० २४। "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्" प्रमाणसमु० टी० पृ० ११। "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्॥" प्रमाणवा० २।१। न्यायबि० टी० पृ० ५। "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्।" न्यायबि० पृ० २५। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्वसंवित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा॥१३४४॥" तत्त्वसं०। "बाह्यार्थे प्रमेये·····सारूप्यं तु प्रमाणम् ज्ञानात्मनि तु प्रमेये·····योग्यता प्रमाणम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ३९८। "योगाचारास्तु बाह्यार्थमपलपन्तो ज्ञानस्यैव अनादिवासनोपप्लावितः नीलपीतादिविषयाकारः प्रमेयम्, स्वाकारः प्रमाणम्, स्वसंवित्तिः

इत्यनेन प्ररूपयति। वक्ष्यमाणलक्षण-वैशद्येन यदुपलक्षितं ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम्[1]। प्रयोगः—

फलम् इति मन्यन्ते।" मी० श्लो० न्यायर० पृ० १५९ "निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनः तत्रार्थे प्रमाणम् इति वैभाषिकोक्तम्।" सन्मति० टी० पृ० ४५९। "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।" न्यायभा० पृ० ९९। न्यायवा० पृ० ५। "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।" न्यायसार पृ० १। "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १२। "यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥" न्यायकु० स्तबक ४। "तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रकर्षविशिष्टज्ञानकारणत्वं प्रमाणत्वम्।" न्या० सू० वृ० पृ० ६। "साधनाश्रयाऽव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्।" सर्वद० सं० पृ० २३५। "प्रमायाः करणं प्रमाणम्।" न्यायसि० मं० पृ० १। तर्कभा० पृ० २। "यथार्थं प्रमाणम्।" प्रमाणलक्षणटी० पृ० १। "अदुष्टं विद्या।" वैशे० सू० ९।२।१। "अदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवो वा, विशेष्यवृत्तिप्रकारकानुभवो वा विद्या।" वैशे० उप० पृ० ३४४। "प्रमीयतेऽनेन इति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते। असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति।" साङ्ख्य० कौ० पृ० १९। योगद० तत्त्ववै० पृ० २७। "द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधम् प्रमाणम्।" साङ्ख्यद० १।८७। "अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमेव अयते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते तदा तु उक्तेन्द्रियसन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्।" सा० प्र० भा० १।८७। "प्रमाणं वृत्तिरेव च।" योगवा० पृ० ३०। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्।" वेदान्तपरि० पृ० १७। "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।" शास्त्रदी० पृ० १५२। "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः।" सि० चन्द्रोदय पृ० २०। "अनुभूतिश्च प्रमाणम्।" शाबरभा० बृह० १।१।५। प्रकरणपं० पृ० ४२। ३ प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण द्विविधप्रमाणविभागस्य उल्लेखः निम्नपुरातनग्रन्थेषु दृश्यते—"जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु। जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खम् ॥५८॥" प्रवचनसार। "आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।" तत्त्वार्थसू० १।११,१२। "दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।" स्थानाङ्गसूत्र २।१।७१। "प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च द्विधा मेयविनिश्चयात्।" न्यायाव० श्लो० १। धर्मकीर्तिकृतप्रमाणवार्तिके "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः" (३।६३) इत्यादिना मेयस्य प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण विभागो विद्यते।

१ "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ॥ ३ ॥" न्यायविनि०। "इदमनन्तरोक्तं स्पष्टं विशदं व्यवसायात्मकं ज्ञानम्, कथंभूतम्? स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसङ्ख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्।" सिद्धिवि० टी० पृ० ९६ उ०। "विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्।" प्रमाणप० पृ० ६७। परीक्षामुख सू० २।३। "असहायं प्रत्यक्षम्।" पञ्चाध्यायी १।६९६। "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षम्···न्यायाव० श्लो० ४। "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।" जैनतर्कवा० पृ० ९३। "स्पष्टं प्रत्यक्षम्।" प्रमाण० तत्त्वा० २।२। प्रमाणमी० १।१।१३। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥ ३ ॥" प्रमाणस० पृ० ८। "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।" न्यायबि० पृ० १६।

विशदस्वभावमेव ज्ञानं प्रत्यक्षम् प्रमाणान्तरत्वान्यथानुपपत्तेः । नचायमसिद्धो हेतुः ; तदन्तरत्वेनास्य वक्ष्यमाणत्वात् । तच्चैवंविधं प्रत्यक्षं द्वेधा प्रतिपत्तव्यम् । कथम् ? इत्याह–**मुख्यसंव्यवहारतः** इति । इन्द्रियाद्यनपेक्षं प्रतिबन्धकापायोपेतात्ममात्रनिबन्धनं स्वविषये निःशेषतो विशदम् अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यं ज्ञानं मुख्यैतः प्रत्यक्षम् ।

इन्द्रियैनिमित्तं तु स्वविषये देशतो विशदं चक्षुरादिज्ञानं संव्यवहारतः प्रत्यक्षम् । कथं पु- ५

तत्त्वसं० कारिका १२१४। "यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् उच्यते ।" न्यायबि० टी० पृ० ११। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" न्या० सू० १।१।४ । "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा ।" न्यायभा० पृ० १७ । न्या० वा० पृ० २८ । "सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम् ।" न्यायसार पृ० २ । "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।" वैशे० द० ३ । १ । १८। "अक्षमक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्···सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" प्रशस्तपा० पृ० १८६ । "इन्द्रियजन्यं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्, अथवा ज्ञानाऽकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।" मुक्तावली श्लो० ५२ । न्यायबो० पृ० ४७। "साक्षात्काररूपप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।" न्यायसि० मं० पृ० २ । तर्कभा० पृ० ५। "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।" सांख्यका० ५ । "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" योगद० व्यासभा० पृ० २७ । "यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।" सांख्यद० १।८९ । "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।" मीमां० द० १।१।४ । "साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम् ।" प्रकरणपं० पृ० ५१ । "तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रम । चात्र चैतन्यमेव(पृ० १२)तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्त्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।" वेदान्तपरि० पृ० २६ । आत्मेन्द्रियमनोऽर्थात् सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।" चरकसं० ११।२०।

१ प्रमाणान्तरत्वेन । २ "इन्द्रियाऽनिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।" तत्त्वार्थराज० पृ० ३८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४। तत्त्वार्थसार १।१७। "सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।" परीक्षामुख २।११। न्यायदी० पृ० १०। "पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ।" प्रमा० तत्त्वा० २।१८। "तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् १।१।१५। "तत्तारतम्ये अवधिमनःपर्ययौ ।" प्रमाणमी० १।१।१८ । ३–**यादिनि**–भां० । "तदाह-हिताऽहितापित्तनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम् । यद्देशतोऽर्थज्ञानं तद् इन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥" न्या० वि० वि० पृ० ५३ उ०। "इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" विशेषा० भा० । "तत्र इन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं देशतो विशदत्वात् ।" प्रमाणपरी० पृ० ६८। "गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्वपर्यायद्रव्यविषयम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रभवम् अस्मदाद्यध्यक्षं विशदमुच्यते ।" सन्मति० टी० पृ० ५५२ । "इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।" परीक्षामु० २।५। "इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ।" प्रमाणमी० १।१।२१ । "देशतो विशदं सांव्यवहारिकम् ।" न्यायदी० पृ० ९। "तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।" जैनतर्कवा० पृ० १००। ४ दिगम्बराम्नाये अकलङ्कदेवैः, श्वेताम्बराम्नाये च

नरनेक्षाश्रितज्ञानस्य प्रत्यक्षव्यपदेशः ? इति चेत्; प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्। अक्षाश्रितत्त्वं हि प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गतिक्रियेव गोशब्दस्य। प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिना अक्षाश्रितत्वेनोपलक्षितमर्थसाक्षात्कारित्वम्, गतिक्रियोपलक्षितगोत्ववद् गोशब्दस्य। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यद्वाच्यम्, अन्यथा गच्छन्त्येव गौः 'गौः' इत्युच्येत नान्या व्युत्पत्तिनिमित्ताभावात्, जात्यन्तरञ्च गतिक्रियापरिणतं व्युत्पत्तिनिमित्तसद्भावाद् गोशब्दवाच्यं स्यात्। यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव; तथा हि—अक्षशब्दोयमिन्द्रियवत् आत्मन्यपि प्रवर्तते, 'अश्नुते व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रति नियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दातिशयता सुघटैव।

तच्चेदं द्विविधमपि प्रत्यक्षं किंविशिष्टम्? इत्याह—**विज्ञानम्** इति। विविधं स्वपरस्वन्धि "ज्ञानं भासनं यस्य यस्मिन् वा तद्विज्ञानम्, अनेन "स्वस्यैव परस्यैव वा ज्ञानं ग्राहकम्'

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः (विशेषावश्यकभाष्ये) मुख्यसंव्यवहाररूपेण प्रत्यक्षं द्विधा विभक्तम्। बौद्धग्रन्थेष्वपि सांव्यवहारिकशब्दस्य निर्देशो दृश्यते यथा 'सांव्यवहारिकस्य इदं प्रमाणस्य लक्षणम्' तत्त्वसं० पं०पृ० ७८४।

१ इन्द्रियाऽनाश्रित। २ "अक्षाश्रितत्त्वञ्च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। अनेन तु अक्षाश्रितत्वेन एकार्थसमवेतम् अर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते, तदेव च शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते। यदि च अक्षाश्रितत्त्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् इन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दः गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति।" न्यायवि० टी० पृ० ११। "यद् इन्द्रियमाश्रित्य उज्झिहीते अर्थसाक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इत्यर्थः, एतच्च प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं न प्रवृत्तिनिमित्तम्"—इत्यादि, न्यायाव० टी० पृ० १६। ३ "वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः ॥ १८१ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "इन्द्रियज्ञानमपि व्यवहारे वैशद्यमात्रेण प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्"·····न्या० वि० वि० पृ० ४८ उ०। इत्यादिना वैशद्यांशमेव प्रवृत्तिनिमित्तं ज्ञायते। ४—**स्वेनोपलक्षितत्त्वेनोपलक्षित**—ब०। ५—**णत व्यु**—आ०, ब०, ज०। ६—**ब्दस्य वा**—भां०। ७ 'अक्षो रथस्यावयवे व्यवहारे विभीतिके। पाशके शकटे कर्षे ज्ञाने चात्मनि रावणौ। इति विश्वः।' श्लोकोऽयं ज० प्रतौ 'इन्द्रियवत्' इत्यस्यानन्तरमुल्लिखितः। ८ "अश्नुते व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रति नियतं प्रत्यक्षम्।" सर्वार्थसि० पृ० ५९। तत्त्वार्थराज० पृ० ३८। प्रमाणप० पृ० ६८। षड्द० स० टी० पृ० ५४। "तथाच भद्रबाहुः—जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टई तं तु होइ पच्चक्खं। परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होइ पारोक्खं।"—(निर्युक्ति) न्यायाव० टी० टि० पृ० १५। "जीवो अक्खो अत्थव्वावण भोयण गुणण्णिओ जेण। तं पई वट्टई णाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहम् ॥ ८९ ॥" विशेषाव० भा०। ९ **संघटैव** भां०। १० "विशब्दः अतिशयप्रकर्षद्वै(वै)विध्यनानात्वेषु वर्त्तमानो गृह्यते।" सिद्धिवि० टी० पृ० ३ पू०। ११ **ज्ञान भा**—आ०, ब०, ज०। १२ स्वग्राहकज्ञानवादिनः—विज्ञानाऽद्वैतवादिनो यौगाचाराः, पुरुषाद्वैतवादिनः, निरालम्बनज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्च। १३ परग्राहकज्ञानवादिनः—परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकाः, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनो यौगाः, अस्वसंवेदनज्ञानवादिनः सांख्याः, भूतचैतनिकाश्चार्वाकाश्च।

इत्येकान्तो निरस्तः। अथवा विशिष्टं बाधवर्जितं तद् यस्य यस्मिन् वेति ग्राह्यम्। अनेनापि 'भ्रान्तमेव स्वपररूपयोः सकलं ज्ञानम्' इत्येकान्तः प्रत्याख्यातः। यदि वा[3], पि (वि) नाना द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषरूपार्थ (रूपा अर्था) विषयतया तद् (?) यस्य यस्मिन् वा इति प्रतिपत्तव्यम्, अनेनापि 'द्रव्यमात्रस्य[4], पर्यायमात्रस्य[5], सामान्यविशेषयोरन्यतरमात्रस्य[6], अन्योन्यविभिन्नोभयरूपस्य[7] वा ज्ञानं ग्राहकम्' इत्येकान्तः प्रतिव्यूढः। विगतं वा स्वरूपे पर- ५
रूपे वा अपेक्ष्यं तद् यस्य तत्तथोक्तमिति। अनेनापि "*यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता*"
[ ] इत्येकान्तः प्रतिक्षिप्तः। तत्तदेकान्तानां च प्रपञ्चतः प्रतिक्षेपोऽग्रे विधास्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

इदानीं द्वितीयं प्रमाणप्रकारं '**परोक्षं शेषम्**' इत्यनेन प्ररूपयति। यत् तद्विशद-स्वरूपाज्ञानात् शेषमविशदस्वभावं ज्ञानं तत् परोक्षम्[8]। किंविशिष्टं तत्? इत्याह–**विज्ञा-** १०
नम्[9] इति। अस्य[10] च व्याख्यानं पूर्वमिव[11] अत्रापि द्रष्टव्यम्। तथा च प्रमाणविशेषलक्षणस्य द्विप्रकारस्यैव प्रसिद्धेः द्वे एव प्रमाणे प्रसिद्धे, सकलतद्व्यक्तिभेदानामत्रैवान्तर्भावादिति दर्शयन्नाह-**प्रमाणे इति संग्रहः** इति 'द्वे एव प्रमाणे' इत्येवं संग्रहः सकलशास्त्रार्थस्येति।

तत्र प्रमाणस्य यज्ज्ञानमिति सामान्यलक्षणं कृतं तत् '**सन्निकर्षादेः**' इत्यादिना समर्थयते। **सन्निकर्षः** इन्द्रियार्थसम्बन्धः[12], **स आदिर्यस्य कार-** १५
विवृतिव्याख्यानम्– **कसाकल्येन्द्रियवृत्त्यादेः**। कथंभूतस्य? **अज्ञानस्य** अचेतनस्य **प्रामाण्यमनुपपन्नम्**। कस्येव? **अर्थान्तरवत्, अर्थः सन्नि-**

१–**परस्वरूप**–ब०। २ विभ्रमैकान्तवादिनः। ३ **वा नाना** भां०। ४ वेदान्तिनो द्रव्यमात्रवादिनः। ५ बौद्धाः पर्यायमात्रवादिनः। ६–**स्यान्योन्यतरमात्रस्यअ**–ब०, ज०। ७ विभिन्नोभयवादिनो यौगाः। ८–**रूपज्ञानात्**–ब०, ज०। ९ "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥ ५९ ॥ प्रव० सार पृ० ७५। पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।" सर्वार्थसि० पृ० ५९। "उपात्ताऽनुपात्तपराधान्यादवगमः परोक्षम्।" तत्त्वार्थरा० वा० पृ० ३८। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैः इन्द्रियादिभिः ऊक्ष्यते सिच्यते अभिवर्ध्यत इति परोक्षम्।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्।" प्रमाणप० पृ० ६९। "परोक्षमितरत्।" परीक्षामुख ३।१। "भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्।" पञ्चाध्यायी श्लो० ६९६। "इतरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेच्छया।" न्यायाव० श्लो० ४। "अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेणं। तेहिं तो जं णाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥९०॥" विशेषाव० भा०। "अविशदमविसंवादिज्ञानं परोक्षम्।" सन्मति० टी० पृ० ५९५। "अस्पष्टं परोक्षम्।" प्रमाण० त० ३।१। प्रमाणमी० ३।१। "अक्षाणां परं परोक्षम्, अक्षेभ्यः परतो वर्त्तत इति वा, परेण इन्द्रियादिना वा ऊक्ष्यते परोक्षम्।" षडद० टी० पृ० ५४। १० विज्ञानशब्दस्य। ११ **पूर्वमेव** ज०। १२–**क्षः आ**–भां०।

कर्षादिः, तस्मादन्यः प्रमेयो घटादिः तदन्तरम् तस्येव तद्वत्। ननु प्रमाणत्वञ्च स्यात् अज्ञानत्वञ्च विरोधाऽभावात्, अतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकत्वम्; इत्यनुपपन्नम्; अज्ञानविरोधिना ज्ञानत्वेन प्रमाणत्वस्य व्याप्तत्वात् तत्र तद्विरोधसिद्धेः। प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते अव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत् प्रमाणम्, तत्कथमज्ञानरूपंसन्निकर्षादिस्वभावं घटेत ? न खलु सन्निकर्षादिना किञ्चिन्मीयते, ज्ञानकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। अतो 'ज्ञानमेव प्रमाणम्' इति उपपत्तिचक्षुषाऽभ्युपगन्तव्यम्।

सन्निकर्षवादे यौगस्य पूर्वपक्षः—

स्यान्मतिरेषा ते—'ज्ञानमेव प्रमाणम्' इत्यवधारणमनुपपन्नम्, अज्ञानरूपस्यापि सन्निकर्षादेः प्रमाजनकत्वेन प्रमाणत्वोपपत्तेः; तथा हि—"*प्रमाजनकं प्रमाणम्*" [ ] इति सूत्रं व्याचक्षाणेन भाष्यकारेण "*उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि*" [न्यायभा० पृ० १८] इत्युक्तम्। तत्र व्याख्यातॄणां मतभेदः—केचित् "*सन्निकर्षः अर्थोपलब्धौ साधकतमत्वात् प्रमाणम्*" [ ] इति प्रतिपन्नाः, अन्ये तु कारकसाकल्यम्। तत्राद्यमतं तावत् समर्थ्यते। तत्र हि सन्निकर्ष एव अर्थोपलब्धौ साधकतमत्वात् प्रमाणम्। साधकतमत्वं हि प्रमाणत्वेन व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा, संशयादिवत् प्रमेयार्थवच्च। तच्च अर्थोपलब्धौ सन्निकर्षस्यास्येव। नह्यसन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति" सर्वस्य सर्वत्रार्थे तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तत्सद्भावावेदकश्च प्रमाणं व्यवहितार्थानुपलब्धिरेव। यदि ह्यसन्निकृष्टमप्यर्थं चक्षुरादीन्द्रियं गृह्णीयात्, तर्हि व्यवहितमपि किन्न गृह्णीयाद् अविशेषात् ?

किञ्च, इन्द्रियं कारकम्, कारकञ्चासन्निकृष्टं न फलप्रादुर्भावाय प्रभवति; तथा हि—इन्द्रियं नाऽसन्निकृष्टेऽर्थे फलमुत्पादयति कारकत्वात् वास्यादिवत्। स्पर्शनादीन्द्रिये च प्राप्यकारित्वं सुस्पष्टम्, तत्साधर्म्यादिन्द्रियान्तरेष्वपि तत् कल्प्यताम् अविशेषात्। स चैवं प्रसिद्धस्वरूपः स-

---

१ प्रमाणे। २ अज्ञानेन सह। ३—सिद्धिः आ०। ४—रूपं—ज०। ५ सूत्रमिदम् उपलब्धगौतमीयसूत्रपाठे नोपलभ्यते। ६ वात्स्यायनेन। ७ न्यायवार्तिककृतः उद्योतकराचार्याः—"उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्···यदुपलब्धिनिमितं तत् प्रमाणम्।···अकरणा प्रमाणोत्पत्तिः इतिचेत्,···न; इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावात्···साधकतमत्वाद्वा न प्रसङ्गः।" न्यायवा० पृ० ५-६। ८ न्यायमञ्जरीकृतो जयन्तभट्टाः। ९ "तदेवं ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्···" न्यायवा० ता० टी० पृ० २२। १० साधकतमत्वम्। ११—ति सर्वत्रा—आ०, ब०, ज०। १२ तद्भावा—भां०। १३ "कुड्यान्तरिताऽनुपलब्धेरप्रतिषेधः।" न्यायसू० १।१।४५। "अप्राप्यकारित्वे सति इन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्याऽनुपलब्धिर्न स्यात्।" न्यायभा० पृ० २५५। "ननु सन्निकर्षावगमे किं प्रमाणम्? व्यवहिताऽनुपलब्धिः इति ब्रूमः। यदि हि असन्निकृष्टमपि चक्षुरादीन्द्रियम् अर्थं गृह्णीयाद् व्यवहितोऽपि ततोऽर्थ उपलभ्येत।" न्यायमं० पृ० ७३। १४ "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात्। संसृष्टञ्च कारकं फलाय कल्पते इति कल्पनीयः संसर्गः।···'कारकञ्च अप्राप्यकारि च' इति चित्रम्।" न्यायमं० पृ० ७३ तथा ४७९।

न्निकर्षः षट्प्रकारो भवति–संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, सम्बद्धविशेषणीभावश्चेति । तत्र चक्षुषो द्रव्येण संयोगः, तत्समवेतैर्गुणकर्मसामान्यैः संयुक्तसमवायः, गुणकर्मसमवेतैः सामान्यैः संयुक्तसमवेतसमवायः, श्रोत्रस्य शब्देन समवायः, शब्दत्वेन समवेतसमवायः, घटाद्यभावेन समवायेन च सम्बद्धविशेषणीभाव इति । प्रत्यक्षञ्चोत्पद्यमानं चतुस्त्रिद्विसन्निकर्षादुत्पद्यते, तत्र बाह्ये रूपादौ चतुःसन्निकर्षादेव प्रत्यक्षमुत्पद्यते–आत्मा हि मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षादेव तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनां द्वयोरेवात्ममनसोः सन्निकर्षादिति । ५

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–'सन्निकर्ष एव साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; तस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वाऽसंभवात् । यद्-

सन्निकर्षस्य प्रतिविधानम्– भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाऽभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम् । १०

"भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्" [ ] इत्यभिधानात् ।

न चैतत् सन्निकर्षे सम्भवति, तस्मिन् सत्यपि क्वचित् प्रमित्यनुपपत्तेः, आकाशादिना हि घटवत् चक्षुषः संयोगो विद्यते, न चासौ तत्र प्रमितिमुत्पादयति । न चाकाशघटयोश्चक्षुषा संयोगाविशेषेऽपि प्रमितेर्विशेषो युक्तः; तस्याः तद्धेतुकत्वाभावानुषङ्गात् । यदविशेषेऽपि यद्

---

१ "सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते···" न्यायवा० पृ० ३१ । न्यायमं० पृ० ७२ । प्रशस्त० क० पृ० १९५ । २ तत्रसम–भां० । ३ गुणत्वकर्मत्वादिभिः । ४ कर्णविवरवर्त्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् शब्दस्य च आकाशगुणत्वेन तत्र समवायात् । ५ 'घटाऽभाववद्भूतलम्' इत्यत्र चक्षुषा संयुक्तं भूतलम्, तद्विशेषणीभूतश्च अभावः इति । ६–"समवायेऽभावे च विशेषणविशेष्यभावात्" न्यायवा० पृ० ३१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १११ । "एतेन समवायेऽपि प्रत्यक्षत्वं प्रकाशितम्, इहेति तन्तुसम्बद्धपटप्रत्ययदर्शनात् ।" न्यायमं० पृ० ८४ । –इत्यादिना नैयायिकमतेऽस्ति समवायस्य प्रत्यक्षता । वैशेषिकसिद्धान्ते तु–"अतएव अतीन्द्रियः" प्रशस्तपा० भा० ३२९ । वैशे० उप० पृ० २९६ । –इत्यादिना समवायस्य अतीन्द्रियत्वमेव । "सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, समवायस्य एकतया एकदा भाविभूतसकलाश्रयव्यक्तीनां ज्ञानाऽसंभवात् ।" मुक्ता० दिन० रामरुद्री पृ० २६१ । ७ "द्रव्ये तावत् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्·····शब्दस्य त्रयसन्निकर्षात् श्रोत्रसमवेतस्य तेनैव उपलब्धिः·····बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः···" प्रशस्त० भा० पृ० १८७ । न्यायमं० पृ० ७४ । ८ पृ० २८ पं० १३ । ९–वे प्र–आ०, ब०, ज० । "यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे च अभाववत्ता·····" । अष्टसह० पृ० २७६ । प्रमाणप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० ४ उ० । १० "कः खलु साधकतमार्थः···भावाऽभावयोस्तद्वत्ता ।" न्यायवा० पृ० ६ । ११–पत्तिः आ० । १२ "क्षितिद्रव्येण संयोगो नयनादेर्यथैव हि । तस्य व्योमादिनाप्यस्ति न च तज्ज्ञानकारणम् ॥ १२४ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८ । "न हि चक्षुषा घटवदाकाशे संयोगो विद्यमानोऽपि प्रमित्युत्पादकः·····" इत्यादिसर्वम् अनयैवाऽऽनुपूर्व्या (प्रमेयक० पृ० ४–५, स्या० रत्ना० पृ० ५४–६१) चर्चितम् । १३ प्रमितेः । १४ चक्षुःसंयोगहेतुकत्व ।

विशिष्यते न तत् तद्धेतुकम् यथा परमाणोरविशेषेऽपि विशिष्यमाणौ घटपटौ, सन्निकर्षाविशेषेऽपि विशिष्यते च प्रमितिरिति। तस्माद् यद् यत्रोत्पन्नमव्यवधानेन फलमुत्पादयति तदेव तत्र साधकतमम् यथा अपवरकान्तर्वर्तिपदार्थप्रकाशे प्रदीपः, अव्यवधानेन प्रमितिमुत्पादयति च उत्पन्नं स्वविषये विज्ञानम्, तस्मात्तदेव तत्र साधकतमम्। तस्माच्च प्रमाणम्, न पुनः सन्निकर्षो विपर्ययात्[5]।

किञ्च, सन्निकर्षमात्रमत्र प्रमाणम्, तद्विशेषो वा ? न तावत् सन्निकर्षमात्रम्; संशयादावप्यस्याऽविशेषतः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। विशिष्टश्चेत्[7]; किमिदं तस्य वैशिष्ट्यं[8] नाम-विशिष्टकारणादात्मलाभः, विशिष्टप्रमोत्पादकत्वं वा ? प्रथमपक्षे घटादिवदाकाशेऽप्यस्य[9] प्रामाण्यप्रसङ्गः, विशिष्टकारणादात्मलाभस्योभयत्राविशेषात्। तदविशेषे चासौ[10] कथं घटाद्यर्थ एव वैशिष्ट्यं प्रामाण्यं वा स्वीकुर्यान्नाकाशे ? द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; विशिष्टप्रमोत्पादकत्वस्य सन्निकर्षे प्रमितिं प्रति साधकतमत्वाभावतोऽसिद्धेः, तदभावश्चानन्तरमेव प्रतिपादितः[11]। सिद्धौ वा कथमाकाशादिपरिहारेण घटादावेवास्य तत्[12] स्यात् ? उभयत्राप्यविशेषेणासौ प्रमामुत्पादयेत् नैकत्रापि वा।

ननु आकाशादावेवासौ प्रमां नोत्पादयति योग्यर्तायाः अभावात्, न घटादौ विपर्ययात्। ननु केयं योग्यता नाम–शक्तिः[10], प्रतिपत्तुः प्रतिबन्धापायो वा। शक्तिश्चेत्[11]; किमतीन्द्रिया, सहकारिसन्निधिलक्षणा वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्[13]। द्वितीयपक्षे तु कारकसाकल्यपक्षभाव्यशेषदोषानुषङ्गः, सहकारिसान्निध्यस्य कारकसाकल्यस्वरूपानतिक्रमात्। सहकारिकारणञ्च विषयगतातिशयविशेषः, करणपाटवम्, धर्मविशेषः, अधर्मप्रक्षयः, द्रव्यम्, गुणः, कर्म वा स्यात्। यदि विषयगतातिशयविशेषः; किं[12] रूपादिसमवायः, दृश्यता वा ? न तावद्रूपादिसमवायः; अस्य प्रमोत्पत्तिं प्रत्यकारणत्वात्। कथमन्यथा गुणकर्मसामान्येषु तद्रहितेषु प्रमोत्पत्तिः स्यात् ? कथं वा परमाणौ तदुत्पत्तिर्न स्यात् तत्र तत्समवायसंभवात्[14] ? "*महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपाविशेषाच्च रूपोपलब्धिः*" [वैशे० सू० ४।१।६] इत्यभ्युपगमेऽपि नेत्रमला-

---

१ तस्मात्तत्प्र–ब०, ज०। २ साधकतमत्वाऽभावात्। ३–ष्ट्यं वि–आ०, ब०, ज०। ४ सन्निकर्षस्य। ५–सौ घ–ब०, ज०। ६ प्रमितिं प्रति साधकतमत्वाभावः। ७ विशिष्टप्रमोत्पादकत्वं। ८ योग्यता भा–भां०, ब०, ज०। "ननु नभसि नयनसन्निकर्षस्य योग्यताविरहात् न संवेदननिमित्तता इत्यपि न साधीयः; तद्योग्यताया एव साधकतमत्वाऽनुषङ्गात्। का चेयं सन्निकर्षस्य योग्यता नाम ?..." प्रमाणपरी० पृ० ५१। ९ विपर्यासात् भां०। १०–क्तिः प्रतिब–आ०, ब०, ज०। ११ "स्वरूपादुद्भवत् कार्यं सहकार्युपबृंहितात्। न हि कल्पयितुं शक्तं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥" (न्यायमं० पृ० ४१) इत्यादिना नैयायिकमते स्वरूपसहकारिरूपैव शक्तिः स्वीकृता। १२ किंचित् रू–आ०। १३ प्रमोत्पत्तिः। १४ रूपादिसमवाय। तत्र सम–भा०। १५–द्रव्यवत्त्वा–भां०। वैशेषिकदर्शने तु–"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" "अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः" (४।१।६, ८) इति द्वे

जनादौ प्रमोत्पत्तिप्रसङ्गः तदविशेषात्। अथ दृश्यता; सा आकाशादावस्त्येव, कथमन्यथा अस्येश्वरप्रत्यक्षता ? करणानाञ्च पाटवम् काचकामलाद्यनुपहतत्वम्, आलोकादिसहकृतत्वं वा ? द्वयमपि आकाशादौ संभवत्येव। धर्मविशेषोऽपि आकाशादिना चक्षुषः संयोगे सहकार्यस्त्येव। न खलु तस्य तेन विरोधः; येन तत्सद्भावे धर्मविशेषस्यानुत्पत्तिः प्रध्वंसो वा स्यात्, विरोधे वा न घटाद्युपलम्भः कदाचिदपि स्यात् तदुत्पत्तौ धर्मविशेषस्य सहकारिणो विरोध्याकाशादिसंयोगसद्भावतोऽसंभवात्। अधर्मप्रक्षयस्तु प्रतिबन्धकापाय एव, तस्य च ज्ञानहेतुत्वे सर्वं सुस्थम् तस्यैव प्रमां प्रति नियामकत्वोपपत्तेः। द्रव्यमपि नित्यव्यापिस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा सन्निकर्षस्य सहकारि स्यात् ? नित्यव्यापिस्वरूपश्चेत्; तत् नयननभःसन्निकर्षेप्यस्त्येव, अन्यथा कथं दिक्कालाकाशात्मनां नित्यव्यापिद्रव्यस्वरूपता ? अनित्याऽव्यापिस्वरूपश्चेत्; तत् मनः, नयनम्, आलोको वा स्यात् ? त्रितयमपि आकाशादिनेन्द्रियसन्निकर्षे संभवत्येव घटादिवत्। गुणोऽपि प्रमेयगतः, प्रमातृगतः, उभयगतो वा तत्सहकारी स्यात् ? प्रमेयगतश्चेत्; किन्नाकाशस्य प्रत्यक्षता गुणसद्भावाविशेषात् ? निर्गुणत्वे अस्य द्रव्यत्वानुपपत्तिः, गुणवत्त्वलक्षणत्वाद् द्रव्यस्य। अरूपित्वाच्चास्याऽप्रत्यक्षत्वे सामान्यादेरप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। प्रमातृगतोपि अदृष्टः, अन्यो वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव। उभयगतपक्षेपि उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः। कर्मापि अर्थगतम्, इन्द्रियगतं वा तत्सहकारि स्यात् ? न तावदर्थगतम्; प्रमोत्पत्तौ तस्यानङ्गत्वात्, कथमन्यथा स्थिरार्थानामुपलब्धिः ? इन्द्रियगतं तु तत् तत्रास्त्येव, आकाशेन्द्रियसन्निकर्षे नयनोन्मीलनादिकर्मणः सद्भावात्। तस्मात् प्रतिपत्तुः प्रतिबन्धापायरूपैव योग्यता उररीकर्त्तव्या, तत्रैवोक्ताशेषदोषाणामसंभवात्। यस्य यत्र यथाविधो हि प्रतिबन्धापायः, तस्य तत्र तथाविधाऽर्थपरिच्छित्तिरुत्पद्यते। प्रतिबन्धापायश्च मोक्षविचारावसरे प्रसाधयिष्यते। न चैवं योग्यताया एवार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वतः प्रमाणत्वात् 'ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रतिज्ञा विरुद्ध्यते; अस्याः स्वार्थग्रहणशक्तिस्वभावायाः स्वार्थावभासिज्ञानलक्षणप्रमाणसामग्रीत्वतः तदुत्पत्तावेव साधकतमत्वोपपत्तेः।

चक्षुषश्च अप्राप्यकारित्वेन प्रसाधयिष्यमाणत्वान्न घटादिना संयोगः, तदभावान्न रूपादिना

सूत्रे। सन्मति० टी० पृ० १००, स्या० रत्नाकर पृ० ५६ इत्यादौ तु वैशेषिकसूत्रसम्मत एव पाठः। प्रमेयकमलमार्त्तण्डे (पृ० ७५ पू०) तु ग्रन्थोक्त एव पाठः।

१ धर्मविशेषस्य। २ आकाशादिना चक्षुःसंयोगेन। ३-नुपपत्तिः आ०, ब०, ज०। ४ दिक्कालात्मनाम् आ०, भां। 'दिक्कालाकाशात्मनाम्' प्रमेयक० पृ० ५ उ०। ५-शादिसन्नि-ब०, ज०। ६-पत्तेः ब०, ज०। ७ "क्रियागुणवत् समवायिकारणम् इति द्रव्यलक्षणम्।" वैशे० सू० १।१।१५। ८ आकाशस्य। ९ इच्छादिः। १०-कर्षेण न-ब०, ज०। ११-पत्तृ प्रति-ब०, ज०। १२ योग्यतायाः। १३ प्रमाणोत्पत्तावेव। १४-त्वेनसाध-भां०।

संयुक्तसमवायादिः । संयुक्तसमवायाच्च चक्षुषो रूपवत् शब्दरसादौ, दिवाकररूपवत् तत्कर्मण्यपि च ज्ञानमुत्पद्येत अविशेषात् । संयुक्तसमवेतसमवायाच्च रूपत्ववद् रसत्वादौ, समवायात् शब्दवत् नभोमहत्त्वादौ, समवेतसमवायात् शब्दत्ववत् महापरिमाणत्वादौ । योग्यतामभ्युपगमे सैव नियामिकाऽस्तु अलं सन्निकर्षषट्कोद्घोषणेन । सम्बद्धविशेषणीभावस्तु संयोगादिसम्बन्धाऽसंभवादेव प्रत्युक्तः । न हि सम्बन्धान्तरेणाऽसम्बद्धे वस्तुनि सं घटते सह्यविन्ध्यवत् ।

एतेन 'असन्निकृष्टस्य ग्रहणे सर्वस्य सर्वत्रार्थे ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्' इति प्रत्युक्तम्; योग्यस्यैव ग्रहणात् । कथमन्यथा सन्निकृष्टे सर्वत्राप्यर्थे ज्ञानं नोत्पद्येत ? ततो यस्मिन् सत्यपि यन्नोत्पद्यते न तत् तद्धेतुकम् यथा विद्यमानेऽपि यवबीजेऽनुत्पद्यमानो गोधूमाङ्कुरः, विद्यमानेऽपि सन्निकर्षे नोत्पद्यते चार्थपरिच्छित्तिरिति ।

यदपि 'सन्निकर्षसद्भावे प्रमाणं व्यवहितार्थानुपलब्धिरेव' इत्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; असिद्धत्वात्तस्याः, काचाभ्रपटलस्फटिकस्वच्छोदकादिव्यवहितानामप्यर्थानामुपलब्धेः । यदपि 'कारकत्वात्' इत्यादि तत्प्राप्यकारित्वे साधनमुक्तम्; तदपि चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रसाधनप्रस्तावे प्रतिविधास्यते । अतः 'प्रत्यक्षञ्चोत्पद्यमानं चतुः-त्रि-द्विसन्निकर्षादुत्पद्यते' इत्यादि, वन्ध्यासुतसौभाग्यत्वादिव्यावर्णनप्रख्यं प्रतिभासते सन्निकर्षस्याऽसंभवे । संभवे वा असाधकतमत्वे तँतँस्तथा प्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः ।

कथञ्च सन्निकर्षप्रामाण्याभ्युपगमे सर्वज्ञत्वार्त्तापि स्यात् ? तद्विज्ञानं हि मानसमिन्द्रियजं वा चतुस्त्रिद्विसन्निकर्षाद् वर्त्तमानेष्वेवार्थेषु स्यात् नातीतानागतेषु, तेषामसत्त्वे तत्र तद्धेतोः सन्निकर्षस्य सत्त्वविरोधात् । यदसन् न तत्र ज्ञानहेतुः सन्निकर्षोस्ति यथा खरविषाणादौ, न सन्ति च अतीतानागता वर्त्तमानार्थज्ञानोत्पत्तिसमये भावा इति । अथ यदा ते भविष्यन्ति तदा तत्सन्निकर्षात् तत्र ज्ञानमुत्पत्स्यते; कथमेवमनन्तेनापि कालेन ईश्वरस्याऽशेषज्ञता स्यात् ? वर्त्तमानाशेषार्थग्रहणादस्याशेषज्ञताभ्युपगमेऽपि, कथं तदुपदेशस्य अनागतेऽर्थे प्रामाण्यं स्यात्

१-वायत्वम् च ज० । २-वद् रसादौ-भां० । ३ दिनकर-भां० । ४ कर्मणोऽपि भां० । ५ 'ज्ञानमुत्पद्येत अविशेषात्' इति पूर्वेण अन्वयः । ६ "योग्याऽयोग्यत्वकृतग्रहणाऽग्रहणनियमवादे वा योग्यतैव सन्निकर्षो भवतु किं षट्कघोषणेन ?" न्यायमं० पृ० ४९ । ७-षट्कोषणेन-आ०, ब०, ज० । ८ सम्बन्धमन्तरेण-आ० । ९ सम्बद्धविशेषणीभावः । १०-द्यते भां० । ११ पृ० २८ पं० १६ । इत्युक्तमसि-आ०, ब०, ज० । १२-भ्रक प-भां० । १३-पि बोधकत्वात् इ-भां० । १४ पृ० २८ पं० १८ । १५-र्षादित्यादि ब०, ज० । १६-सुतभाग्यव्याव-भां० । सौभाग्यव्याव-ब०, ज० । १७ सन्निकर्षात् । १८-क्षानुप-भां० । १९ "यदि सन्निकर्षः प्रमाणं सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसङ्गः·····अतः सर्वज्ञत्वाऽभावः स्यात् ।" सर्वार्थसि० पृ० ५७ । "सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावः तदभावात् ।" तत्त्वार्थराज० पृ० ३६ । २० अतीतानागतादौ २१ तद्विज्ञानहेतोः । २२-स्य विरो-आ० ।

यतस्तदर्थिनां तदुपदेशात्तत्र प्रवृत्तिः स्यात् ? नित्यत्वात्तज्ज्ञानस्यायमदोषः; इत्यप्यसमीचीनम्; तन्नित्यत्वस्येश्वरनिराकरणावसरे निराकरिष्यमाणत्वात्।

कथञ्चैवं वादिनः[1] साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सिद्ध्येत् यतोऽनुमानं स्यात्, इन्द्रियप्रत्यक्षस्येव मानसप्रत्यक्षस्यापि सन्निकृष्टेष्वेवार्थेषु प्रवृत्तेः, व्याप्तिश्चानियतदेशकाला इति कथं सन्निकर्षप्रभवप्रत्यक्षात् प्रतीयेत ? ननु सामान्येन व्याप्तिः, तत्र च तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य[3] सामर्थ्यसंभवात् कथन्नातस्तत्सिद्धिः[4] ? इत्यप्यसांप्रतम्; सामान्येन व्याप्तेः व्याप्तिविचारप्रघट्टके निराकरिष्यमाणत्वात्। तन्न सन्निकर्षस्याज्ञानात्मनोऽनुपचरितं प्रामाण्यं घटते, नापि कारकसाकल्यस्य।

कारकसाकल्यापरनामिकां सामग्रीं प्रमाणयतो भट्टजयन्तस्य पूर्वपक्षः।

अथ मतमेतत्–अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्[6]। न च सामग्र्याः कारककलापरूपत्वात्, तत्र च स्वरूपातिशयाभावान्न कस्यचित्साधकत्वमुपपद्यत इत्यभिधातव्यम्; कारकसाकल्यस्य करणताभ्युपगमे[7] साधकतमत्वस्योपपत्तेः। नह्येकस्य सामग्र्येकदेशस्य प्रदीपादेः क्वचित्कार्ये करणता प्रतीयते। किं तर्हि ? सामग्रीस्वरूपस्य कारकसाकल्यस्यैव; तच्च प्रमातृप्रमेयसद्भावे संपद्यते। अतः सामग्र्येकदेशकारकसद्भावेऽपि कार्यस्यानुत्पत्तेः नैकदेशस्य करणता, सामग्रीसद्भावेतु तस्यावश्यंभावेनोत्पत्तेः तस्या एव सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमत्वादुपपन्नं करणत्वम्। करणं च प्रमाणम्, करणसाधनत्वात् प्रमाणशब्दस्य। न च साकल्यव्यतिरेकेण कारकान्तरे साधकतमत्वं संभावयितुं शक्यम्। यदि हि तद्व्यतिरेकेणासकलावस्थायामपि क्वचित्कारके प्रमितिरवकल्प्येत, स्यात्तत्रापि साधकतमत्वात्करणत्वम्, न चासौ तत्रावकल्प्यते प्रतीतिविरोधात्, तस्मात् साकल्यमेव करणम्।

ननु करणं कर्तृकर्मापेक्षं भवति, कर्तृकर्मणोश्च सामग्र्यन्तः–पतितयोः स्वरूपप्रच्युतितः असंभवात् कथं तदपेक्षं साकल्यस्य करणत्वमिति ? तदविचारितरमणीयम्; साकल्यान्तर्गत-

---

१ अनागतेऽर्थे। २ सन्निकर्षवादिनः। ३–क्षसामर्थ्य–। ४ व्याप्तिसिद्धिः। ५ "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। बोधाऽबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्।" न्यायमं० पृ० १२। ६–णाभ्युभां०। ७ "यत एव साधकतमं करणं करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः, तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम्, तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि तमबर्थसंस्पर्शाऽनुपपत्तेः। अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानम् अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्। न च अतिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्···स च सामग्र्यन्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते। सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः; सन्निहिता चेत् सामग्री संपन्नमेव फलम् इति सैव अतिशयवती।" न्यायमं० पृ० १३। ८ "यत्तु किमपेक्षं सामग्र्याः करणत्वम् इति; 'तदन्तर्गतकारकापेक्षम्' इति ब्रूमः। कारकाणां धर्मः सामग्री न स्वरूपहानाय तेषां कल्पते साकल्यदशायामपि तत्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानात्·····तस्मात् अन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायमं० पृ० १४।

कारकापेक्षयैवास्य करणत्वोपपत्तेः। साकल्यं हि नाम कारकाणां धर्मः, न च स्वकीयो धर्मः स्वस्यैव स्वरूपापहाराय प्रभवति, साकल्यावस्थायामपि कारकस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न तत्रैषां स्वरूपप्रच्युतिः, तस्मात्तदन्तर्गतकारकापेक्षया लब्धकरणभावं साकल्यं प्रमाणम्, न तु ज्ञानं फलरूपत्वात्तस्य। फलस्य च प्रमाणतानुपपन्नैव; ततो भिन्नत्वात्तस्य, प्रमीयते हि येनार्थः तत्प्रमाणम् इति करणसाधने प्रमाणशब्दव्युत्पादनात् करणस्यैव तद्रूपतोपपन्ना। अथ व्यतिरिक्तफलजनकमपि ज्ञानमेव प्रमाणमुच्यते; तदयुक्तम्; सकललोकाङ्गीकृत-अज्ञानस्वभावस्य शब्दलिङ्गादेरप्रमाणता प्रसङ्गात्। ततो ज्ञानमपि सामग्र्यनुप्रविष्टमेव, विशेषणज्ञानमिव विशेष्यप्रत्यक्षे, लिङ्गज्ञानमिव लिङ्गिप्रतीतौ, सारूप्यदर्शनमिव उपमाने, शब्दज्ञानमिव तदर्थज्ञाने, प्रमाणत्वं प्रतिपद्यते। तस्मात् 'बोधाबोधस्वभावं कारकसाकल्यं प्रमाणम्' इत्ययमेव पक्षः प्रमाणोपपन्न इति।

कारकसाकल्यस्य प्रतिविधानम्

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'अव्यभिचारादिविशेषण' इत्यादि; तदयुक्तम्; यतो मुख्यतः, उपचारेण वा कारकसाकल्यस्य प्रामाण्यं स्यात्? मुख्योपचारभेदेन हि शब्दानां द्विविधा प्रवृत्तिः प्रतीयते, 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादिवत्। तत्र न तावन्मुख्यतः, अज्ञानरूपस्यास्य स्वपरप्रमितौ मुख्यतः साधकतमत्वाभावतो मुख्यतः प्रमाणत्वस्यानुपपत्तेः। तत्प्रमितौ मुख्यतः साधकतमत्वं

१ तत्र तेषां—भां०। २ "बोधः खलु प्रमाणस्य फलं न साक्षात् प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १५। ३ प्रमाणतः। ४ फलस्य। ५-साधन प्रमाण-आ०। ६ "सकलजगद्विदितबोधेतरस्वभावशब्दलिङ्गदीपेन्द्रियादिपरिहारप्रसङ्गात्।" न्यायमं० पृ० १५। ७-स्वरूपभावस्य-ब०। ८ "तस्मात् सामग्र्यनुप्रविष्टबोधो विशेषणज्ञानमिव क्वचित् प्रत्यक्षे लिङ्गज्ञानमिव लिङ्गिप्रमितौ सारूप्यदर्शनमिव उपमाने शब्दश्रवणमिव तदर्थज्ञाने प्रमाणतां प्रतिपद्यते। अतएव बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" न्यायमं० पृ० १५। ९ इदं सामग्रीप्रमाणवादिजयन्तमतम् अनयैव प्रक्रियया सन्मतिटीकायां (पृ० ४७१-७२) स्या० रत्नाकरे च (पृ० ६२-६४) वर्त्तते। स्या० रत्नाकरे तु-"तत्राऽसन्दिग्धनिर्बाधवस्तुबोधविधायिनी। सामग्री चिदचिद्रूपाप्रमाणमभिधीयते ॥ १ ॥ फलोत्पादाऽविनाभावि स्वभावाऽव्यभिचारि यत्। तत्साधकतमं युक्तं साकल्यान्न परं च तत् ॥ २ ॥ साकल्यात् सदसद्भावे निमित्तं कर्तृकर्मणोः। गौणमुख्यत्वमित्येवं न ताभ्यां व्यभिचारिता ॥ ३ ॥ संहन्यमानहानेन संहतेरनुपग्रहात्। सामग्र्या पश्यतीत्येवं व्यपदेशो न दृश्यते ॥ ४ ॥ लोचनालोकलिङ्गादेर्निर्देशो यः तृतीयया। स तद्रूपसमारोपादुषया पचतीति वत् ॥ ५ ॥ तदन्तर्गतकर्मादिकारकापेक्षया च सा। करणं कारकाणां हि धर्मोऽसौ न स्वरूपवत् ॥ ६ ॥ सामग्र्यन्तःप्रवेशेऽपि स्वरूपं कर्तृकर्मणोः। फलवत् प्रतिभातीति न चतुष्टं विनङ्क्ष्यति ॥ ७ ॥ इति।" एते सप्तश्लोकाः भट्टजयन्तकर्त्तृकपल्लवगताः समुद्धृताः, परं च मुद्रितन्यायमञ्जर्यां ते नोपलभ्यन्ते। न्यायमञ्जर्यां (पृ० १५) कर्त्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्' इत्यपरोऽपि प्रकारः सामग्र्याः प्रदर्शितः। १० "तस्य तत्त्वं गौणं मुख्यं वा स्यात्? नतावद्गौणम्" न्यायविनि० वि० पृ० २९ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ६६। ११-त्य प्रा-भां। १२ "अभिधानधर्मो द्वेधाऽभिधीयते प्रधानं भाक्तश्च।" न्याय वा० पृ० १७७। १३ स्वपरप्रमितौ।

हि अज्ञानविरोधिना ज्ञाननैव व्याप्तम् तत्रास्य[1] अपरेणाव्यवधानात्। साकल्यस्य तु ज्ञानेन व्यवधानान्न तन्मुख्यम्; प्रयोगः-यद्[2] यत्र अपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधकतमव्यपदेशमर्हति यथा छिदिक्रियायां कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः, स्वपरप्रमितौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पितं साकल्यमिति। उपचारेण तत्प्रामाण्याभ्युपगमे[3] तु न किञ्चिदनिष्टम्, मुख्यरूपतया हि स्वपरप्रमितौ साधकतमस्य[4] ज्ञानस्य उत्पादकत्वात्तस्यापि साधकतमत्वम्, ५
तस्माच्च प्रमाणत्वम्, कारणे कार्योपचारात् 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादिवत्।

किञ्च तमग्रहणस्य[7] प्रकर्षोऽर्थः, प्रकर्षश्च अपकृष्टसव्यपेक्षः, अतो यावन्न पृथक् साधकं साधकतरं वाऽवस्थितम्, न तावत्साधकतमत्वं वक्तुं शक्यते तदपेक्षत्वात्तस्य। सामग्री च अनेककारकस्वभावा, अनेककारकसमुदाये च न कस्यचित् स्वरूपातिशयः शक्यते वक्तुम्, सर्वेषामभिप्रेतकार्यं प्रति व्यापाराऽविशेषात्। कर्तृ-कर्म-करणसन्निधौ हि समुत्पद्यमानं प्रती- १०
यते कार्यम्, तदभावे चानुत्पद्यमानं तत्कथं कस्यचिदतिशयो निर्देष्टुं[8] शक्यते? निःशेषविवक्षायां च अपेक्षणीयस्याभावात् कथं साधकतमत्वम्? सकलकारककलापरूपा किल सामग्री, तस्याः किमपेक्षं[9][11] साधकतमत्वम्? अपेक्षणीयसद्भावे[12] वा न तद्रूपता[13] अस्याः स्यात्।

किञ्च इदं साधकतमत्वं विवक्षातः कस्यचित्स्यात्, सन्निपत्य कार्यजननात्, सहसा कार्योत्पादनाद्वा? तत्र यद्यपि अनेककारकजन्यं कार्यम् तथापि विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तिः, १५
इति कस्यचिदेव साधकतमत्वं विवक्ष्यते[14] इति चेत्; ननु विवक्षा पुरुषेच्छा, नचासति वैलक्षण्ये[15] तन्निबन्धनो[16] वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अथ सन्निपत्यकार्यजननम्[17], तदपि ज्ञाने कर्त्तव्ये सर्वेषामिन्द्रियमनोऽर्थादीनां तुल्यम्, कस्यचिदपि असन्निपत्यजनकत्वाभावात्, इतरेतरसंसर्गे सत्येवास्योत्पत्तेः।

नापि सहैव[18] कार्योत्पादकत्वं साधकतमत्वम्, कर्मण्यपि अस्य गतत्वात्। सीमन्तिनी- २०
समुदाये हि अद्भुतरूपा सीमन्तिनी झटित्यात्मविषयं विज्ञानमुत्पादयति।

---

१ ज्ञानस्य। २ साधकतमत्वं। ३ "यद् यत्र अपरेण व्यवहितम्"...प्रमेयक० पृ० ३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ६६। ४-गमे न-आ, ब०, ज०। ५-तमज्ञानस्य ब०। ६ साकल्यस्यापि। ७ प्रगहणस्य-ज०। ननु साधकाद्यपेक्षया साधकतमं भवति अतिशयनस्य एवं रूपत्वात् तदर्थत्वाच्च तमप्रत्ययस्य। तत् किमिदानीं साधकादिकं यदपेक्ष्यं स्यात्।" न्यायवि० वि० पृ० २९ पू०। ८-चाव-भां०। ९ अर्थपरिच्छित्तिलक्षण। १० शक्येत् भां०। ११-पेक्ष्य-ब०, ज०। १२-वा तद्रूपता स्यात्-भां०। १३ साधकतमरूपता। १४-ते चेत्-ब०, ज०, भां०। १५ वैलक्ष्ये आ०। १६-नाव्य-भां०। १७ "सन्निपत्यजनकत्वम् अतिशय इतिचेन्न; आरादुपकारकाणामपि कारकत्वाऽनपायात्। ज्ञाने च जन्ये किमसन्निपत्यजनकम्? सर्वेषामिन्द्रियमनोऽर्थादीनाम् इतरेतरसंसर्गे सति ज्ञाननिष्पत्तेः।" न्यायमं० पृ० १३। १८ सहैव कार्योत्पादकत्वं कर्मण्यस्य-भां०। "अथ सहसैव कार्यजननमतिशयः; सोऽपि कस्याश्चिदवस्थायां करणस्येव कर्मणोऽपि शक्यते वक्तुम्।...एव-

यदप्युक्तम्–'न ह्येकदेशस्य दीपादेः करणता' इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; प्रतीतिबाधितत्वात्। नै हि कश्चिल्लौकिकः परीक्षको वा सामग्र्याः करणत्वं प्रतिपद्यते, 'सामग्र्या पश्यामः' इति तस्याः करणविभक्त्या निर्देशप्रसङ्गात्। न चैवं कश्चिदपि निर्दिशति 'दीपेन पश्यामः, चक्षुषा निरीक्षामहे' इति तदेकदेशानामेव तन्निर्देशप्रतीतेः। किञ्च, करणमिति योऽयं व्यपदेशः स कर्तृकर्मापेक्षः, कर्त्रा कार्ये व्यापार्यमाणस्य कारकविशेषस्य करणत्वप्रतीतेः कुठारादिवत्।

सामग्र्याश्च करणत्वे कर्तृकर्मणी तदन्तर्गते, ततोऽर्थान्तरभूते वा स्याताम्? प्रथमपक्षे सामग्रीस्वरूपादभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत् तैयोः करणतैवोपपन्ना। नैंच करणरूपतायामपि अनयोः कर्तृकर्मरूपता युक्ता परस्परविरोधात्। कर्तृतां हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारतेष्यते, निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्, करणत्वं तु साधकतमत्वम् इत्येषां कथमेकत्र संभवः? विषयाभावे च निरालम्बनाः सर्वाः संविदः प्रसज्यन्ते, चक्षुरादिवत् आलम्बनकारकस्य प्रमाणान्तःपातित्वात्। कश्चेदानीं सामग्र्या प्रमेयं प्रमिमीते? प्रमातुरपि अस्यामेवान्तर्लीनत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सकलकारकव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतयोः कर्तृकर्मणोरभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम्। कार्योत्पत्तौ हि यावतामुपयोगः ते सकलशब्दवाच्याः, कर्तृकर्मणोश्च व्यतिरेके कथं परिशिष्टानां सकलत्वम्?

यच्चान्यदुक्तम्–'साकल्यान्तर्गतकारकापेक्षयैवास्य करणत्वोपपत्तेः' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यैंतः पृथगवस्थापेक्षाणि कारकाणि कर्मादिभावं भजन्ते, समुदायावस्थापेक्षाणि तु करणभावं। तथा च यैदा कर्मादिता न तैदा करणता, यदा तु सैा, न तदा कर्मादिता इति नैकमपि रूपं व्यवतिष्ठेत अन्योन्यापेक्षत्वात्, कर्मादिरूपं हि करणस्वरूपापेक्षं तैच्च कर्माद्यपेक्षमिति।

मितरकारककदम्बसन्निधाने सत्यपि सीमन्तिनीमन्तरेण तद्दर्शनं न सम्पद्यते, आगतमात्रायामेव तस्यां भवति इति तदपि कर्मकारकम् अतिशययोगित्वात् करणं स्यात्।" न्यायमं० पृ० १३।

१ पृ० ३३ पं० ११। २ "न च लोकोऽपि सामग्र्याः करणभावमनुमन्यते तस्यां करणविभक्तिमप्रयुञ्जानः। नहि एवं वक्तारो भवन्ति लौकिकाः 'सामग्र्या पश्यामः' इति, किन्तु 'दीपेन पश्यामः चक्षुषा निरीक्षामहे' इत्याचक्षते।" न्यायमं० पृ० १३। "लौकिकानां तु कथमसौ भविष्यति, न हि ते सामग्र्या नामापि जानते" ··· स्या० रत्ना० पृ० ६। ३ कर्तृकर्मणोः। ४ "न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्वं परस्परविरोधात्"–प्रमेयक० पृ० ३ उ०। सन्मति टी० पृ० ४७३। ५ "ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वम्।" न्यायमं० पृ० २०२। ६ "निरालम्बनाश्च इदानीं सर्वप्रमितयो भवेयुः आलम्बनकारकस्य चक्षुरादिवत् प्रमाणान्तःपातित्वात्।" न्यायमं० पृ० १३। ७ "कश्च सामग्र्याः प्रमेयं प्रमिमीते? प्रमाताऽपि तस्यामेव लीनः।" न्यायमं० पृ० १३। ८ सामग्र्यामेव। ९ पृ० ३३ पं० २०। १० "अथ च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते, अथ च तान्येव समुदितानि करणीभवन्ति इति कोऽयं नयः?" न्यायमं० पृ० १४। ११–यथा–भां०। १२–तथा–भां०। १३ करणता। १४ करणस्वरूपम्।

किञ्च[1] सामग्रीजनने व्याप्रृताः कर्मादयः, तेऽस्यां[2] कारणत्वेन प्रतीयन्ते सा[3] च प्रमितिलक्षणे[4] फले करणत्वेन, अतश्च फलं प्रति सा एकैव व्याप्रियमाणा कथं विषयान्तरे व्याप्रृतकर्तृकर्मभ्यामतिशयं प्रतिपद्येत ? अपि च, सामग्रीजनने व्याप्रियमाण आत्मा यदा सामग्रीकरणतां[5] प्रतिपद्यते तदा फलविषये कस्य कर्तृत्वम् आत्मनः सामग्रीजनने व्यापारात् ? न च आत्मा आत्मानं सामग्र्या मध्ये प्रक्षिप्य सामग्रीं जनयन् पश्चात्तामेव करणत्वेन व्यापारयन् कर्तृतामनुभवति एकस्वरूपस्यैवंविधानेकव्यापारविरोधात्[6], नित्यैकरूपे वस्तुनि कार्यकारित्वानुपपत्तेश्च ।

किञ्च, समग्रा एव सामग्री, समग्राणां धर्मो वा ? तत्राद्यपक्षे सर्वेषां फलं प्रति अन्वयव्यतिरेकानुविधानात् 'कस्य करणता' इति न विद्मः । करणं हि साधकतमम्, तमार्थश्च प्रकर्षः कार्यं प्रति अव्यवधानेन व्यापारः, स चेत् सर्वेषां[7] तुल्यस्तदा कथं कस्यचिदेव करणत्वं सिद्ध्येत् ? अथ तेषां धर्मः ; स किं नित्यः, अनित्यो वा स्यात् ? न तावन्नित्यः, कादाचित्कत्वात् सुखादिवत् । अथानित्यः; कुतो जायेत तत एव, अन्यतो वा ? न तावदन्यतः ; अनभ्युपगमात् । तत एवचेत्; तर्हि अयमर्थः सम्पन्नः-समग्रास्तावत् सामग्रीलक्षणं कार्यं जनयन्ति, सा च फलम्, तदा तस्या[8] एकत्वात् किमपेक्ष्य साधकतमत्वं स्यात् ?

किञ्च, समग्राणां भावः सामग्री, भावशब्देन च तेषां[9] सत्ता, स्वरूपमात्रम्, समुदायः, सम्बन्धः, ज्ञानजनकत्वं वाऽभिधीयेत[10] प्रकारान्तरासंभवात् ? तत्राद्यविकल्पद्वये अतिप्रसङ्गः ; व्यस्तावस्थायामपि तत्सत्तायाः स्वरूपमात्रस्य च सद्भावतः प्रामाण्यप्रसङ्गात् । समुदायोऽपि एकाभिप्रायतालक्षणः, एकदेशे मिलनं[11] स्वभावो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः ; विषयेन्द्रियादेः निरभिप्रायत्वात् । द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः ; चन्द्राऽर्कादिविषयस्य इन्द्रियादेश्च एकदेशे मिलनाऽसंभवात् । सम्बन्धपक्षोऽपि अनेनैव प्रत्याख्यातः ; चन्द्रादेश्चक्षुरादिना सम्बन्धाऽभावात् तस्याप्राप्यकारित्वात्, तदप्राप्यकारित्वञ्चाग्रे प्रसाधयिष्यामः । अथ ज्ञानजनकत्वं भावशब्देनाभिधीयते; तर्हि प्रमातृप्रमेययोरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः तज्जनकत्वाऽविशेषात्, तथाच प्रतीतिसिद्धतद्व्यवस्थाविलोपः[12] स्यात्[13] । न च तज्जनकत्वाऽविशेषेऽपि स्वेच्छावशात् क्वचिदेव प्रमात्रादिव्यवस्था युक्ता; सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् इच्छायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् ।

---

१ "एवं च साकल्यलक्षणधर्मस्य जनने व्याप्रृताः कर्त्रादयः तस्मिन् कर्तृत्वेन प्रतीयन्ते, स च प्रमितिलक्षणे फले करणत्वेन"···· स्या० रत्ना० पृ० ६८ । २ तस्यां ब०, ज० । ३ सामग्री । ४ करणत्वलक्षणम् । ५ कारणताम् ब०, ज० । ६ एकरूप ब०, ज० । ७ कारकाणाम् । ८ "यतः तेषां स धर्मः किं नित्यः, अथाऽनित्यः ?···" स्या० रत्ना० पृ० ६८ । ९ "सामग्र्याश्चैकत्वात् अतिरिक्तसाधकान्तरानुपलम्भात् किमपेक्षमस्या अतिशयं ब्रूमः ।" न्यायमं० पृ० १३ । १० "तच्च इह सत्ता, स्वरूपमात्रम्, समुदायः, सम्बन्धः, ज्ञानजनकत्वं वा व्याक्रियेत पक्षान्तराऽभावात्···" स्या० रत्ना० पृ० ६९ । ११–धीयते आ०, भां० । १२ मीलन–आ०, ब०, ज० । १३ प्रमातृप्रमेयव्यवस्था ।

किञ्च, आत्मादयो भावाः नित्यैकरूपास्तज्जननस्वभावाः सन्तः तज्जनयन्ति, अतज्जननस्वभावा वा ? न तावदतज्जननस्वभावाः; सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। अथ तज्जननस्वभावाः; किन्न सर्वदा ते तज्जनयन्ति नित्यानां सर्वदा तज्जननस्वभावानां तेषां सदा सत्त्वात् ? एकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसङ्गश्च। यदा हि यज्जनकमस्ति तत् तदोत्पत्तिमत् प्रसिद्धम् यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम्, अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां निखिलप्रमाणानां तदा नित्याभिमतमात्मादिकारणमिति। तत्सद्भावेऽप्येषामनुत्पत्तौ न कदाचिदप्यतस्तदुत्पत्तिः इत्यखिलं जगत् प्रमाणविकलमापद्येत। तत्करणसमर्थे सत्यप्यात्मादिकारणेऽभवतां स्वयमेव पश्चाद्भवतां तत्कार्यता च कथमेषामुपपद्यते ? यद् यस्मिन् समर्थे सत्यपि नोत्पद्यते स्वयमेव पश्चाद्यथाकालमुत्पद्यते न तत् तत्कार्यम् यथा सत्यपि कुम्भकारेऽनुत्पद्यमानः पटः, नोत्पद्यते च आत्मादौ तत्करणसमर्थे सत्यप्यखिलप्रमाणानीति। यत्र यदा यथा यत् प्रमाणमुत्पित्सुः तत्र तदा तथा आत्मादेस्तत्करणसमर्थत्वान्नैकदा सकलप्रमाणोत्पत्तिः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदानुपपत्तेः। यस्य स्वभावभूतसामर्थ्यभेदो नास्ति नासौ कालादिभिन्नकार्यकारी यथा निरंशः सौगतपरिकल्पितः क्षणः, नास्ति च स्वभावभूतसामर्थ्यभेदो नित्यैकस्वभावाभिमतस्यात्मादेरिति। स्वभावभूतसामर्थ्याभेदेऽपि कार्यभेदाभ्युपगमे च पार्थिवपरमाण्वादिकारणभेदपरिकल्पनं व्यर्थम्, एकमेव नित्यैकस्वभावं परमब्रह्मादिकारणं पृथिव्याद्यनेककार्यकारि परिकल्प्यताम्। कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदाऽसंभवे शक्तिभेदोऽप्यस्तु, तमन्तरेणापि तद्भेदसंभवात्।

किञ्च, सकलेभ्यः साकल्यं भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? भिन्नञ्चेत्; किमिति पृथक् घटादिवन्नोपलभ्यते[14] ? किञ्च, भिन्नं सत् तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा ? असम्बद्धं चेत्; कथं तद्धर्मः ? यद् यत्र न सम्बद्ध्यते न तत् तद्धर्मः यथा सह्येऽसम्बद्धो विन्ध्यो न तद्धर्मः, कारकेष्वसम्बद्धञ्च तत्साकल्यमिति। सम्बद्धञ्चेत्[15] किं समवायेन, संयोगेन, विशेषणभावेन वा ? न तावत्समवायेन; अस्याऽसिद्धेः, तदसिद्धिश्च षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्सिद्धा। नापि संयोगेन; अस्य गुणत्वेन द्रव्येष्वेव संभवात्, साकल्यस्य चाऽद्रव्यत्वात्।

१ "नित्यानां तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तिः,..." प्रमेयक० पृ० ३ उ०। सन्मति० टी० पृ० ४७३। २ समन्तादुत्पाद्य–ज०। ३–करणमिति आ०। ४–द्यते आ०। ५ यच्च ब०, ज०। ६ "यदा यत्र यथा यद्भवति...यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोपपद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेणापि।" प्रमेयक० पृ० ३। सन्मति० टी० पृ० ४७३। ७ परब्रह्म–भां०। ८–भेदसंभवे ब०, ज०। ९–भवे कारणजातिभेदाभ्युपगमे शक्ति– आ०। १० कारणशक्तिभेदमन्तरेणापि। ११ कार्यभेदाऽसंभवात्। १२ "तथापि सकलेभ्यः किमेतद्भिन्नमभिन्नं वा"...। स्या० रत्ना० पृ० ७०। १३ "ननु समग्रेभ्यः सामग्री भिन्ना चेत् कथन्नोपलभ्यते।" न्यायमं० पृ० १४। १४–भ्येत ब०, ज०। १५–त् कथं स–भां०।

नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धे वस्तुनि विशेषणभावस्यैवासंभवात्। अस्तु वा केनचित्[1] तत्तत्रैव सम्बद्धम्; तथापि युगपत् सकलकारकेषु सम्बद्ध्यते, क्रमेण वा? युगपच्चेत्[2]; किमेकं सत्, अनेकं वा? यद्येकम्; सामान्यादिरूपताप्रसङ्गः[3], तद्रूपता च सामान्यादिदोषेण[4] दुष्टत्वान्न[5] श्रेयसी। अथानेकम्; तर्हि यावन्ति कारकाणि तावद्धा तद्[6] भिद्येत। अथ क्रमेण; तर्हि सकलकारकधर्मता साकल्यस्य न स्यात्; यदैव हि तस्यैकेन सम्बन्धो, न तदैवान्येनेति। अर्थाभिन्नं तत् तेभ्यः; तर्हि तान्येव न साकल्यम्, तदा करणरूपतैव वाऽशेषकारकाणां स्यात्, सापि वा न स्यात् कर्तृकर्मापेक्षत्वात्तस्याः, तौ[7]योश्चेत्थमसंभवात्, तथा च कस्य प्रमाणता स्यात्? ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेण विचार्यमाणस्यानुपपत्तेर्न प्रामाण्यम्। यत् स्वरूपेण विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत् प्रमाणम् यथा गगनेन्दीवरम्, स्वरूपेण विचार्यमाणं नोपपद्यते च परपरिकल्पितं कारकसाकल्यमिति। उपपद्यतां वा तत्; तथापि न मुख्यतः प्रमाणम्, अज्ञानरूपस्यास्य उपचारादन्यत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। न च लिङ्ग-शब्दादिना व्यभिचारः; तस्यापि उपचारादेव प्रामाण्याभ्युपगमात्।

किञ्च, निर्विकल्पकप्रमित्यपेक्षया सन्निकर्षस्य कारकसाकल्यस्य वा प्रमाजनकत्वेन प्रामाण्यं स्यात्, सविकल्पकप्रमित्यपेक्षया वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; संशयादिहेतुनिर्विकल्पकदर्शनजनकस्यापि सन्निकर्षादेः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च तत्रास्य[8] तज्जनकत्वं नास्तीत्यभिधातव्यम्; संशयादेः प्रत्यक्षाभासत्वाभावप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; सविकल्पकप्रमोत्पत्तौ सन्निकर्षादेर्निर्विकल्पकज्ञानेन व्यवधानतः साधकतमत्वानुपपत्तेः। यस्य यदुत्पत्तौ[9] अपरेण व्यवधानं न तस्य तदुत्पत्तौ साधकतमत्वम् यथा छिदिक्रियोत्पत्तौ कुठारेण व्यवहितस्यायस्कारस्य, व्यवधानश्च निर्विकल्पकेन सविकल्पकप्रमोत्पत्तौ[10] सन्निकर्षादेरिति। अतोऽज्ञानरूपस्य[11] सन्निकर्षादेर्न मुख्यतः कथमपि प्रामाण्यमुपपद्यते।

---

१ "अस्तु वा केनचित् सम्बन्धेन सम्बद्धं तत् तेषु; तथापि युगपत् सकलेषु सम्बद्ध्यते क्रमेण वा?....." स्या० रत्नाकर० पृ० ७१। २ चित्तत्रै–ब०, ज०। तत्–साकल्यम्, तत्रैव–कारकेषु। ३ "सम्बन्धेऽपि सकलकारकेषु युगपत्तस्य सम्बन्धे अनेकदोषदुष्टसामान्यादिरूपतापत्तिः।" प्रमेयक० पृ० ३ उ०। ४ "बहुत्वसंख्यातत्पृथक्त्वसंयोगविभागसामान्यानाम् अन्यतमस्वरूपापत्तिः तस्य।" सन्मति० टी० पृ० ४७३। ५ एकस्वभावेन स्वभावभेदेन च वृत्तौ सामान्यत्वाऽनवस्थादयः। ६ श्रेयसे भां०। ७ साकल्यम्। ८ "अभेदे तु सर्वकारकाणि करणीभूतान्येव इति कर्तृकर्मव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः।" न्यायमं० पृ० १४। ९–ल्यं करण–ज०, भां०। १० करणरूपतायाः। ११ कर्तृकर्मणोश्च। १२ संशयादौ। १३ सन्निकर्षादेः। १४ निर्विकल्पकजनकत्वं। १५ यदुपपत्तौ ब०, ज०, आ०। १६–कोत्पत्तौ ब०, ज०, भां०। १७–न स्वरूप– भां०।

'ननु यद्यपि सन्निकर्षस्य कारकसाकल्यस्य वाऽज्ञानरूपस्य प्रामाण्यं नोपपद्यते; तथापि न ज्ञानमेव प्रमाणं सिद्ध्यति, इन्द्रियवृत्तेः अर्थप्रमितौ साधकतमत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। इन्द्रियाणां हि वृत्तिः विषयाकारपरिणतिः। न खलु तेषां प्रतिनियतशब्दाद्याकारपरिणतिव्यतिरेकेण प्रतिनियत-

'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' इति सांख्यमतनिरसनम्–

शब्दाद्यालोचनं घटते। अतो विषयसम्पर्कात् प्रथममिन्द्रियाणां तादूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः, तदनु विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः। अथ कस्मान्मनोवृत्तिः अक्षवृत्त्यालम्बना न शब्दाद्यालम्बना? इति चेत्; अबहिर्वृत्तित्वात्, अन्यथा बाह्येन्द्रियकल्पनानर्थक्यं स्यात्।' इत्यभिदधानः साङ्ख्योऽप्येतेनैव प्रत्युक्तः।

अचेतनस्वभावाया इन्द्रियवृत्तेरप्युपचारादन्यतोऽर्थप्रमितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः। का चेयमिन्द्रियवृत्तिः–विषयं प्रति तेषां गमनम्, आभिमुख्यं वा स्यात्, आकारधारित्वं वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; विषयं प्रतीन्द्रियाणां गमनस्य इन्द्रियाप्राप्यकारित्वप्रक्रमे निराकरिष्यमाणत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; विषयं प्रत्याभिमुख्यस्य प्रगुणतापरपर्यायस्य अर्थपरिच्छित्तौ साधकतमज्ञानहेतुत्वाद् उपचारत एव साधकतमत्वोपपत्तेः। विषयाकारधारित्वं पुनरिन्द्रियस्य अनुपपन्नम्; प्रतीतिविरोधात्। न खलु दर्पणादिवत् तदाकारधारित्वेन श्रोत्रादीन्द्रियं प्रत्यक्षतः प्रतीयते तद्वत्तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न हि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽर्थे कश्चिदबालिशो विप्रति-

---

१ "रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ॥" सांख्यका० २८। "बुद्धिरहङ्कारो मनः चक्षुः इत्येतानि चत्वारि युगपद रूपं पश्यन्ति अयं स्थाणुः अयं पुरुष इति···एवमेषां युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिः··· क्रमशश्च–एवं बुद्धयहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा चक्षूरूपं पश्यति, मनः सङ्कल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति।" माठरवृ० पृ० ४७। "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।" योगद० व्यासभा० पृ० २७। "चैतन्यमेव बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं बुद्धिवृत्त्या अर्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलम्।" योगद० तत्त्ववै० पृ० २९। "अत्रेयं प्रक्रिया–इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।" सां० प्र० भा० पृ० ४७। "विषयैश्चित्तसंयोगाद् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात्। प्रत्यक्षं साम्प्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम् ॥ २३ ॥" योगकारिका। "प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च। प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥" योगवा० पृ० ३०। "बुद्धिः किल त्रैगुण्यविकारः, त्रैगुण्यञ्च अचेतनम्, इत्यचेतनं केवलम् इन्द्रियप्रणालिकया अर्थाकारेण परिणमते·····तेन योऽसौ नीलाकारः परिणामो बुद्धेः स ज्ञानलक्षणा वृत्तिः इत्युच्यते।" न्यायवा० ता० टी० पृ० २३३। २ श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु। प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिः तद्विकारानुकारिणी ॥" न्यायवि० पृ० ३९३। सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ पू०। "श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षम् इत्यप्येतेन चिन्तितम्। तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥३६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७। तत्त्वोप० पृ०। ३–य प्रवृत्तिः भां०। ४ "न हि स्फटिकमुकुरादिकमिव तदाकारधारित्वेन श्रवणादिकमिन्द्रियं प्रत्यक्षतः प्रतीयते"–स्या० रत्ना० पृ० ७२। ५ दर्पणादिवत्। ६ श्रोत्रादौ।

पद्यते। नाप्यनुमानतः; तदविनाभाविनो लिङ्गस्याऽसंभवात्। न च प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिरेव लिङ्गमित्यभिधातव्यम्; तस्याः सारूप्यमन्तरेणाप्युपपत्तेः। तथोपपत्तिश्चास्याः विज्ञाननिराकारतासिद्ध्यवसरे प्रसाधयिष्यते।

अस्तु वा काचित् तद्वृत्तिः; तथाप्यसौ तेभ्यो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात्? यद्यभिन्ना; श्रोत्रादिमात्रमेव सा, तच्च सुषुप्तादावप्यस्तीति सुप्त-प्रबुद्धयोरविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यवहाराभावः स्यात्। अथ भिन्ना; किमसौ तत्र सम्बद्धा, असम्बद्धा वा? यद्यसम्बद्धा; कथं श्रोत्रादेरियं वृत्तिरिति व्यपदिश्येत? यद् यत्राऽसम्बद्धं न तत् तस्येति व्यपदिश्यते यथा सह्ये विन्ध्यः, असम्बद्धा च श्रोत्रादिना वृत्तिरिति। अथ सम्बद्धा; किं समवायेन, संयोगेन, विशेषणभावेन वा? न तावत् समवायेन; अस्याऽसिद्धस्वरूपत्वात्, तदसिद्धस्वरूपता चाग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् (प्रसिद्धा)। तत्स्वरूपसिद्धौ वा नित्यव्यापिनोऽस्य श्रोत्रादेश्च तथाविधस्य सद्भावे "*प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्यते*" [ ] इति दुर्घटम्। नापि संयोगेन; तद्वृत्तेर्द्रव्यान्तरत्वानुषङ्गात्, न हि द्रव्याऽद्रव्ययोः संयोगो युक्तः; अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। तथा च इन्द्रियधर्मताभ्युपगमो वृत्तेर्विरुद्ध्यते। नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणाऽसम्बद्धेऽर्थे सह्यविन्ध्यादिवत्तस्याऽसंभवात्। तस्माद् इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वाऽसंभवात् कथम् 'विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः' इति सुघटं स्यात्? इन्द्रियवृत्तेर्विषयाकारपरिणतत्वानुपपत्तौ मनोवृत्तेस्तदालम्बनत्वानुपपत्तेः। ततो बाह्यार्थालम्बनैवासौ युक्ता। न चैवं बाह्येन्द्रियकल्पनानर्थक्यानुषङ्गः; मनसः तत्सापेक्षस्यैव अर्थप्रवृत्तिप्रतीतेः, विज्ञानोत्पत्तौ तेषां अन्योन्यं सहकारिभावात्। न खलु बाह्येन्द्रियनिरपेक्षा मनसो विज्ञानोत्पत्तौ प्रवृत्तिः; अदृष्टपूर्वेऽप्यर्थे तत्तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि मनोऽनपेक्षा बाह्येन्द्रियाणाम्; अन्यत्र गतचित्तस्याप्यतो विज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति।

ननु सन्निकर्षकारकसाकल्येन्द्रियवृत्तीनाम् उक्तदोषदुष्टत्वान्माभूत् प्रामाण्यम्, ज्ञातृव्या-

---

१ विषयाकारधारित्वमन्तरेण। २ सारूप्यमन्तरेणापि प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिः। ३ "न च इन्द्रियेभ्योवृत्तिर्व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा घटते···"। प्रमेयक० पृ० ६ पू०, स्या० रत्ना० पृ० ७३। ४ श्रोत्रादेरिन्द्रियस्य वृत्तिः आ०। ५ अस्य सि–भां०। ६ तदपि सि–भां०। ७ प्रमेयक० पृ० ६ पू०। ८ संयोगस्य। ९ विशेषणभावस्य। १० "तस्मादित्थम् इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वाऽसंभवात् कथं विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः इति सुघटं स्यात्।" स्या० रत्ना० पृ० ७३। ११ मनोवृत्तिः। १२ बाह्येन्द्रियसापेक्षस्यैव। १३ बहिरर्थे। १४ इन्द्रियमनसाम्। १५–न्योन्य सह–आ०। १६ मनसः। १७ विज्ञान। १८ 'विज्ञानोत्पत्तौ प्रवृत्तिः' इत्यन्वयः। १९ बाह्येन्द्रियात्। २० "ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकम्, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलाऽनिष्पत्तेः।" न्यायमं० पृ० १७।

ज्ञातृव्यापारप्रामाण्यवादे प्राभाकरस्य पूर्वपक्षः—

पारस्य तु भविष्यति; तमन्तरेण अर्थप्रकाशताख्यफलाऽनिष्पत्तेः। न हि व्यापारमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात्। कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव उपपद्यते, 'करोतीति कारकम्' इति व्युत्पत्तेः, इतरथा हि तद् वस्तुमात्रं स्यान्न कारकम्, "*क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्*" [[1]]] इत्यभिधानात्। न च तन्मात्रं फलार्थिभिरुपादीयते; अभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधकस्यैव तैरुपादानात्। ततो यथा कारकाणि तन्दुल-सलिला-ऽनल-स्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि असिद्धस्वभावपाकलक्षणधात्वर्थं साधयितुं संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति, तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसम्प्रयोगे सति ज्ञातुर्व्यापारोऽर्थप्राकट्यहेतुरुपजायते ततोऽसौ प्रमाणम्, अर्थप्राकट्यलक्षणे फले साधकतमत्वात्, यत्पुनः प्रमाणं न भवति न तत् तत्र साधकतमम् यथा सन्निकर्षादि, साधकतमश्च तल्लक्षणे फले ज्ञातृव्यापार इति।

अचेतनस्वरूपस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यनिरासः—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्—'ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यं भविष्यति' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यतोऽस्य प्रसिद्धसत्ताकस्य प्रामाण्यं प्रार्थ्येत, अप्रसिद्धसत्ताकस्य वा? न तावदप्रसिद्धसत्ताकस्य; अतिप्रसङ्गात्, अनुमानविरोधानुषङ्गाच्च। तथाहि—यदप्रसिद्धसत्ताकं न तत् प्रमाणम् यथा गगनेन्दीवरम्, अप्रसिद्धसत्ताकश्च प्रभाकरमतानुसारिभिरभिप्रेतो ज्ञातृव्यापार इति। अथ प्रसिद्धसत्ताकस्यास्य प्रामाण्यं प्रार्थ्येत, ननु कुतोऽस्य प्रसिद्धा सत्ता—स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रात्, प्रमाणतो वा? प्रथमपक्षे सन्निकर्षादेरपि तथा प्रसिद्धसत्ताकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा भवत्पक्षसिद्धिः स्यात्? प्रमाणतोऽपि—प्रत्यक्षात्, अनुमानादेर्वा तत्सिद्धिः स्यात्? यदि

---

१ "क्रियावेशवशाच्च कारकं कारकं भवति, अपरथा हि तद् वस्तुस्वरूपमात्रमेव स्यात् न कारकम्। ततश्च न फलार्थिभिः उपादीयेतेति व्यवहारविप्रलोपः।" न्यायमं० पृ० १७। "न द्रव्यमात्रं कारकं न क्रियामात्रम्। किं तर्हि? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्।" न्यायभा० पृ० १०६। २—**याविशिष्टं** भां०। 'चत्वारो ह्यर्थनया ह्येते' इति कारिकाविवृतौ। ३ वस्तुमात्रम्। ४ "तस्माद् यथाहि कारकाणि तण्डुलसलिलाऽनलस्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुररीकृत्य संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति, तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते।" न्यायमं० पृ० १७। ५ "तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते। तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणञ्च धीः॥ ५६॥ जन्मैव अस्य क्रिया·····तदेव च अर्थप्रकाशनफलविशेषात् प्रमा तद्योगाद् धीः करणम्। चशब्दात् प्रमाणञ्चोच्यते।" मीमांसाश्लो० पृ० १५१। "अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य आत्मनः कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति।" शास्त्रदी० पृ० २०२। ६ **ततोऽसौ** भां०। ७ स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रात्। ८ "तद्धि प्रत्यक्षमनुमानमन्यद्वा? यदि प्रत्यक्षं तत्किं स्वसंवेदनं बाह्येन्द्रियजं मनःप्रभवं वा?"·····प्रमेयक० पृ० ६ पू०। सन्मति० टी० पृ० २०।

प्रत्यक्षात्[1]; तत्किम् इन्द्रियार्थसंयोगजात्[2], आत्ममनःसन्निकर्षप्रभवात्, स्वसंवेदनाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वसम्बद्धे[3] ग्रहणयोग्ये चार्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्। न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां सम्बन्धः संभवति; प्रतिनियतै[4] रूपादिभिरेवैषां सम्बन्धसंभवात्, अत्यन्तपरोक्षतया तस्य[5] ग्रहणायोग्यत्वाच्च। अस्तु वा तस्य तैः सम्बन्धः, ग्रहणयोग्यता च; तथाप्यसौ[6] चक्षुरादिसहायः स्वविषयविज्ञानमुत्पादयन् अपरज्ञातृव्यापारसहकृत उत्पादयति, असहकृतो वा ? प्रथमपक्षे, अनवस्था-तद्व्यापारस्यापि अपरतद्व्यापारसापेक्षस्य स्वविषयविज्ञानोत्पादकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षस्त्वनुपपन्नः; अपरतद्व्यापाराऽसहकृतस्यास्य[7] कर्मभूतस्य स्वविषयविज्ञानजनकत्वानुपपत्तेः। तथाहि—ज्ञातृव्यापारः स्वविषयं विज्ञानमपरज्ञातृव्यापारसहकृत एवोत्पादयति, कर्मतया स्वविषयविज्ञानोत्पादकत्वात्, घटादिवत्। तथाभूतस्याप्यस्य[8] तदसहकृतस्य तज्जनकत्वे घटादेरपि[9] तन्निरपेक्षस्यैव[10] स्वविषयविज्ञानजनकत्वप्रसङ्गाद् अलं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पनया। एतेन द्वितीयपक्षोप्यपास्तः; प्रतिपादितदोषाणां तत्राप्यनुषङ्गाऽविशेषात्। न च ग्रहणाऽयोग्ये वस्तुनि आत्ममनःसन्निकर्षप्रभवं प्रत्यक्षं प्रवर्त्तितुमुत्सहते, तद्योग्य एव सुखादावस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः। भवत्कल्पितयोः नित्यनिरंशस्वभावयोः व्यापकाऽणुरूपयोः आत्ममनसोः प्रमाणतोऽप्रसिद्धेश्च। तदप्रसिद्धिश्च षट्पदार्थपरीक्षायां आत्म-मनोद्रव्यपरीक्षावसरे प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यामः। नापि स्वसंवेदनात्तत्सिद्धिः; अनभ्युपगमात्, अत्यन्तपरोक्षे तस्मिन् स्वसंवेदनविरोधाच्च। तन्न प्रत्यक्षाज्ज्ञातृव्यापारसिद्धिः।

नाप्यनुमानात्; "*ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे*[11] *बुद्धिः*[12]" [शाबरभा० १।१।५ पृ० ३६] इत्येवंरूपत्वात्तस्य। सम्बन्ध[13]प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः; ज्ञातृव्यापारस्य अत्यन्तपरोक्षतयाभ्युपगमे अर्थप्राकट्यलक्षणहेतोः तत्सम्बद्धत्वेन प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, उभयस्वरूपग्रहणे हि 'इदमनेन सम्बद्धम्' इति सम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अग्निधूमवत्। नाप्यनुमानात्; अनवस्थाप्रसङ्गात्—तदपि ह्यनुमानं निश्चितप्रतिबन्धाद्धेतोरुत्पद्यते तत्प्रतिबन्धनिश्चयश्च अनुमानान्तरादिति। प्रथमानुमानात्तन्निश्चये च इतरेतराश्रयः। एतेन अर्थापत्तितोऽपि ज्ञातृव्यापारसिद्धिः प्रत्युक्ता; तदुत्थापकस्य[14]प्यर्थस्य साध्यसम्बन्धसिद्धावेव गमकत्वोपपत्तेः, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्, तत्सिद्धौ चोक्तदोषानुषङ्गः।

१—क्षात् किम् भां०। २—संप्रयोगात् आ०। ३—द्धे प्रत्यक्षग्रहण—ब०। ४ इन्द्रियाणाम्। ५ ज्ञातृव्यापारस्य। ६ ज्ञातृव्यापारः। ७ "अथ कारकनिर्वर्त्या क्रिया, साऽपीदानीं कार्यत्वात् सव्यापारकारककार्या भवेद् इत्यनवस्था।" न्यायमं० पृ० १८। ८ अपरज्ञातृव्यापार। ९ ज्ञातृव्यापारस्य। १० कर्मतया स्वविषयविज्ञानोत्पादकस्य। ११ ज्ञातृव्यापाराऽसहकृतस्य। १२ ज्ञातृव्यापारनिरपेक्षस्यैव। १३ "अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः।" शाबरभा० पृ० ३६। १४ "स च सम्बन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण वा ? प्रथमपक्षे किं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा तन्निश्चयः ?" प्रमेयक० पृ० ६ उ०, सन्मति० टी० पृ० २०। १५ अर्थापत्त्युत्थापक।

किञ्च, असौ ज्ञातृव्यापारः कारकजन्यः, तदजन्यो वा ? न तावत्तदजन्यः ; तथाहि–ज्ञातृव्यापारो न कारकाऽजन्यः, व्यापारत्वात्, पाचकादिव्यापारवत्। किञ्च, असौ तदजन्यः सन्[1] भावरूपः, अभावरूपो वा स्यात्[2] ? अभावरूपत्वे अर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधः। अविरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणमफलमेव स्यात्, विश्वमदरिद्रञ्च स्यात् कारणाऽभावादेवाऽखिलप्राणिनामभिमतफलसिद्धेः। अथ भावरूपः; तत्रापि किमसौ नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यत्वे[3] सर्वस्य सर्वपदार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् प्रदीपादिकारकान्वेषणवैयर्थ्यम्, अन्ध-सुप्तादिव्यवहारोच्छेदानुषङ्गश्च स्यात्। अथाऽनित्यः; तदयुक्तम्; भावस्वभावस्य अजन्यात्मनोऽर्थस्य अनित्यत्वविरोधात्। यो भावस्वभावोऽजन्यार्थो नाऽसौ अनित्यः यथाऽऽकाशादिः, तथाभूतश्चायं ज्ञातृव्यापार इति। अस्तु वा अनित्यः; तथाप्यसौ–कालान्तरस्थायी, क्षणिको वा ? प्रथमपक्षे[4] "*क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते*" [ ] इति वचो विरुद्ध्यते। द्वितीयपक्षे तु क्षणादूर्ध्वम् अर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गाद् अन्धमूकं जगत्स्यात्। प्रतिक्षणमपरापरव्यापारोपगमे तु तदवस्थः सुप्ताद्यभावदोषानुषङ्गः, कारकाऽजन्यस्यास्य देशकालस्वभावप्रतिनियमाऽयोगात्।

अथ कारकजन्योऽसौ, अस्त्वेतत्; तथापि क्रियारूपः, अक्रियारूपो वा स्यात्[5] ? यदि क्रियारूपः; तदासौ क्रिया परिस्पन्दस्वभावा, अपरिस्पन्दस्वभावा वा स्यात्[6] ? तत्राद्यविकल्पोऽपेशलः; व्यापकत्वेनाऽऽत्मनः तथाभूतक्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः। यद् व्यापकं न तत् परिस्पन्दस्वभावक्रियाश्रयः यथा आकाशादिः, व्यापकश्च भवन्मते आत्मेति। यदि वा, परिस्पन्दस्वभावा क्रिया[7] व्यापकद्रव्यवृत्तिर्न भवति यथा ध्वजादिक्रिया, परिस्पन्दस्वभावा च ज्ञातृव्यापारलक्षणा क्रियेति। तथा च तद्व्यापारस्य ज्ञातुरन्यत्राश्रितत्वप्रसङ्गात् कथं ज्ञातृव्यापाररूपता[8] प्रमाणता वा स्यात्[9] ? ध्वजाद्याश्रितस्योत्क्षेपणादिव्यापारस्यापि तत्प्रसक्तेः। द्वितीयविकल्पेऽपि अपरिस्पन्दः–परिस्पन्दाभावः, वस्त्वन्तरं वा ? यदि परिस्पन्दाभावः; तदाऽस्य फलजनकत्वानुपपत्तिः अभावस्य कार्यकारित्वविरोधात्, यथा चाऽस्य तत्कारित्वं विरुद्ध्यते तथा अभावपरीक्षाप्रस्तावे सप्रपञ्चं प्रपञ्चयिष्यते। वस्त्वन्तरमपि किं चिद्रूपम्, अचिद्रूपं वा ? चिद्रूपमपि–किं धर्मी, धर्मो वा ? यदि धर्मी; तदासौ प्रमाणं न स्याद् आत्मवत्। धर्मोऽपि

---

१ "किञ्चासौ ज्ञातृव्यापारः कारकैर्जन्योऽजन्यो वा ?" प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५। २ **ज्ञातुर्व्या**– ब०, ज०। ३ **सद् भावरू**–आ०, ब०, ज०। "यद्यजन्यः तदाऽसौ अभावरूपः भावरूपो वा ?" प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५। ४ "तत्र यदि नित्या; तर्हि सर्वदा वस्तुनः क्रियायोगात् फलनिष्पत्तिप्रसङ्गः।" न्यायमं० पृ० १८। ५ शाबरभाष्ये तु (पृ० ३२) "क्षणिका हि सा न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते" इति। –प्रमेयक० पृ० ७ पू०, सन्मति० टी० पृ० २५, स्या० रत्ना० पृ० १२२– इत्येतेषु 'न चिरकालमवतिष्ठते' इति पाठः। ६ परिस्पन्दस्वभाव। **७ क्रिया सा व्यापक**–आ०, ज०, भां०। ८ ज्ञातृव्यापारता। **९ जडं वा** ब०, ज०, भां०।

किमात्मनो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तदा 'आत्मैव[1]' इति प्रमाणतानुपपत्तिः। भेदे तु असम्बन्धात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः । तत्कार्यत्वात् 'तस्य'इति व्यपदेशे, तस्य तत्कारित्वं किं व्यापारान्तरेण, अन्यथा वा ? यदि व्यापारान्तरेण; अनवस्था । अथ अन्येथा[2]; तन्न; निर्व्यापारस्य कार्यकारित्वाभ्युपगमे व्यापारकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । अचिद्रूपमपि वस्त्वन्तरम्–धर्मी, धर्मो वा स्यात् ? यदि धर्मी; लोष्टवन्न प्रमाणं स्यात्। अथ धर्मः[3]; कस्य ? आत्मनः, अन्यस्य वा ? यद्यन्यस्य; न प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात्। अथ आत्मनः; तन्न; अजडस्यास्य[4] जडधर्मत्वविरोधात्[5]। तन्न क्रियारूपो व्यापारो घटते। अक्रियारूपोऽप्यसौ किं बोधरूपः, अबोधरूपो वा ? बोधरूपत्वे अत्यन्तपरोक्षत्वविरोधः, तथाभूतस्य[6] बोधरूपतानुपपत्तेः, तदनुपपत्तिश्च स्वसंवेदनसिद्धौ प्रसाधयिष्यते[7]। अबोधरूपत्वे तु प्रमाणत्वानुपपत्तिः घटादिवत्, चिद्रूपस्यात्मनो अचिद्रूपव्यापारविरोधाच्च[8]। ततो ज्ञातृव्यापारस्य उक्तन्यायेन विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः कथं प्रामाण्यं स्यात् ?

यदप्युक्तम्[9]–'कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव' इत्यादि; तत्सत्यमेव; न[10] हि परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं कारकव्यापारमपह्नुमहे प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वालादिव्यापारस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः, अतीन्द्रियस्यैव व्यापारस्य भवत्कल्पितस्याऽपह्नवात्, तस्योक्तप्रकारेण कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रतीतेः । न च नित्यैकरूपस्याऽपरिणामिनो ज्ञातुरन्यस्य वा व्यापारादिकार्यकारित्वं घटते । एतच्च "**अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः**"[11] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यते । ततः 'प्रमाणं ज्ञातृव्यापारोऽर्थप्राकट्यलक्षणे फले[12] साधकतमत्वात्' इत्यादि, वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यतां प्रतिपद्यते, इत्युपरम्यते । तदेवम्–अज्ञानात्मनः सन्निकर्षादेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अर्थप्रमितौ[13] मुख्यतः साधकतमत्वानुपपत्तितः प्रामाण्यस्यापि मुख्यतोऽनुपपत्तेः[14], तत्प्रमितौ[15] मुख्यतः साधकतमज्ञानलक्षणप्रमाणोत्पादकत्वाद् उपचारादेव अत्रास्य प्रामाण्यं[16] प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। इति युक्तमुक्तम्–**'सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत्'** इति ।

ननु भवतु ज्ञानमेव प्रमाणम्। तत्तु द्विविधम्–निर्विकल्पकम्, सविकल्पकञ्चेति । तत्र

१–त्मैव प्रमा–आ० । २ व्यापारमन्तरेण । ३ जडमपि ब०, ज०, भां० । ४ आत्मनः । ५ जडः धर्मो यस्य । ६ "अक्रियात्मको हि व्यापारो बोधरूपोऽबोधरूपो वा ।"...प्रमेयक० पृ० ७ उ०, सन्मति० टी० पृ० २५ । ७ अत्यन्तपरोक्षस्य । ८–रोधश्च ब०, ज०, भां० । ९ पृ० ४२ पं० २ । १० "न हि वयं परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं व्यापारमपह्नुमहे, प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वलनादेर्व्यापारस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्, अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्ति इति ब्रूमहे ।" न्यायमं० पृ० १८ । ११ लघी० प्रमाणप्र० कारि० ८ । १२ फले इत्या–आ०, ब०, ज० । १३–पत्तिः आ०, भां० । १४ अर्थप्रमितौ । १५–देव तत्रास्य ब०, ज०,–देव तत्राप्यस्य भां० । १६–ण्यं परीक्षादक्षैः भां० ।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति बौद्धस्य पूर्वपक्षः—

प्रत्यक्षरूपं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, अनुमानरूपं तु सविकल्पकम्। तत्र प्रत्यक्षलक्षणम्—"प्रत्यक्षं[1] कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायबि० पृ० ११] इति। "अभिलापवती प्रतीतिःकल्पना[2]" [न्यायबि० पृ० १३] ततोऽपोढम्। न हि प्रत्यक्षेऽभिलापसंसृष्टार्थग्रहणं संभवति, तद्विषये सङ्केत-व्यवहारकालाऽननुयायिनि शब्दसन्निवेशाऽसंभवात्। यः[3] सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दो निवेश्यते यथा उत्पन्नमात्रप्रध्वंसिनि क्वचिदर्थे, नान्वेति[4] च नियतदेशकालाकारं स्वलक्षणं देशान्तरादाविति। अतः कथं तद्विशिष्टार्थग्रहणं[5] प्रत्यक्षेण यतः सविकल्पकं तत्स्यात्? यो यत्र शब्दो न निवेशितो न तद्विशिष्टस्य तस्य ग्रहणं यथा अनिवेशिताऽश्वशब्दस्य [6]गोद्रव्यस्य नाऽश्वशब्दविशिष्टस्य ग्रहणम्, अनिवेशितश्च स्वलक्षणे कश्चिदपि शब्द इति।

किञ्च, अतीताद्यर्थं स्ववाचकसंसर्गेण विकल्पयतः पुरोवर्तिनि रूपादौ यदोत्पद्यते ज्ञानं तस्य कथं सविकल्पकता वर्तमानार्थनामसंसर्गस्य तदाऽनुपलब्धेः? अर्थे च शब्दानामसंभवात् तत्तादाम्याभावाच्च कथमर्थप्रभवे ज्ञानेऽजनकस्य शब्दस्य आकारसंसर्गः? यद् यस्याऽजनकं

---

१ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्, यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितम्।" न्यायप्रवेश पृ० ७। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥ ३ ॥" प्रमाणस० पृ० ८। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी। प्रतीतिः कल्पना क्लृप्तिहेतुत्वाद्यात्मिका न तु ॥ १२१४ ॥" तत्त्वसं० पृ० ३६६। "केचित्तु स्वयूथ्या एव अभ्रान्तग्रहणं नेच्छन्ति, भ्रान्तस्यापि पीतशङ्खादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्; तथा हि—न तदनुमानम् अलिङ्गजत्वात्, प्रमाणञ्च अविसंवादित्वात्। अतएव आचार्यदिङ्नागेन लक्षणे न कृतमभ्रान्तग्रहणम्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ३९४। २ "अथ कल्पना च कीदृशी? चेदाह—नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देन जात्या गौरयम् इति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणी इति।" प्रमाणस० टी० पृ० १२। "वैभाषिकाः इन्द्रियविज्ञानं वितर्कविचारचैतासकसंप्रयुक्तं कल्पनामिच्छन्ति। योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वं ज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं कल्पना। जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पना इत्यन्ये कथयन्ति।" न्यायबि० टी० टि० पृ० २१। "कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्बुद्धिविकल्पः।" तत्त्वार्थरा० पृ० ३९। ३ प्रत्यक्षविषये स्वलक्षणे। ४ "तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते। सङ्केतव्यवहारातकालव्याप्तिवियोगतः ॥ ८७२ ॥" तत्त्वसं०। "न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहारातकालव्यापकत्वमस्ति, तस्मान्न तत्र समयः" तत्त्वसं० पं० पृ० २७७। ५ "व्यक्तयात्मानोऽनुयन्त्येते न परस्पररूपतः। देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥ ८७३ ॥ तस्मात् सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते।" तत्त्वसं० पृ० २७७। ६ शब्दविशिष्टार्थ। ७ गोशब्दस्य आ०। ८ "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा अव्युत्पन्नस्यापि प्रतीतिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५३१, न्यायवा० ता० टी० पृ० १३३। "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्निति वचनात्।" न्यायप्रवेशवृ० पृ० ३५। अष्टसह० पृ० ११८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ उ०।

न तत् तदाकारमनुविधत्ते यथा रसादुत्पन्नं रसज्ञानं नाऽजनकस्य रूपादेः, नीलाद्यर्थादेवोत्पन्नञ्चेन्द्रियज्ञानमिति। ततो यदेव ज्ञानमर्थसंसृष्टं वाचकत्वेन शब्दं प्रतिपद्यते तदेव सविकल्पकम्, नान्यत्। अत एव योगिज्ञानमनेकशब्दार्थप्रतिभासमपि योजनाऽभावान्न सविकल्पकम्, विशेषणविशिष्टार्थग्रहणाभावाच्च अविकल्पकं प्रत्यक्षम्। न खलु विशेषणविशिष्टता प्रत्यक्षेण ग्रहीतुं शक्या, तुल्यकालस्याऽर्थद्वयस्य तत्र प्रतिभासनात्। न च स्वरूपमात्रेण प्रतीयमानयोः विशेषणविशेष्यभावः; अतिप्रसङ्गात्। प्रयोगः—यद् यदर्थसाक्षात्करणप्रवृत्त(त्तं)ज्ञानं तत् तत्स्वरूपव्यतिरिक्त-विशेषणविशेष्याकार-तत्संयोजनास्वभाव-कल्पनाकारं न भवति, यथा रूपाद्याकारप्रवृत्तचक्षुरादिज्ञानम् अविषयीकृतगन्धादिविशेषणयोजनाकारं न भवति, तथा च सर्वं स्वविषयप्रवृत्तं ज्ञानमिति।

तच्च इत्थम्भूतं प्रत्यक्षम् स्वसंवेदन-इन्द्रिय-मनो-योगिप्रत्यक्षविकल्पाच्चतुर्धा भिद्यते। तत्र *"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्"* [न्यायवि० पृ० १६] *"इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्ययप्रभवम् इन्द्रियप्रत्यक्षम्"* [ ] *"स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनःप्रत्यक्षम्"* [न्यायवि० पृ० १८] *"भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षम्"* [न्यायवि० पृ० २०] इति।

निर्विकल्पकनिरसनपुरस्सरं सविकल्पकप्रामाण्यव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[3]—'कल्पनापोढम्' इत्यादि; तत्र केयं कल्पना[4]—अभिलापवत्प्रतिभासः, निश्चयः, जात्याद्युल्लेखः, अस्पष्टाकारता, अर्थसन्निधिनिरपेक्षता, अनक्षप्रभवता, धर्मान्तरारोपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; प्रतिभासस्याऽभिलापवत्त्वानुपपत्तेः। तद्धि तत्स्वभावत्वात्, तद्धेतुत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तत्स्वभावत्वात्; चेतनाऽचेतनयोः विरुद्धधर्माध्यासतः तादात्म्याऽसंभवात्। ययोर्विरुद्धधर्माध्यासः न तयोस्तादात्म्यम् यथा जलाऽनलयोः, विरुद्धधर्माध्यासश्च चेतनाऽचेतनरूपतया शब्द-ज्ञानयोरिति। अतः तत्स्वभावशून्यतया प्रत्यक्षस्याऽविकल्पकत्वसाधने सिद्धसाधनम्। नापि तद्धेतुत्वात्; तद्धि तज्जन्यत्वम्, तज्जनकत्वम्, उभयं वा ? तज्जन्यत्वेन तद्वत्त्वे, श्रोत्रज्ञानस्य अविकल्पकत्वं न स्यात्, तस्याऽभिलापप्रभवतया तद्वत्त्वप्रसङ्गात्। तज्जनकत्वात्तद्वत्त्वे, प्रकृति-प्रत्ययादिप्रत्यक्षस्य

---

१ रासनज्ञानं ज०। २—ज्ञानं ततो आ०, ब०, ज०। ३ पृ० ४६ पं० २। ४—ल्पना नाम—भां०। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति केचन। तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाऽथवा ॥ ८ ॥ स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः। अभिलापवती वित्तिः तद्योग्या वाऽपि सा यतः ॥ ९ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। "का चेयं कल्पना नाम-ज्ञानस्य स्मरणानन्तरभावित्वम्, शब्दाकारानुविद्धत्वं वा, जात्याद्युल्लेखो वा, असदर्थविषयत्वं वा, अन्यापेक्षतया अर्थस्वरूपावधारणं वा, उपचारमात्रं वा ?" प्रमेयक० पृ० १८ उ०। ५—वत्तानु— आ०।

सविकल्पकत्वं स्यात्। उभयपक्षेऽपि उभयदोषानुषङ्गः, एकत्रोभयरूपताविरोधश्च। अतः अभिलापवत्प्रतिभासस्य कल्पनालक्षणत्वाऽनुपपत्तेः 'यो यत्र शब्दो न निवेशितः' इत्यादि प्रत्याख्यातम्।

अथ निश्चयः कल्पनोच्यते; सत्यमेतत्; तद्रहितत्वं तु[3] प्रत्यक्षस्याऽसत्यम्; प्रमाणस्याऽनिश्चयात्मकत्वानुपपत्तेः; तथाहि–प्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकं प्रमाणत्वाद् अनुमानवत्। यत्पुनः स्वयमनिश्चितस्वरूपम् अर्थाऽनिश्चयात्मकञ्च न तत्प्रमाणम्, यथा पुरुषान्तरज्ञानं संशयादिज्ञानं[4] च। न खलु स्वार्थाऽव्यवसायात्मकत्वं विहाय आत्मान्तरज्ञानस्य संशयादेश्चाऽप्रामाण्ये अन्यन्निबन्धनमस्ति, तच्च परैः प्रत्यक्षे प्रतिज्ञायमानम् अप्रामाण्यमन्वाकर्षति। निश्चयो हि संशयादिव्यवच्छेदेन अर्थस्वरूपावधारणम्, तद्रूपता च प्रमाणस्य प्रमाणशब्दस्य निरुक्त्यैवाऽवसीयते। तथाहि–प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनाऽर्थः तत् प्रमाणम्, न चैतन्निर्विकल्पके संभवतीति कथं तत्र प्रमाणशब्दस्यापि प्रवृत्तिः? व्यवहाराऽनुपयोगित्वाच्च न तत्[5] प्रमाणम्, यद्व्यवहारानुपयोगि न तत् प्रमाणम् यथा गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनम्, तथा चैं परपरिकल्पितं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति। व्यवहारञ्चाङ्गीकृत्य भवद्भिः प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते, "*प्रामाण्यं व्यवहारेण*"[9] [प्रमाणवा० २।५] इत्याद्यभिधानात्। न चाऽविकल्पकस्य प्रवृत्त्यादिव्यवहारप्रसाधकत्वमस्ति; स्वार्थाऽनिश्चायकात्[10] ततोऽनध्यवसायादिवद् व्यवहारिणां क्वचित्प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेः।

[11]ननु निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षं व्यतिरिक्तविकल्पोत्पादकत्वतः प्रवर्तकत्वात् प्रमाणतां प्रतिपद्यते; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तस्याऽविदितस्वरूपस्य सन्निकर्षादविशेषप्रसङ्गात्, [13]तस्यापि हि इत्थं प्रवर्तकत्वमुपपद्यते। न च चेतनाऽचेतनत्वकृतस्तयोर्विशेषः; निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यापि चेतनत्वाऽप्रसिद्धेः। परनिरपेक्षतया स्वरूपोपदर्शकं हि चेतनमुच्यते, न चाऽविकल्पकाध्यक्षं स्वप्नेऽपि तथा[14] स्वरूपमुपदर्शयतीति कथं तच्चेतनं यतः सन्निकर्षाद्विशेष्येत? अतः तद्विशेष-

---

१–सत्वस्य ज०। २ "स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात् कल्पना यदि सम्मता। तदा लक्षणमेतत् स्यादसम्भाव्येव सर्वथा॥ १२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। ३ तु तत्र–भां०। ४–नं वा–ब०, ज०। ५ स्वार्थाऽव्यवसायात्मकत्वम्। ६–शब्दनिरु–ब०, ज०, भां०। ७ निर्विकल्पकम्। ८–चेदं प–ब०, ज०, भां०। ९ "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम्। अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम्॥" प्रमाणवा० २।५। १० अविकल्पकात्। ११ "तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति। अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाऽव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम्, तथा च प्रमाणफलम् अर्थाधिगमरूपत्वमनिष्पन्नम्, अतः साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम्।" न्यायबि० टी० पृ० २७। "अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः॥ १३०६॥" तत्त्वसं० पृ० ३९०। १२ सन्निकर्षस्यापि। १३–तनकृतः–आ०, ब०, ज०। १४ परनिरपेक्षतया।

मिच्छता व्यवसायात्मकं तत् प्रतिपत्तव्यम्, निर्व्यापारस्य अननुभूयमानस्वरूपस्यास्य अपरप्रकारेण सन्निकर्षाद् भेदाऽप्रसिद्धेः ।

ननु 'पश्यामि' इत्येवंभूतो विकल्प एवाऽध्यक्षस्य व्यापारः, तत्कथं निर्व्यापारता ? इत्यप्यसुन्दरम्; तद्व्यवसायात्मकत्वप्रसङ्गात् । न खलु व्यापारः तद्वतो भिन्नो भवद्भिरङ्गीक्रियते; तत्स्वभावत्वात्तस्य । अथ तत्कार्यत्वात् ततो भिन्नोऽसौ; कथं तर्हि तद्व्यापारः ? न हि पुत्रः पितुर्व्यापारो भवति । अस्तु वा; तथापि—यदि अविकल्पकाध्यक्षे व्यवसायस्वभावता न स्यात् तदा तत्प्रभवविकल्पेऽपि कुतोऽसौ स्यात् ? स हि बोधरूपतया, विलक्षणसामग्रीप्रभवतया वा व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात् ? यदि बोधरूपतया; तदाऽसौ प्रत्यक्षेऽप्यस्ति, इति तदपि व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्यात् । तदविशेषेऽपि 'यस्य साक्षादर्थे ग्रहणव्यापारः तन्न निश्चिनोति, यस्य तु तद्व्यापारोपजीवित्वम् असौ निश्चिनोति' इति असेः कोशस्य तीक्ष्णता । विलक्षणसामग्रीप्रभवता च अनयोः भेदे सिद्धे सिद्ध्येत्, न च विकल्पव्यतिरेकेण अविकल्पकस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रसिद्धम् । एकमेव हीदं स्वार्थव्यवसायात्मकमिन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं विज्ञानमनुभूयते, न तत्र स्वरूपभेदः सामग्रीभेदो वा कश्चित् कदाचित् कस्यचित् प्रतिभाति अन्यत्र महामोहाक्रान्तान्तःकरणात् सौगतात् । कथञ्चैवं बुद्धिचैतन्ययोर्भेदं प्रतिवर्णयन् साङ्ख्यः प्रतिक्षिप्येत ? विकल्पाऽविकल्पयोरिव अनयोरप्रतिपन्नस्वरूपयोरपि अभ्युपगममात्राद् भेदसिद्धिप्रसङ्गात् । तयोरेकत्वाध्यवसायाद् भेदेनाऽप्रतिपत्तिरित्यपि उभयत्र समानम् ।

किञ्च, उभयोर्भेदेन स्वरूपसंवितौ अन्यस्य अन्यत्राऽध्यारोपाद् एकत्वाध्यवसायो युक्तः अग्निमाणवकवत्, न च विकल्पाऽविकल्पयोः क्वचित् कदाचित् कस्यचित् संवित्तिरस्ति इत्युक्तम् । एकत्वाध्यवसायश्च अनयोः अन्यतरस्मात्, अन्यतो वा स्यात् ? अन्यतरस्माच्चेत्; 'किं विकल्पात्, निर्विकल्पकाद्वा ? न तावन्निर्विकल्पकात्; तस्य परामर्शशून्यतया एकत्वाध्यवसायाऽसमर्थत्वात् । नापि विकल्पात्; तस्य निर्विकल्पकाऽविषयत्वात् । यद् यद्विषयं न भवति न तत् तस्य केनचिदेकत्वमध्यवस्यति, यथा घटविषयं विज्ञानं परमाण्वविषयत्वान्न तस्य घटादिना एकत्वमध्यवस्यति, निर्विकल्पकाऽविषयश्चेदं विकल्पज्ञानमिति । तद्विषयत्वे वा स्वलक्षण-

---

१ "अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाऽभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत् । सन्निधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः ।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७५ । २ बोधरूपताऽविशेषेऽपि । ३ निर्विकल्पकस्य । ४ निर्विकल्पकव्यापार । ५ विकल्पः । ६ निर्विकल्पक-सविकल्पकयोः । ७ "कथञ्चैवं कापिलानां बुद्धिचैतन्ययोर्भेदोऽनुपलभ्यमानोऽपि न स्यात् ?" प्रमेयक० पृ० ८ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ७९ । ८ "तदेकत्वं हि दर्शनमध्यवस्यति, तत्पृष्ठजो व्यवसायो वा, ज्ञानान्तरं वा ?" प्रमाणपरी० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० ९ उ० । सन्मति० टी० पृ० ५०० । "कोऽयं तदध्यारोपो नाम ? दृश्यप्राप्ययोरेकत्वग्रहणम् इति चेत्; न तर्हि इदं प्रत्यक्षतः संभवति; तस्य स्वलक्षणपर्यवसितवस्तुविषयत्वेन अभ्यनुज्ञानात् ।"···न्यायवि० वि० पृ० ५४ उ० । ९ परमाणोः ।

विषयत्वं विकल्पानामपि स्यात्। अन्यतोऽपि पूर्वज्ञानात्, उत्तरज्ञानात्, अन्वितरूपात्प्रतिपत्तुर्वा तदेकत्वाध्यवसायः स्यात् ? न तावत्पूर्वज्ञानात्; तस्य[1] तत्काले प्रध्वस्तत्वात्। नापि उत्तरज्ञानात्; तत्काले तयोरभावात्। तथैव[2] तद्द्वयस्यापि निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा सतोर्न तदेकत्वाध्यवसायहेतुत्वं युक्तम्; उभयत्रोभयदोषानुषङ्गात्। नाप्यन्वितरूपात्प्रतिपत्तुः तदेकत्वाध्यवसायः; तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। ततः प्रतीतितो वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छता एकमेवानुभवसिद्धस्वार्थव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रतिपत्तव्यम्, स्वपरपरिच्छित्तेः सकलव्यवहारिणाञ्च[3] तन्मुखप्रेक्षित्वात्। तस्यैव 'अविकल्पकम्' इति नामान्तरकरणे न किञ्चिदनिष्टम्, संज्ञाभेदस्य अर्थभेदाऽप्रसाधकत्वात्। 'जात्याद्युल्लेखः कल्पना' इत्यप्ययुक्तम्[4]; जात्यादीनां विशेषणविशेष्यभूतानां परमार्थसतां व्यामोहविच्छेदेनावसायस्य कल्पनात्वोपपत्तेः।

यदप्युक्तम्-'यद् यदर्थसाक्षात्कारप्रवृत्तं ज्ञानम्' इत्यादि; तत्र कोऽयं विशेषणविशेष्याद्याकारो नाम योऽर्थसाक्षात्करणप्रवृत्ते ज्ञाने प्रतिषिद्ध्येत्-प्रतिबिम्बम्, उल्लेखो वा ? प्रतिबिम्बञ्चेत्; सिद्धसाध्यता, ज्ञाने तत्प्रतिषेधस्य अस्माभिरप्यभ्युपगमात्, सकलज्ञानानां निराकारत्वप्रतिज्ञानात्[5]। अथ उल्लेखः; तन्निषेधोऽनुपपन्नः; प्रमाणस्य यथावस्थितार्थस्वरूपोद्योतकत्वात्, तत्स्वरूपञ्च जात्यादिविशिष्टं 'गौः' 'शुक्लः' 'चरति' इत्यादिप्रत्ययात् प्रसिद्धम्। न खलु प्रतीयमानस्याऽपलापो युक्तः; सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गात्। जात्यादिसद्भावः तद्विशिष्टत्वञ्च अर्थानां विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अथ अस्पष्टाकारता विकल्पस्वरूपम्, तच्चास्य विकल्पकत्वादेव सिद्ध्यति; तथाहि-यत् सविकल्पकं ज्ञानं तदस्पष्टम् यथा अनुमानम्, तथाचेदं विवादापन्नं ज्ञानम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्[6]; निर्विकल्पकत्व-सविकल्पकत्वाभ्यां ज्ञानानां स्पष्टत्वाऽस्पष्टत्वयोरप्रसिद्धेः, स्वसामग्रीविशेषादेव तेषां तत्प्रसिद्धेः। कथमन्यथा प्रत्ययत्वात् प्रत्यक्षमपि अनुमानवदस्पष्टं न स्यात् ? अन्योन्याश्रयश्च; अस्पष्टाकारत्वे हि सिद्धे सविकल्पकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अस्पष्टाकारत्वसिद्धिरिति। किञ्च, अस्य अस्पष्टता विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वात्, एकत्वपरामर्शित्वात्[7], परोक्षाकारोल्लेखित्वाद्वा स्यात् ? तत्र आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; वस्तुस्वरूपस्य अस्पष्टत्वाऽहेतुत्वात्। यत्

१ पूर्वज्ञानस्य निर्विकल्पकसविकल्पककाले। २ तथैतद्द्वयस्यापि ब०, ज०। ३-हाराणा- ब०, ज०। ४ स्वार्थव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष। ५ "न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्याऽसिद्धमञ्जसा। निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्ताऽऽरेकितत्त्वतः ॥ १९ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६। ६ पृ० ४७ पं० ६। ७-कारित्व-ज०। ८ "विकल्पज्ञानं हि सङ्केतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णत् शब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। सङ्केतकालदृष्टत्वञ्च सङ्केतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं सम्प्रत्यसत् तद्वत्पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि सम्प्रति नास्ति वस्तुनः, तद् असद्रूपं वस्तुनो गृह्णद् असन्निहितार्थग्राहित्वात् अस्फुटाभम्। अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम्।" न्यायवि० टी० पृ० २१। ९-तम् विकल्पत्वाविकल्पत्वाभ्याम् भां०।

खलु वस्तुस्वरूपं तन्नाऽस्पष्टत्वहेतुः यथा नीलत्वादि, वस्तुस्वरूपश्च विशेषणविशिष्टत्वादिकमिति । परोक्षाकारोल्लेखित्वश्च यत्रास्ति तत्र अस्पष्टत्वमप्यस्तु, नान्यत्र । न हि सर्वत्र विकल्पः परोक्ष एवार्थे प्रवर्तते; वर्तमाने पुरोवर्तिन्यप्यर्थे स्पष्टाकारोल्लेखमुखेन तत्प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

नापि अर्थसन्निधिनिरपेक्षता[1] विकल्पलक्षणम्; पुरोवर्तिन्यर्थे सत्येव अस्येदन्तया प्रवृत्तेः, न हि ईदृशो विकल्पोऽसन्निहितेऽर्थे संभवति । अतश्च सन्निहितार्थलक्षणत्वेऽपि यदि अस्याऽप्रत्यक्षता, न किञ्चित् प्रत्यक्षं स्यात् । ५

नापि अनक्षप्रभवता तल्लक्षणम्; अक्षाऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वतः अक्षप्रभवत्वस्यात्रैवावसायात्, न हि निर्विकल्पकम् अक्षव्यापारानन्तरं कदाचिदप्युपलभ्यते । अर्थसाक्षात्कारिणश्चास्याऽक्षप्रभवत्वं भवति । न चाऽविकल्पस्य तत्साक्षात्कारित्वं संभवति; स्वरूपेणाप्यस्याऽप्रसिद्धत्वात् । यत् स्वरूपेणाऽप्रसिद्धं न तद् अर्थसाक्षात्कारि यथा वन्ध्यास्तनन्धयविज्ञानम्, स्वरूपेणाप्रसिद्धश्च अविकल्पकत्वाभिमतं विज्ञानमिति । १०

धर्मान्तरारोपोऽपि न तल्लक्षणम्; विकल्पे हि कस्य धर्मान्तरमारोप्यते ? निर्विकल्पकस्य चेत्; किं तद्धर्मान्तरम् ? वैशद्यञ्चेत्; 'वन्ध्यासुतसम्बन्धि तत् तत्रारोप्यते' इत्यपि किन्न स्यात् ? 'तस्य तद्धर्माधारतयाऽप्रसिद्धेः कथं तत् तत्रारोप्यते' इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु निर्विकल्पमपि प्रामाणिकस्य अनन्यमनसो विस्फारिताक्षस्य तद्धर्माधारतया कदाचिदपि प्रसिद्धम्, इति अक्षव्यापारप्रभवं वैशद्याध्यासितं स्वार्थसाक्षात्कारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रतिपत्तव्यम् । ततो भवत्परिकल्पितप्रत्यक्षलक्षणस्याऽनुपपत्तेः 'स्वसंवेदनेन्द्रिय' इत्यादिना तद्भेदोपवर्णनम् आकाशकुशेशयसौरभव्यावर्णनप्रख्यमित्युपेक्षते । १५

---

१ "कुतः पुनरेतद् विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यत इति ? अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात् ।" न्यायबि० पृ० १५ । २ विकल्पस्य । ३-**णश्चाक्ष**-ब०, ज०, भां० । ४ निर्विकल्पकस्य । ५ विकल्पलक्षणम् । ६ वैशद्यारोपस्य भङ्गयन्तरेण विस्तृतचर्चा न्यायविनिश्चयटीकायाम् (पृ० ४२-४७) द्रष्टव्याम् । ७ **वन्ध्यासुतसमन्वितं न चारोप्यते** ब०, ज० । ८ वैशद्यम् । ९ विकल्पे । १० वन्ध्यासुतस्य वैशद्यधर्माधारतया । ११ बौद्धसम्मतं केवल निर्विकल्पकप्रामाण्यपक्षं वैयाकरणसम्मतं केवलसविकल्पकप्रामाण्यपक्षञ्च निराकृत्य निर्विकल्पकसविकल्पकोभयप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं कुमारिलेन चर्चा कृतास्ति मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० ८६-१४५ । सैव चर्चा वाचस्पतिमिश्रेण न्यायवा० ता० टीकायाम् (पृ० १३३-१३७) भट्टजयन्तेन न्यायमञ्जर्य्याम् (पृ० ९२-१००) श्रीधराचार्येण च प्रशस्तपा० कन्दल्यां (पृ० १८९-१९४) भङ्ग्यन्तरेण विस्तरमुपनीता दृश्यते । सामान्यतो निर्विकल्पकप्रामाण्यप्रत्यवस्थानं प्रकरणपञ्जिकायाम् (पृ० ४७-५१) द्रष्टव्यम् । "प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं न्यशक्यम् । विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावकद्वेषिणि वीर सत्यम् ॥ ३३ ॥" इत्यनेन प्रतिषिद्धं युक्त्यनुशासने निर्विकल्पकलक्षणम् । निर्विकल्पकस्य विविधरीत्या खण्डनं तु-तत्त्वार्थरा० पृ० ३९ । अनेका० प० पृ० २०७ । सिद्धिवि० टी० प्रत्यक्षसि० पृ० ३२ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणपरी० पृ० ५३ ।

एतदेवाह–'**न वै**' इत्यादि। **न वै** नैव **ज्ञानमित्येव** ज्ञानमित्येतावतैव **प्रमाणम्**। कुत एतत्? अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसङ्गमेव दर्शयति '**संव्यवहार**' इत्यादिना। समीचीनः सङ्गतो वा वादिप्रतिवादिनोऽविप्रतिपत्तिभूतो **व्यवहारः** हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणः संज्ञानादिलक्षणो वा, तत्र **अनुपयोगिनः**। कस्य? **ज्ञानस्य**। पुनरपि कथम्भूतस्य? इत्यत्राह–'**संशय**' इत्यादि। 'इयं शुक्तिका रजतं वा' इति ज्ञानं **संशयः**। 'रजते शुक्तिका' इति, 'शुक्तिकायां रजतम्' इति वा ज्ञानं **विपर्ययः**। **तत्कारणस्य** तत्कारणत्वादेव तदनुपयोगिनः **भावाऽविरोधात्** सत्त्वाऽविरोधात्। अयमर्थः–यथा संशयादिहेतोर्ज्ञानस्य ज्ञानत्वे सत्यपि संव्यवहारानुपयोगित्वान्न प्रामाण्यम्, तथा भवत्परिकल्पितनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यापि।

विवृतिव्याख्यानम्–

अत्र वादिनां विवेकाख्याति-अख्याति-असत्ख्याति-प्रसिद्धार्थख्याति-आत्मख्याति–प्रसिद्धार्थख्याति-सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्याति–अलौकिकार्थख्याति-विपरीतार्थख्यातिरूपा विप्रतिपत्तयः सन्ति। तत्र–

प्रभाकरमतानुसारिणो विवेकाऽख्यातिं विपर्ययज्ञाने प्रतिपन्नाः। तथाहि–'इदं रजतम्' इत्यन्योन्यं[2] विभिन्नं ज्ञानद्वयं[3] प्रत्यक्ष-स्मरणरूपम् विभिन्नकारणप्रभवत्वाद् विभिन्नविषयत्वाच्च सिद्ध्यत्येव। इन्द्रियं हि इदमंशोल्लेखिनः प्रत्यक्षस्य कारणम्, संस्कारश्च स्मरणस्य, इति सिद्धमत्र विभिन्नकारणप्रभवत्वम्। ययोश्च विभिन्नकारणप्रभवत्वं तयोरन्योन्यं भेदः यथा प्रत्यक्षानुमानयोः, विभिन्नकारणप्रभवत्वञ्च 'इदम्' 'रजतम्' इति ज्ञानद्वयस्य। विभिन्नविषयत्वञ्चात्र सुप्रसिद्धम्–'इदम्' इति ज्ञानस्य पुरोवर्तिशुक्तिशकलावलम्बनत्वात्, 'रजतम्' इति ज्ञानस्य च व्यवहितरजतविषयत्वात्। यत्र च विभिन्नविषयत्वं तत्रान्योन्यं भेदः यथा रूप-रसादिज्ञाने, अस्ति च विभिन्नविषयत्वम् 'इदं रजतम्' इति ज्ञाने इति। इत्थं प्रत्यक्षात् स्मृतिर्विभिन्नापि 'प्रमुष्टा' इति न विवेकेन प्रतिभासते इत्यविवेकख्यातिः, न तु एकमेवेदं ज्ञानम्; तथात्वेन तदुत्पत्तौ कारणाऽभावात्। तत्र हि कारणम्-इन्द्रियम्, अन्यद्वा? न तावदन्यत्; उपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियम्; तद्धि रजतसदृशे शुक्तिशकले सम्प्रयुक्तं सत् तत्र निर्विकल्पकमुपजनयत् सविकल्पकमपि तत्रैवोपजनयेत् न रजते; तस्य इन्द्रियेणाऽसम्बन्धाद् अवर्तमानत्वाच्च।

विपर्ययज्ञाने विवेकाऽख्याति-वादिनः प्राभाकरस्य पूर्वपक्षः–

प्रमेयक० पृ० ८ उ०। न्यायवि० वि० पृ० ३८४ पू०। सन्मति० टी० पृ० ४९९। स्या० रत्ना० पृ० ७६। रत्नाकराव० पृ० १८। शास्त्रवा० टी० पृ० १५६। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

१ विपर्ययविषये। २–**न्य वि**–भां०। ३ "विज्ञानद्वयञ्चैतद् इदमिति प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्।" बृह० टी० पृ० ५१। प्रकरणपं० पृ० ४३। ४ "न ह्यन्यसम्प्रयुक्ते चक्षुष्यन्यालम्बनस्य ज्ञानस्य उत्पत्तिः संभवति अन्धस्याऽनुत्पादात्।" बृह० पृ० ५०। "न हि तदिन्द्रियजम् तेन सम्प्रयोगाऽभावात्, असंयुक्ते च इन्द्रियं विज्ञानं न जनयति" बृह० टी० पृ० ५१। प्रकरणपं० पृ० ३४।

न चाऽसम्बद्धमवर्तमानञ्चेन्द्रियग्राह्यम् "*सम्बद्धं वर्त्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना*" [मीमां० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४] इत्यभिधानात्। अन्यथा विप्रकृष्टाऽशेषार्थानामपि तद्ग्राह्यत्वप्रसङ्गतोऽनुपायसिद्धमशेषस्य अशेषज्ञत्वं स्यात्। न च दोषाणामयं महिमा इत्यभिधातव्यम्; यतः कोऽयं तन्महिमा नाम–इन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः[3], तत्प्रध्वंसः, विपरीतज्ञानाविर्भावो वा? तत्र आद्यविकल्पद्वयमयुक्तम्; कार्यानुत्पादप्रसङ्गात्, न हि मणिमन्त्रादिना दहनशक्तेः प्रतिबन्धे प्रध्वंसे वा स्फोटादिकार्योत्पत्तिर्दृष्टा। तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; न खलु दुष्टा यवा विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्तः प्रतीयन्ते। अतः ज्ञानद्वयमेतत्–'इदम्' इति हि प्रत्यक्षं पुरोव्यवस्थितार्थग्राहि, 'रजतम्' इति च अनुभूतरजतस्मरणमिति। रजताकारा हि प्रतीतौ रजतविषयैव न शुक्तिविषया, अन्याकारायाः प्रतीतेः अन्यविषयत्वाऽयोगात्, तद्योगे वा सर्वं ज्ञानं सर्वविषयं स्यात्, इति सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः। प्रयोगः–यद् यदाकारं ज्ञानं तत् तद्विषयमेव यथा घटाकारं घटविषयमेव, रजताकारश्चेदं ज्ञानमिति। यदि च अन्याकारापि प्रतीतिः अन्यविषया स्यात्, तदा अस्याः स्वार्थव्यभिचारतः सर्वत्राप्यनाश्वासान्न क्वचित् कस्यचित् प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कुतश्चित् इत्यशेषव्यवहारोच्छेदः। ततः रजताकारं ज्ञानं रजतविषयमेवाभ्युपगन्तव्यम्। न च रजतमग्रतः सन्निहितम्, अतोऽतीतमेव तत् तदा स्मर्यत इति। न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षम्; इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजत्वाऽभावात्, अगृहीतरजतस्य 'इदं रजतम्' इति प्रत्ययानुत्पत्तेश्च। यदि हि तत्प्रत्यक्षं स्यात् तदाऽगृहीतरजतस्यापि इन्द्रियव्यापारात् तदुत्पद्येत।

ननु यदि अतीतं रजतं स्मर्यते तदाऽतीतस्यास्य अतीततयैव प्रतिभासः स्यात्, न तु वर्तमानरजततुल्यतया; इत्यप्यपेशलम्; अतीतस्यापि रजतस्य दोषतोऽतीतत्वेनाऽप्रतिभासनात्, वर्तमानस्य च शुक्तिलक्षणार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं 'शुक्तिकेयम्' इति तल्लक्षणमर्थं स्वरूपेण

---

१ 'सन्निहितं वर्त्तमानञ्च'.....सिद्धिवि० टी० पृ० ४१३। '.....गृह्यते चक्षुरादिभिः' अष्टसह० पृ० ४५। २ "यदि चाऽप्रत्यक्षमपि चक्षुरध्यक्षयति सर्वस्य सर्ववित्त्वं केन वार्येत?" प्रश० भा० कन्द० पृ० १८०। ३–बन्धं प्रध्व–आ०, ब०, ज०। ४ "युक्तञ्च दुष्टतायाः कार्याऽक्षमत्वं न पुनः कार्यान्तरसामर्थ्यम्।" बृहती पृ० ५३। "दौर्बल्यञ्च कार्याऽक्षमत्वं न कार्यान्तरोत्पत्तिसमर्थत्वम्।" बृहती पृ० ५७। ५ "इदं रजतमित्यत्र रजतञ्चाऽवभासते। तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥२४॥ तेनाऽन्यस्यान्यथा भानं प्रतीत्यैव पराहृतम्। परस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः ॥२५॥" प्रकरणपं० पृ० ३३। ६ "रजतप्रतिपत्तिश्च नेयमन्धस्य जायते। तेनेयमिन्द्रियाधीना संयुक्ते चेन्द्रियं धियम् ॥ १२ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३३। ७ विषयान्तरसादृश्यमवलम्ब्य अगृहीतविवेकं यत् ज्ञानमुत्पन्नं तत्सदृशविषयान्तरे स्मृतिहेतुतां प्रतिपद्यते 'स्मरामि' इति ज्ञानशून्यस्य।" बृहती पृ० ५१। "उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम् ॥ २६ ॥ शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः। ते न ज्ञाता अभिभवाज् ज्ञाता सामान्यरूपता ॥ २७ ॥ अनन्तरञ्च रजते स्मृतिर्जाता तथापि च। मनोदोषात् तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम् ॥ २८ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३४। ८ स्वस्वरूपेण ज०।

प्रतिपत्तुमसमर्थम् । शुक्तित्वलक्षणविशेषणस्य रजताच्छुक्तेर्भेदकस्याऽग्रहणात्, साधारणात्मना तु रजतान्वयिना स्थितं वस्तु प्रतिपद्यमानं रजतस्मृतिज्ञानस्य 'स्मरामि' इत्याकारशून्यस्य कारणतां प्रतिपद्यते । 'स्मरामि' इत्याकारशून्यत्वमेव चास्याः प्रमोषः । 'रजतमिदम्' इति सामानाधिकरण्यं समीचीनसन्निहितरजतप्रत्ययतुल्यव्यवहारत्वञ्चात्र न दुर्घटम्; भेदाऽ-
५ ग्रहतः तद्घटनात् । भेदाऽग्रहश्च त्रिप्रकारः; तथा हि—प्रकाश्ययोर्भेदो न गृह्यते, प्रकाशकयोः भेदो न गृह्यते, सम्यग्ज्ञानाच्च भेदो न गृह्यते इति च । न चैं स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमे रजतज्ञानस्य सत्यत्वात् उत्तरज्ञानेन बाध्यतानुपपत्तिरित्यभिधातव्यम्; 'शुक्तिकेयम्' इति भेदबुद्धौ भेदाऽनध्यवसायनिवारणेन पूर्वप्रत्ययप्रशंसितरजतोचितप्रवृत्त्यादिव्यवहारनिवारणतः तस्या उपपत्तेः । ये तुं स्मृतिप्रमोषमनिच्छन्तः शुक्तौ रजतप्रतिपत्तिं विपरीतख्यातिं प्रतिपद्यन्ते तेषां
१० बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति; तद्दृष्टान्तेनाऽशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात् । यथैव हि रजतप्रत्ययो रजताऽभावेऽपि रजतमवभासयति तथा सर्वे बाह्यार्थप्रत्ययास्तदवभासिनः इत्यद्वैतवादिमतसिद्धिः स्यात् । तामनिच्छता तत्र स्मृतिप्रमोषः एवाभ्युपगन्तव्य इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[१०]—'विभिन्नकारणप्रभवत्वात्' इत्यादि; तत्र किं

---

१ "शुक्तिकायां रजतज्ञानं 'स्मरामि' इति प्रमोषात् स्मृतिज्ञानमुक्तं युक्तं रजतादिषु ।" बृहती पृ० ५३ । "स्मरामि इति ज्ञानशून्यानि स्मृतिज्ञानान्येतानि ।" बृहती पृ० ५५ । २ "ग्रहणस्मरणे चैमे विवेकाऽनवभासिनी ॥ ३३ ॥ सम्यग्रजतबोधात्तु भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः । तथापि भिन्ने नाऽभातः भेदाऽग्रहसमत्वतः ॥ ३४ ॥ सम्यग्रजतबोधश्च समक्षैकार्थगोचरः । ततो भिन्ने अबुद्ध्वा तु स्मरणग्रहणे इमे ॥३५॥ समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः । व्यवहारोऽपि तत्तुल्यः तत एव प्रवर्तते ॥३७॥ समत्वेन च संवित्तेः भेदस्याऽग्रहणेन च ।" प्रकरणपं० पृ० ३४ । "तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाऽग्रहात् सन्निहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण 'इदम्' 'रजतम्' इति भिन्ने अपि स्मरण-ग्रहणे अभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्यव्यपदेशञ्च प्रवर्तयतः ।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८ । भामती पृ० १४ । ३—**हारकत्व**—भां० । ४ "बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमतो मतम् ॥ ३९ ॥ प्रसज्यमानरजतव्यवहारनिवारणात् ॥ ४० ॥ तत्तुल्यव्यवहारप्रसक्तिरपि युज्यते चातः । तद्विनिवारणकरणाद् बाधकता बाधकस्याऽपि ॥ ४३ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३५ । "भेदाऽग्रहप्रसञ्जिताऽभेदव्यवहारबाधनाच्च नेदं रजतमिति विवेकप्रत्ययस्य बाधकत्वमपि उपपद्यते ।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८ । भामती पृ० १४ । ५—**निराकरणेन** भां० । ६ **तस्यानुपपत्तेः** ब०, ज० । ७ "ये तु विवेकाऽख्यातेर्द्विषन्तः शुक्तौ रजतप्रतीतिं ख्यापन्ति न ते सद्ख्यातिविदः, इत्थं हि तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति" स्या० रत्ना० पृ० १०७ । ८—**रीतार्थख्या**—भां० । ९ 'सोऽयं स्मृतिप्रमोषः तत्त्वाऽग्रहणम् अख्यातिरुच्यते, ते एते ग्रहणस्मरणे विविक्ते अपि विविक्ततया न गृह्येते इति विवेकाऽग्रहणम् अख्यातिः' (न्याय मं० पृ० १७९) इत्यादिना भट्टजयन्ताः स्मृतिप्रमोषम् अख्यातिपदेन व्यपदिशन्ति । अन्ये च वाचस्पतिमिश्रप्रमुखाः भामत्यादौ विवेकाऽख्यातिपदेन । १० पृ० ५२ पं० १४ ।

स्मृतिप्रमोषापर-पर्यायायाः विवेकाख्यातेः प्रतिविधानम्-

कारणभेदमात्रात् कार्यभेदः प्रसाध्यते, सामग्रीभेदाद्वा ? प्रथमपक्षे न किञ्चिदेकं ज्ञानं स्यात्, आलोकेन्द्रियादिभिरनेकैः कारणैर्जन्यमानस्य घटादिज्ञानस्याप्यनेकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; सामग्रीभेदस्यात्राऽसंभवात्, चक्षुरादिकारणकलापैस्यैकस्यैव तत्कारणत्वात्। कार्यभेदकल्पत्वाच्च तद्भेदस्य, न चात्र कार्यभेदोऽस्ति। ननु 'रजतमिदम्' इति स्मृतिप्रत्यक्षरूपः कार्यभेदोऽत्र विद्यत एव, अतः सामग्रीभेदः कल्प्यत इति चेत्; न; अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्-सिद्धे हि सामग्रीभेदे 'रजतमिदम्' इत्यत्र स्मृतिप्रत्यक्षरूपतया कार्यभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सामग्रीभेदसिद्धिरिति।

एतेन 'ययोर्विभिन्नकारणप्रभवत्वम्' इत्याद्यनुमानं प्रत्युक्तम्; तयोर्हि भेदे सिद्धे विभिन्नकारणप्रभवत्वं सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च तयोर्भेदः सिद्ध्येदिति। तथा च 'इन्द्रियं हि प्रत्यक्षस्य कारणम्' इत्यादिस्वप्रक्रियाप्रदर्शनमनुपपन्नम्। यदि चान्यत्र इन्द्रियसंस्कारयोः स्मृतिप्रत्यक्षकारणत्वेन प्रतिपन्नत्वाद् अत्रापि तत्कार्यभेद इष्यते; तर्हि प्रत्यभिज्ञानस्यापि एकत्वं न स्यात् संस्कारेन्द्रियप्रभवत्वाऽविशेषात्। अथात्र कार्यस्यैक्यदर्शनात् तावत्येकैव सामग्री कल्प्यते; तदितरत्र समानम्। तथा च 'नैकमेवेदं ज्ञानं कारणाभावात्' इत्याद्ययुक्तम्; चक्षुरादिसामग्र्या एव तत्कारणत्वात्। न च कार्यप्रतीतौ कारणाभावाऽऽशङ्का युक्ता, तत्प्रतीतेरेव तत्सद्भावप्रसिद्धेः। न खलु निर्हेतुका कार्यस्योत्पत्तिरुपलब्धचरी। तन्न कारणभेदादस्य भेदः।

नापि विषयभेदात्; शुक्तिशकलस्यैकस्यैव एतज्ज्ञानविषयत्वात्। पुरोवर्तमानं हि शुक्तिशकलं चक्षुरादयः काचकामलादिदोषोपनिपाताद् रजतरूपतया दर्शयन्ति। कथमन्यथा शुक्तिसन्निधानानपेक्षस्तज्ज्ञानस्य आविर्भावो न भवेत् ? तर्हि तत्र कारणतामात्रेण व्याप्रियेत, विषयतया वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सत्यरजते चक्षुराद्यभाव इव शुक्तिशकलाभावेऽपि रजतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पे तु सिद्धं शुक्तिविषयत्वं तज्ज्ञानस्य। एकार्थविषयमेकमेव हि 'इदं रजतम्' इति ज्ञानमनुभूयते, इदंशब्दो ह्यत्र पुरोवर्तितामात्रं परामृशति, रजतशब्दस्तु रजतरूपतामात्रं न पुनर्विषयान्तरम्, तदत्र ज्ञाने कथं भेदाशङ्का स्यात् ? सत्यरजतज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात्, तयोः स्वरूपमात्रप्रतिभासे विशेषाभावात्।

यच्चान्यत्-'दोषैरिन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतो नैं तैस्तस्याः प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते, किन्तु स्वसन्निधाने 'रजतमिदम्' इति ज्ञानमेवोत्पाद्यते। दोषाणां चायमेव महिमा यदविद्यमानेप्यर्थे ज्ञानोत्पादकत्वन्नाम।

---

१ "तत्र विभिन्नकारणजन्यत्वादिभ्यः सामग्र्यन्तर्गताऽनेककारणभेदात् प्रस्तुतकार्यभेदः सिसाधयिषतः, सामग्रीभेदाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १०९। २-लापस्यैव त-आ०, भां०। ३ सामग्रीभेदस्य। ४ कार्यप्रतीतेरेव। ५ कारणसद्भाव। ६ शुक्तिशकलं। ७-त्वं ज्ञानस्य भां०। रजतज्ञानस्य। ह्यदन्यत्र भां०। ९ पृ० ५३ पं० ४। १० "न दोषैः शक्तेः प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते" प्रमेयक० पृ० १५ पू०। ११-त्पद्यते आ०, ब०।

यदप्युक्तम्[1]–'न खलु दुष्टा यवाः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतो दुष्टस्य अयमेव धर्मो यत्कार्यानुत्पादकत्वं विपरीतकार्योत्पादकत्वं वा दुष्टभृत्यवत्, तच्चोभयमपि यवादावस्त्येव अङ्कुरलक्षणकार्यानुत्पादकत्वस्य उपयुक्तानामुदरव्यथादिविपरीतकार्योत्पादकत्वस्य च प्रतीतेः। 'ननु दुष्टस्य कार्योत्पादकत्वं विरुद्धम्[2]' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्; तस्य हि अविपरीतकार्योत्पादकत्वं विरुद्धं न पुनर्विपरीतकार्योत्पादकत्वम्। अथ कार्योत्पादकत्वमात्रमपि तत्र विरुद्धम्; तर्हि कथं ततः स्मृतिप्रमोषलक्षणकार्योत्पादः स्यात्? ततः युक्तो दोषतो विपरीतज्ञानस्य शुक्तिशकलविषयतयोत्पादः। अतो न विषयभेदात्तज्ज्ञानस्य भेदः। पञ्चाङ्गुलादिज्ञानेन[3] अनेकान्ताच्च; न खलु विषयभेदेऽप्यस्य[4] भेदः संभवतीति।

किञ्च, रजतज्ञानस्य शुक्तिशकलाऽविषयत्वे किं निर्विषयत्वम्, अतीतरजतविषयत्वं वा स्यात्? न तावन्निर्विषयत्वम्; 'रजतमिदम्' इति विषयोल्लेखप्रतीतेः। नाप्यतीतरजतविषयत्वम्; अतीततयैव तत्र रजतप्रतिभासप्रसङ्गात्, तथा च तत्प्राप्त्यर्थिनाम् अतः प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति; अतीतस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्। अतः[5] वर्तमानपुरोवर्तिशुक्तिशकलविषयमेव तज्ज्ञानं प्रतिपत्तव्यं तत्रैव प्रवृत्तिहेतुत्वात्, यद् यत्रैव प्रवृत्तिहेतुः तत् तद्विषयमेव यथा सत्यरजते रजतज्ञानम्, वर्तमाने पुरोवर्तिन्येव शुक्तिशकले प्रवृत्तिहेतुश्चेदं ज्ञानमिति। अथ अतीतरजतविषयत्वेऽप्यस्य दोषतोऽतीतस्य रजतस्य शुक्तिकातो भेदाऽग्रहणात् तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वम्; तन्न; भेदाऽग्रहमात्रस्य पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः, पुरोवर्तितया रजतप्रतिभासो हि तत्प्रवृत्तिहेतुः न पुनर्भेदाऽग्रहः। अथ अतीतरजतविषयत्वेऽप्यस्य रजतप्रतिभासस्य पुरोवर्तिसत्यरजतप्रतिभासतुल्यत्वात् पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वम्, तत्तुल्यता च ततो भेदानवसायः इति चेत्; नन्वेवं वर्तमानानवभासितया अतीतरजतावभासिज्ञानतुल्यताप्यस्यास्ति इति तत्तुल्यतया[6] तदप्रवृत्तिहेतुताऽप्यस्य स्याद् अविशेषात्[7]। तथा[8] चाऽयं रजतज्ञानवान् पुरोवर्तिनि शुक्तिशकललक्षणेऽर्थे प्रवर्तेत निवर्तेत वा युगपत्परस्परविरुद्धक्रियाद्वयमापन्नः किं कुर्यात्? न च 'तत्तुल्यताऽविशेषेऽपि एकत्र स्वोचितव्यवहारप्रवर्तकत्वं नान्यत्र इत्यभिधातुं युक्तम्; अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्। ततः शुक्तिशकलस्यैव 'रजतमिदम्' इत्येतज्ज्ञानविषयता प्रतिपत्तव्या। इति न विषयभेदादपि अस्य ज्ञानस्य भेदः।

अथ विभिन्नाकारत्वात् तत्र तद्भेदः[9] प्रसाध्यते; तदयुक्तम्; यतो[10] नाऽऽकारभेदादपि तद्भेदः चित्रज्ञानेन प्रत्यभिज्ञानेन[11] चानेकान्तात्, तद्धि अनेकाकाराक्रान्तमपि एकमेव[12], एवम् 'रजत-

१ पृ० ५३ पं० ६। २–रुद्धमप्यनेन भां०। ३ पञ्चाङ्गुलादिज्ञानस्य। ४ "तत्सिद्धमेतद् विवादाध्यासितं रजतादिविज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनः तत्र नियमेन प्रवर्त्तकत्वात्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ९०। ५ अतीतरजतावभासिज्ञानतुल्यतया। ६ अतिविशेषात् भां०। ७ यथा भां०। ८ 'पुरोवर्तिसत्यरजतप्रतिभासः अतीतरजतावभासिज्ञानञ्च' एतदुभयतुल्यता। ९ ज्ञानभेदः। १० "यतो नाकारभेदादपि ज्ञानस्य भेदः संगच्छते; प्रत्यभिज्ञानेन व्यभिचारात्" स्या० रत्ना० पृ० ११५। ११–ज्ञानेनानेनचा–ब०, ज०। १२ एकमेवं रज–ब०, ज०। एकमेव रज–भां०।

मिदम्' इत्यादिज्ञानमपि। अतः तज्ज्ञानस्य कुतश्चिद्भेदाऽप्रसिद्धेः एकत्वमेवाभ्युपगन्तव्यं तथैव *तत्स्वरूपप्रकाशनात्; यस्य यथैव स्वरूपं प्रकाशते तत् तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा सत्यरजतादौ* 'रजतमिदम्' इत्यादिज्ञानस्यैकत्वेन प्रकाशमानं स्वरूपम् एकत्वेनैवाभ्युपगम्यते, एकत्वेनैव प्रकाशते च शुक्तिकाशकले 'रजतमिदम्' इति ज्ञानस्य स्वरूपमिति। न हि प्रतिभासकृतं विशेषमुभयत्र कश्चित्पश्यामः, येन एकत्रैकं ज्ञानम् अन्यत्र तु द्वयं प्रतिपद्यामहे। एतत्तु- ५
स्यात्—एकं प्रमाणं यथावस्थितवस्तुस्वरूपग्राहित्वात्, अपरं त्वप्रमाणं तद्विपर्ययादिति।

अस्तु वा ज्ञानद्वयम्; तथापि युगपत्, क्रमेण वाऽस्योत्पत्तिः स्यात्? न तावद्युगपत्; ज्ञान-यौगपद्यप्रसङ्गात्, 'करणस्य क्रमेणैव ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यम्' इत्यभ्युपगमक्षतिप्रसङ्गाच्च। क्रमे-णोत्पत्तावपि 'इदम्' इति प्रत्यक्षात् पूर्वम्, उत्तरत्र वा रजतस्मृतिः स्यात्? तत्राद्यविकल्पो-ऽयुक्तः; तदा स्मृतिबीजस्य संस्कारस्य प्रबोधकप्रत्ययाऽपायात्। प्रबुद्धे च संस्कारे स्मृतिरुत्पद्यते १०
नाप्रबुद्धे अतिप्रसङ्गात्। अथ निर्विकल्पकात् तत्संस्कारप्रबोधः; तर्हि सविकल्पकेन सह रजत-स्मृतेर्यौगपद्यप्रसङ्गात् सैवाभ्युपगमक्षतिः। 'न च निर्विकल्पकं ज्ञानं कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्धम्' इत्युक्तं सविल्पैकसिद्धौ। अथ पश्चादुत्पद्यते; तन्न; यस्मात् 'इदम्' इति प्रत्यक्षात् पश्चादुत्पद्य-मानं रजतज्ञानं निरुद्धव्यापारेऽपि चक्षुषि उत्पद्येत, तथा च निमीलिताक्षस्यापि तज्ज्ञानानुभवः
स्यात्। प्रतीतिविरुद्धा च तत्क्रमोत्पत्तिः, न खलु पूर्वं पुरोवर्तिशुक्तिशकलं गृहीत्वा पश्चाद् १५
रजतं स्मरामि इति तत्संवेदनयोः स्वप्नेऽपि क्रमप्रतीतिरस्ति, रजतात्मकं पुरोवर्ति वस्तु सकृदेव प्रतिभाति इत्यखिलजनानां प्रतीतेः, अन्यथा बाधकोपनिपाते सति 'नेदं रजतम्' इति तादा-त्म्यप्रतिषेधो न स्याद् अप्रसक्तत्वात्तस्य। अस्ति चायम्—अङ्गुलिनिर्देशेन शुक्तिशकलस्य रजत-तया प्रतिषेधप्रतीतेः। अतः यद् यत्र प्रतिषिध्यते तत् तत्र प्रसक्तम् यथा क्वचित्प्रदेशे घटः, प्रतिषिध्यते च पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले रजतमिति। २०

नन्वेवमपि घट-भूतलयोरिव शुक्ति-रजतयोः संयोगनिषेधो भविष्यति; इत्यप्यसुन्दरम्; तद्वदत्र वैयधिकरण्याऽप्रतीतेः, न खलु यथा 'नास्त्यत्र घटः' इति वैयधिकरण्यप्रतीतिः तथा 'नेदं रजतम्' इत्यत्रापि। यत्र च वैयधिकरण्यप्रतीतिर्नास्ति न तत्र संयोगनिषेधः यथा 'नेदं नीलम्' इत्यादौ, नास्ति च 'इदं रजतम्' इत्यादौ वैयधिकरण्यप्रतीतिरिति। यथैव हि अद्वैत-वादिना विश्वस्यैकत्वमभ्युपगच्छता पीतस्य नीलात्मकत्वं यदारोपितं तदेव 'नेदं नीलम्' इत्यनेन २५
प्रतिषिध्यते, तथा शुक्ति-रजतयोर्यत् तादात्म्यं पूर्वविज्ञानेनारोपितं तदेव 'नेदं रजतम्' इत्यनेन बाधकेन अपनीयते, नतु इदमंशो रजतांशो वा निषिध्यते। तथा च सतः शुक्तिशकलस्य या रजतात्मकताप्रतीतिः सा अवस्थितरूपविरुद्धत्वाद् विपरीतख्यातिः न पुनः स्मृतिप्रमोषः।

---

१ सत्यरजतज्ञाने मिथ्यारजतज्ञाने च। २ सत्यरजतज्ञाने। ३ मिथ्यारजतज्ञाने। ४ "तस्य किं यौगपद्येन पर्यायेण वा प्रादुर्भावः स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० ११९। ५ पृ० ४९ पं० ११। ६ तत्प्रमो-त्पत्तिः भां०। ७—तापि तस्य भां०, आ०। ८—क्तिकाश—भां०। ९ सा च स्थित—ब०, ज०।

किञ्च, [1]कोऽयं स्मृतेः प्रमोषो नाम–विनाशः, प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायः, प्रत्यक्षरूपतापत्तिः, तदित्यंशस्याननुभवः, तिरोभावमात्रं वा ? यदि विनाशः; तदा साध्यसाधनसम्बन्धस्मृतेः साध्यप्रतिपत्तिकाले विनाशात् तत्रापि स्मृतिप्रमोषः स्यात्। अथ प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायोऽस्याः प्रमोषः; ननु कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः–विषयैकत्वाध्यवसायात्, स्वरूपैकत्वाध्यवसायाद्वा ? प्रथमविकल्पे कोऽयं विषयैकत्वाध्यवसायो नाम ? अन्यतरविषयस्यान्यतरविषये आरोपश्चेत्; किं प्रत्यक्षविषयस्य स्मृतिविषये, तद्विषयस्य वा प्रत्यक्षविषये आरोपः स्यात् ? तत्राद्यपक्षे स्मर्यमाणरजतदेशे स्पष्टतया शुक्तिकायाः प्रतिभासः स्यान्न तु 'इदम्' इत्युल्लेखेन पुरोवर्तितया, तत्रारोप्यमाणत्वात्, यत्र यदारोप्यते तस्य तद्देशे प्रतिभासो भवति यथा मरीचिकायामारोप्यमाणस्य जलस्य[3] मरीचिकादेशे, स्मृतिविषये रजते आरोप्यते च प्रत्यक्ष[4]विषया शुक्तिकेति। द्वितीयपक्षे तु इदन्तया[5] शुक्तिकायाः स्पष्टः प्रतिभासो न प्राप्नोति, तत्रारोप्यमाणस्य स्मृतिविषयस्याऽस्पष्टत्वात्। तन्न विषयैकत्वाध्यवसायात् स्मृतेः प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायो युक्तः।

नापि स्वरूपैकत्वाध्यवसायात्; स हि ताभ्यामेव विधीयते, अन्येन वा ? न तावत्ताभ्यामेव; अस्वसंविदितस्वभावयोः स्मृति-प्रत्यक्षयोः स्वरूपमात्राध्यवसायेऽप्यसामर्थ्ये अन्येन सहैकत्वाध्यवसाये सामर्थ्यानुपपत्तेः। नाप्यन्येन[6] ज्ञानान्तरेण तदेकत्वाध्यवसायः; तस्यापि अस्वसंविदितस्वभावस्य स्वरूपमात्रस्यापि वार्तानभिज्ञस्य[7] अन्येनैकत्वाध्यवसायवार्ताभिज्ञताऽनुपपत्तेः। किञ्च, तेन तद्द्वयस्य प्रतीतस्य एकत्वमध्यवसीयते, अप्रतीतस्य वा ? न तावत्प्रतीतस्य; द्वयप्रतीतौ तदेकत्वाध्यवसायविरोधात्। नाप्यप्रतीतस्य; अतिप्रसङ्गात्। अथ यदैव तद्द्वयं प्रतीयते न[8] तदैव तदेकत्वाध्यवसायो येन विरोधः स्यात्, किन्तु पूर्वं तद्द्वयं प्रतीत्य पश्चादेकत्वेनाध्यवसीयत इति; तदयुक्तम्; संवेदनस्य क्षणिकत्वेन एतावन्तं कालमवस्थित्यनुपपत्तेः। तन्न प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायः स्मृतेः प्रमोषः।

---

१ "कोऽयं विप्रमोषो नाम–किमनुभवाकारस्वीकरणम्, स्मरणाकारप्रध्वंसो वा, पूर्वार्थगृहीतित्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजत्वं वा ?" तत्त्वो० पृ० २५। "कश्चाय स्मृतेः प्रमोषः ? स्मृतेरभावः, अन्यावभासो वा स्यात्, विपरीताकारवेदित्वं वा, अतीतकालस्य वर्त्तमानतया ग्रहणं वा, अनुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेन उत्पादो वा ?" प्रमेयक० पृ० १५ उ०। "किं स्मृतेरभावः, उत अन्यावभासः, आहोस्विदन्याकारवेदित्वम् इति विकल्पाः।" सन्मति०टी०पृ०२८। "किं प्रध्वंसः, उत प्रत्यक्षेण सह एकत्वाध्यवसायः, आहोस्वित् प्रत्यक्षरूपतापत्तिः, उतचित् तदित्यंशस्य अननुभवः, तिरोभावमात्रं वा भवेत् ?" स्या० रत्ना० पृ० १२०। २ **'जलस्य'** इति शब्द आदर्शे टिप्पण्यां पतितः। ३ **विषयैकादेशे** ब०, ज०। ४–क्षविषयतः शु–भां। ५–न्तया स्पष्टः आ०। ६ **नानेन ज्ञा**–भां०। ७–ज्ञस्याऽन्यस्य **अन्ये**–ब०, ज०, भां०। ८ **अथ न यदैव** भां०। ९–ते **तदैव** भां०। १० **न तदेक**–आ०।

नापि प्रत्यक्षरूपतापत्तिः; तद्रूपतापत्तौ हि तस्याः स्मृतिरूपतापरित्यागात् प्रत्यक्षरूपतैव स्यान्न स्मृतिरूपता, तत्कथमस्याः प्रमोषः? अन्यथा मृत्पिण्डस्यापि घटरूपतापत्तौ मृत्पिण्डरूपतापरित्यागेऽपि मृत्पिण्डत्वप्रसङ्गात् मृत्पिण्डप्रमोषोऽपि स्यात्, प्रत्यक्षबाधा उभयत्र समाना। अथ 'तत्' इत्यंशस्याननुभवः स्मृतेः प्रमोषः, 'तद्रजतम्' इत्याकारा हि प्रतीतिः स्मृतिः, तच्छब्दस्य अनुभूतपरोक्षार्थाभिधायकत्वात्, स यत्र नानुभूयते तत्र स्मृतिः 'प्रमुष्टा' इत्युच्यत इति; तदसाम्प्रतम्; रजताकारस्याप्यनुभवाभावप्रसङ्गात्, 'तद्रजतम्' इति हि रजतांशसम्बलितमेकमेवेदं स्मरणं भवतेष्यते, तत्र तच्छब्दस्य प्रमोषे रजतांशस्यापि प्रमोषः स्यात् निरंशस्यैकदेशेन प्रमोषानुपपत्तेः।

किञ्च, 'प्रमोषः' इत्यत्र प्रशब्देन कोऽर्थोऽभिधीयते—एकदेशापहारः, सर्वापहारो वा? न तावदेकदेशापहारः; तत्रास्य प्रयोगवैयर्थ्यात्। एकदेशेन हि चौरैर्द्रव्यापहारे मोषशब्द एव लोके प्रयुज्यते, अतः सर्वापहार एव अस्यार्थो युक्तः 'प्रकृष्टो मोषः प्रमोषः' इति। मोषस्य चायं प्रकर्षो यत् सर्वात्मना वस्तुनोऽपहार इति। एवञ्च स्ववचनविरोधः; 'स्मृतिरस्ति, किन्तु प्रमुष्टा' इति। यदि हि सा अस्ति; कथं प्रमुष्टा? प्रमुष्टा चेत्; कथमस्ति इति?

तिरोभावोऽपि ज्ञानयौगपद्ये सिद्धे सिद्ध्येत, न च भवतस्तत्सिद्धम् अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। किञ्च, अस्यास्तिरोभावः कार्याऽकर्तृत्वम्, आवृतत्वम्, अभिभूतस्वरूपाया अवस्थानं वा? प्रथमपक्षे किं तस्याः कार्यम्, यदकर्तृत्वात् तत्तिरोभावः स्यात्? परिच्छित्तिश्चेत्; सा तत्रास्त्येव, रजतपरिच्छित्तेरत्रानुभूयमानत्वात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; ज्ञानस्य आव्रियमाणत्वानुपपत्तेः। चिरस्थायिनो हि पदार्थस्याव्रियमाणत्वं दृष्टम्, नच ज्ञानं चिरस्थायितया केनचिद् दृष्टमिष्टं वा। तृतीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः; बलवता हि दुर्बलस्य स्वरूपाभिभवो दृष्टः, यथा सवित्रा तारानिकुरम्बस्य। दुर्बलत्वञ्चास्याः अतीतविषयत्वात्, बाध्यमानत्वाद्वा? प्रथमविकल्पे स्मृतिवार्तोच्छेदः, सर्वस्याः स्मृतेरतीतविषयतया दुर्बलत्वतो वर्तमानवस्तुप्रतिभासिज्ञानेन स्वरूपाभिभवप्रसङ्गात्। बाध्यमानत्वं तु विपरीतख्यातिव्यतिरेकेण नोपपद्यते इत्युक्तम्। अतः स्मृतिप्रमोषानुबन्धं परित्यज्य सैवाभ्युपगन्तव्या।

यदप्युक्तम्—'विपरीतख्यात्यभ्युपगमे बाह्यार्थसिद्धिर्न स्यात्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; असत्यप्रत्ययानाम् अर्थाऽनालम्बनत्वेऽपि सत्यप्रत्ययानां तदालम्बनत्वप्रसिद्धेः। सत्येतरव्यवस्था

---

१ "तद्रजतम् इत्याकारा हि प्रतीतिः स्मृतिः, तच्छब्दस्य अनुभूतपरोक्षार्थाऽऽलम्बनत्वात्। स यत्र नानुभूयते तत्र स्मृतिः प्रमुष्टा इत्यभिधीयते इति।" स्या० रत्ना० पृ० १२१। २ **स्मृतिः प्रमोषस्य अनुभूतपरोक्षार्थाभिधायकतच्छब्दसंवलिताऽनुभूयते तत्र** आ०, ब०, ज०। ३ "अपि च प्रमोषशब्दस्य कोऽर्थोऽभिप्रेतः प्रज्ञाशालिना—किमेकदेशापहारः सर्वापहारो वा?" स्या० रत्ना० पृ० १२२। ४ तत्राप्यस्य ब०। ५ **यदि हि नास्ति कथं प्रमुष्टा चेत् कथमस्तीति** भां०। ६—**पद्ये सिद्ध्येत्** ब०, ज०। ७ विपरीतख्यातिरेव। ८ पृ० ५४ पं० १०।

च प्रत्ययानां साधकबाधकप्रमाणसद्भावात् सुप्रसिद्धेति। एतच्च विस्तरतो बाह्यार्थसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादयिष्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन। तदेवं[1] विवेकाख्यातिपक्षस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेर्नात्राग्रहः प्रेक्षादक्षैः कर्तव्य इति।

अपरे अख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि–'इदं रजतम्' इति ज्ञाने रजतसत्ता विषयभूता तावन्नास्ति; अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्। रजताभावोऽपि न तदालम्बनम्; तद्विधिपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः। अत एव शुक्तिशकलमपि न तदालम्बनम्। रजताकारेण शुक्तिशकलमालम्बनमित्यप्ययुक्तम्; अन्यस्य अन्याकारेण ग्रहणाऽप्रतीतेः, न खलु घटाकारेण पटस्य ग्रहणं प्रतीतम्। अतो न किञ्चिदत्र ज्ञाने ख्यातिः इति सिद्धा अख्यातिः; तदसमीक्षिताभिधानम्; विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्, यत्र हि न किञ्चिदपि प्रतिभाति तत्केन विशेषेण रजतज्ञानमन्यद्वा व्यपदिश्येत?

विपर्ययज्ञानेऽख्याति-वादिनश्चार्वाकस्य प्रतिविधानम्–

का चेयमख्यातिः-किं ख्यातेरभावः, ईषत्ख्यातिर्वा? प्रथमपक्षे भ्रान्ति-सुषुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, प्रतिभासविशेषात्मकत्वे हि भ्रान्तेः सुषुप्तावस्थातो भेदः स्यान्नान्यथा। अथ ईषत्ख्यातिः अख्यातिः; ननु किमिदं ख्यातेरीषत्त्वम्? यथावस्थितार्थाऽप्रतिभासित्वमिति चेत्; तर्हि विपरीतार्थख्यातिरियं स्यान्नतु अख्यातिः। तन्न अख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः।

विपर्ययज्ञाने असत्ख्यातिवादिनोः सौत्रान्तिकमाध्यमिकयोः निराकरणम्–

अपरे तु असत्ख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि–'इदं रजतम्' इति प्रतिभासमानं वस्तुस्वरूपं ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात्? न तावज्ज्ञानधर्मः; अनहङ्कारास्पदत्वात्, बहिः इदन्तया प्रतिभासमानत्वाच्च। नाप्यर्थधर्मः; तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाऽभावात्, बाधकप्रत्ययेन तद्धर्मतयाऽस्य बाध्यमानत्वाच्च। अतः असदेव तत् तत्र प्रतिभातमिति असत्ख्यातिः; तदसमीक्षिताभिधानम्; असतः प्रख्योपाख्याविरहितस्य खपुष्पादिवत् प्रतिभासाऽसंभवात्। विप्रतिषिद्धश्चैतत्

---

१ प्रथमं तावत् प्रभाकरगुरुणा 'स्मरामि इति स्मृतिप्रमोषात् प्रत्यक्षसम्मितं तत्' इत्यादिना शाबरभाष्यस्य बृहतीटीकायां (पृ० ५६) स्मृतिप्रमोषशब्दः प्रयुक्तः। ब्र० शाङ्करभाष्ये (पृ० १५) विवेकाग्रहपदेन, विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे (पृ० २८) न्यायमञ्जर्यां (पृ० १७९) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाञ्च (पृ० ८९) अख्यातिपदेन अस्य उल्लेखो वर्त्तते। अस्य च विविधरूपेण समीक्षा–तत्त्वोप० लि० पृ० २५। न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८। भामती पृ० १४। प्रशस्त० कन्द० पृ० १८०। न्यायमं० पृ० १७६। विवरणप्र० सं० पृ० २८। न्यायलीला० पृ० ४१। सर्वद० सं० द० १६ पं० ३४४। प्रमेयक० पृ० १४ उ०। सन्मति० टी० पृ० २८, ३७२। न्यायवि० वि० पृ० ३४ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १०४। इत्यादिषु अवलोक्या। २ "जलावभासिनि ज्ञाने तावन्न जलसत्ता आलम्बनीभूताऽस्ति अभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्" प्रमेयक० पृ० १३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० १२४। ३ प्रतिभाति। ४ **न पुनरख्यातिः** भां०। ५ "इदं रजतम् इति प्रतिभासमानं वस्तु ज्ञानम्, अर्थो वा भवेत्?" स्या० रत्ना० पृ० १२५। ६–**विरहित ख**–ज०।

'असत्, प्रतिभाति च' इति । प्रतिभासमानत्वमेव हि सत्त्वं पदार्थानाम्। नहि सर्वथाऽसन्तः शशविषाणादयः स्वप्नेऽपि प्रतिभासन्ते। भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च तन्निबन्धनाऽभावात्, नहि असत्ख्यातिवादिनो ज्ञानगतमर्थगतं वा वैचित्र्यमस्ति यन्निबन्धनाऽनेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात्।

यदप्युक्तम्–'अर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति; तत्रापि किं ज्ञानसाध्यार्थक्रियाकारित्वाभावोऽभिप्रेतः, ज्ञेयसाध्यार्थक्रियाकारित्वाऽभावो वा ? तत्राद्यपक्षे ज्ञानधर्मतयैवास्य सत्त्वमनुपपन्नम्, न पुनः सर्वथा। नहि अन्यस्य अन्यसाध्यार्थक्रियाकारित्वाभावादसत्त्वम्; घटस्यापि पटसाध्यामर्थक्रियामकुर्वतोऽसत्त्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; जलहेतोरभिलाषप्रवृत्त्याद्यर्थक्रियाकारित्वस्य तत्र संभवात्। कथमेवमस्य भ्रान्तता इति चेत् ? स्नानाद्यर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्। द्विविधा हि अर्थक्रिया–अर्थमात्रनिबन्धना, सत्यार्थनिबन्धना चेति। तत्र अभिलाषादिरूपा अर्थमात्रनिबन्धना। स्नानादिरूपा तु सत्यार्थनिबन्धना। अतः तत्कारिण एवार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमभ्रान्तं नान्यत्। ततः असत्ख्यातिपक्षोऽनुपपन्न एव।

अन्ये तु प्रसिद्धार्थख्यातिं प्रतिपन्नाः। तथाहि–प्रतीतिसिद्ध एवार्थो विपर्ययज्ञाने प्रतिभाति।

विपर्ययज्ञाने प्रसिद्धार्थख्याति-वादिनः सांख्यस्य पर्यालोचनम्–

न चास्य विचार्यमाणस्य असत्त्वं वाच्यम्; प्रतीतिव्यतिरेकेण अपरस्य विचारस्यैवासंभवात्। प्रतीति (त्य) बाधितत्वाच्च, नं च तत्प्रसिद्धेऽर्थे विचारो युक्तः, करतलगताऽऽमलकादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्, स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यविशिष्टः। अथ मरीचिकाचक्रादौ जलाद्यर्थस्य प्रतिभातस्य तद्देशोपसर्पणे सति उत्तरकालं प्रतिभासाभावादसत्त्वम्; तदयुक्तम्; यतो यद्यपि उत्तरकालं सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावदस्त्येव, अन्यथा विद्युदादेरपि स्वप्रतिभासकाले सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्। तस्मात् प्रसिद्धार्थख्यातिरेवेयमिति; तदविचारितरमणीयम्; भ्रान्ताऽभ्रान्तप्रतीतिव्यवहारवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्। न खलु यथावस्थितार्थग्राहित्वाऽविशेषे 'काचित्प्रतीतिर्भ्रान्ता काचिच्चाऽभ्रान्ता' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिर्युक्ता; स्वेच्छाकारित्वप्रसक्तेः। किञ्च, उत्तरकालमुदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भः स्यात्। नहि विद्युदादिवद् उदकादेरपि आशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते। तन्न प्रसिद्धार्थख्यातिपक्षोऽपि श्रेयान्।

---

१ "भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च; नहि असत्ख्यातिवादिनोऽर्थगतं ज्ञानगतं वा वैचित्र्यमस्ति येन अनेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात्।" प्रमेयक० पृ० १४ पू०। २ पृ० ६० पं० १८। ३ "द्विविधाहि अर्थक्रिया–अर्थमात्रनिबन्धना, अर्थविशेषनिबन्धना च।" स्या० रत्ना० पृ० १२६। ४ असत्ख्यातेः प्रतिविधानम्–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८६। न्यायमं० पृ० १७७। प्रमेयक० पृ० १४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १२५। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। ५ "नचास्य विचार्यमाणस्य असत्त्वं विचारस्य प्रतीतिव्यतिरेकेण अन्यस्य असंभवात्, प्रतीत्यबाधितत्वाच्च, करतलादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्।" प्रमेयक० पृ० १४ पू०। स्या० रत्ना० पृ०१२६। ६ न तत्र–ब०, ज०, भां०। ७ प्रसिद्धार्थख्यातेः मीमांसा प्रमेयक० मार्त्तण्डे (पृ० १४ पू०) स्या० रत्नाकरे च (पृ० १२६) अवलोकनीया।

विपर्ययज्ञाने आत्मख्याति- वादिनो योगाचारस्य खण्डनम्-

अन्ये च आत्मख्यातिं मन्यन्ते। तथाहि–शुक्तिकायाम् 'इदं रजतम्' इति रजतं प्रतिभासते, तस्य च बाह्यस्य बाधकप्रत्ययात् प्रतिभासो नोपपद्यते। न खलु 'यथैव प्रतिभासते तथैवार्थः' इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्; भ्रान्तत्वाऽभावप्रसङ्गात्। अतः ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्यावासनासामर्थ्याद् बहिरिव प्रतिभासते इत्यात्मख्यातिः; तदसमीचीनम्; यतः स्वरूपमात्रसंविन्निष्ठत्वे अर्थाकारधारित्वे च सिद्धे ज्ञानस्य आत्मख्यातिः सिद्ध्येत, न च तत्सिद्धम्; उत्तरत्र [२]उभयस्यास्य निराकरिष्यमाणत्वात्। स्वाकार[३]मात्रग्राहित्वे च अखिलज्ञानानां भ्रान्ताऽभ्रान्तविवेकः बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, तत्र कस्यचिदपि व्यभिचाराऽभावात्। स्व[४]आत्मस्वरूपतया रजताद्याकारस्य संवेदने च 'अहं रजतम्' इति स्वात्मनिष्ठतयैव संवित्तिः स्यात्, नतु 'इदं रजतम्' इति बहिर्निष्ठतया। यत् स्वात्मरूपतया संवेद्यते न तत्र बहिर्निष्ठतया संवित्तिः यथा विज्ञानस्वरूपे, स्वात्मरूपतया संवेद्यते च आत्मख्यातिवादिमते रजताद्याकार इति। अथ अनाद्य[५]विद्यावासनावशाद् बहिर्निष्ठत्वेनाऽसौ[६] प्रतीयते; कथमेवं विपरीतख्यातिरेवेयं न स्यात्, ज्ञानादभिन्नस्य रजताद्याकारस्य अन्य[७]थाऽध्यवसायात्?

किञ्च[८], विज्ञानाद्वैते ब्रह्माद्वैते वा इयमात्मख्यातिः स्यात्। तत्र द्विविधेऽप्यद्वये द्वयदर्शननिबन्धन[९]ना कथं भ्रान्तिः स्यात्? अनाद्यविद्योपप्लवादिति चेत्; ननु तत्रापि किं स्वरूपं प्रतिभाति, अन्यरूपं वा? यदि स्वरूपम्; कथं भ्रान्तिः? अथ अन्यरूपम्; कथमात्मख्यातिः? अथ आत्मरूपस्यैव भ्रान्तिवशादन्यरूपत्वेनाऽवभासनम्; नन्विदमितरेतराश्रयत्वम्, तथाहि–अन्यरूपावभासनाद् बुद्धेर्भ्रान्तित्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अन्यरूपावभासनसिद्धिरिति। [१०]यदि च

---

१ "विज्ञानमेव खल्वेतद् गृह्णात्यात्मानमात्मना। बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्याऽनुपपत्तितः॥ बुद्धिः प्रकाशमाना च तेन तेनात्मना बहिः। तद्वहत्यर्थशून्यापि लोकयात्रामिहेदृशीम्॥" न्यायमं० पृ० १७८। **२ उभयस्य नि–**भां०। ३ "सर्वज्ञानानां स्वाकारग्राहित्वे च भ्रान्ताभ्रान्तविवेको बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति तत्र व्यभिचाराभावाऽविशेषात्।" प्रमेयक० पृ० १४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १२९। **४ स्वात्मरूपतया** ब०, ज०, भां०। "विज्ञानात्मनो हि प्रतिभासे 'अहं रजतम्' इति प्रतीतिः स्यात् न 'इदं रजतम्' इति।" न्यायमं० पृ० १७८। "स हि इदमनहङ्कारास्पदं रजतमादर्शयति न च आन्तरम्, अहम् इति हि तदा स्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ८५। भामती पृ० १४। **५** "किञ्च, यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते इत्यभ्युपगमाद् इयमपि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। असत्ख्यातिरपि चेयं भवत्येव बहिः बुद्धेरसत्त्वात्।" न्यायमं० पृ० १७८। प्रमेयक० पृ० १४ पू०। स्या० रत्ना० पृ० १२९। **६** रजताद्याकारः। **७** बहिर्निष्ठतया। **८ किञ्च ब्रह्मा–**आ०, ब०, ज०। **९–न्धनता क–**आ०, ब०, ज०। १० "यदि च ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वं नेष्यते तर्हि यथा रजताकारोल्लेखेन तत् प्रवर्त्तते तथा नीलाद्याकारोल्लेखेनापि किमिति न प्रवर्त्तते नियामकस्य अभावात्?" स्या० रत्ना० पृ० १३०।

ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वन्नेष्यते तर्हि यावद् रजताकारोल्लेखेन तद्भवति तावन्नीलाद्याकारोल्लेखेनापि कस्मान्न भवति नियामकाऽभावात् ? अथ अनाद्यविद्यावासनैव तन्नियामिका ; कथमेवं देशादिनियमेन तज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् ? अथ अविद्यायाः इदमेव माहात्म्यम्–यदसन्तमपि देशादिनियमं ज्ञाने दर्शयति इति चेत् ; नैवम् ; असत्ख्यातित्वप्रसङ्गात् ? कथञ्चात्मख्यातिवादिनः छेदाऽभिघातादिप्रतीतिः स्यात्, स्वरूपमात्रसंवित्तौ तदसंभवात् ? न खलु विज्ञानस्वरूपस्य सुखादेः संवित्तौ तत्प्रतीतिर्दृष्टा । तन्न आत्मख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः ।

केचित् पुनरनिर्वचनीयार्थख्यातिमत्र उररीकुर्वन्ति । तथाहि–शुक्तिकादौ रजताद्याकारः

विपर्ययज्ञाने अनिर्वचनीयार्थख्यातिं प्रतिपद्यमानस्य ब्रह्माद्वैतवादिनः प्रतिविधानम्–

प्रतिभासमानः सन्[1] स्यात्, असन्, उभयरूपो वा ? न तावत् सन्[2] ; उत्तरकालं बाधकानुत्पत्तिप्रसङ्गतस्तद्बुद्धेरभ्रान्तत्वप्रसक्तेः। नाप्यसन् ; आकाशकुशेशयवत् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्[3] । नापि सदसद्रूपः ; उभयदोषानुषङ्गात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च । तस्मादयं बुद्धिसन्दर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनोभयधर्मेण वा निर्वक्तुं न शक्यत इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः ; तदसमीक्षिताभिधानम् ; प्रतिभासमानस्यानिर्वचनीयख्यातित्वविरोधात् ; तथाहि–'ख्यातिः' इति किमयं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगः, 'ख्या प्रथने' इत्यस्य वा ? उभयत्र सतोऽसतश्च वचनीयता प्रतिभास्यता च घटत एव । सन्[4] खलु सत्त्वेनावग्रहीतुं वक्तुञ्च[5] शक्येव, अन्यथा घटादीनामपि अनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गः । असच्चाऽसत्त्वेन; अन्यथा घटाद्यभावस्यापि[6] अनिर्वचनीयतानुषङ्गः । यदि चानिर्वचनीयताऽङ्गीक्रियते तदा 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्य व्यपदेशस्य चानुत्पत्तिरेव स्यात् । सदेव हि पूर्वदृष्टं रजतं देशादिव्यवहितमपि सादृश्यवशात्तत्र प्रतिभाति, तस्मात् 'इदं तत्' इत्युल्लेख एव वचनीयता, तदनुल्लेख एव अवचनीयतेति । तन्न "अनिर्वचनीयार्थख्यातिपक्षोऽप्युपपन्नः ।

---

१ आत्मख्यातेः प्रकारान्तरेण प्रतिविधानम्–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८५ । भामती पृ० १४ । न्यायमं० पृ० १७८ । विवरणप्र० सं० पृ० ३४ । सर्वद० सं० द० १६ पं० ६०० । प्रमेयक० पृ० १४ पू० । स्या० रत्ना० पृ० १२८ । इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । २ **सन् असन्** आ० । ३–प्रसङ्गात् त–भां० । ४–द्विदर्शि–आ० । ५ "तत्किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययः तत्त्वगोचरः तथा च समीचीन इति न भ्रान्तो नापि बाध्येत । अद्धा न बाध्येत यदि मरीची न तोयात्मतत्त्वा न तोयात्मना गृह्णीयात् । तोयात्मना तु गृह्णन् कथमभ्रान्तः कथं वाऽबाध्यः । हन्त तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत् ; तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मतानुपपत्तेः। नाप्यसत् ;वस्त्वन्तरमेव वस्त्वन्तरस्य असत्त्वमास्थीयते·····तस्मान्न सत्। नापि सदसत् ; परस्परविरोधात् इत्यनिर्वाच्यमेव आरोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम् ।" भामती पृ० १३ । "प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् । गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः ॥" चित्सुखी पृ० ७९ । ६ "अपि च अनिर्वचनीयार्थख्यातिः इत्यत्र ख्यातिरिति किमयं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगः 'ख्या प्रथने' इत्यस्य वा ?" स्या० रत्ना० पृ० १३३ । ७ **स खलु** ब०, ज० । ८ **वक्तुं या**–भां० । ९ **घटास्वभा**–ज० । १०–**वस्य निर्व**–भां० । ११ अनिर्वचनीयख्यातिवादस्य आलोचना–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८७ । प्रमेयक० पृ० १४ उ० । स्या०रत्ना० पृ० १३३ अन्येषु च द्वैतवादिग्रन्थेषु द्रष्टव्या ।

अपरे अलौकिकार्थख्यातिं प्रतिपद्यन्ते। ते हि प्राहुः—यस्मादुक्तप्रकारेण ख्यात्यन्तराणि विचार्यमाणानि नोपपद्यन्ते तस्माद् अलौकिकस्यान्तर्बहिर्वाऽनिरूपित-स्वरूपस्यार्थस्य ख्यातिरभ्युपगन्तव्या इति। तदविचारितरमणीयम्; यतः किमिदम् अलौकिकत्वन्नाम अर्थस्य—किमन्यरूपत्वम्, अन्य-क्रियाकारित्वम्, अन्यकारणप्रभवत्वम्, अकारणप्रभवत्वं वा? न तावद् अन्यरूपत्वम्; यादृश-मेव हि सत्यस्य रूपं प्रतिभाति तादृशमेव असत्यस्यापि, अन्यरूपावभासित्वे च विपरीतख्याते-रेव 'अलौकिकार्थख्यातिः' इति नाम कृतं स्यात्। नाप्यन्यक्रियाकारित्वम्; अन्यस्य अन्यसाध्य-क्रियाकारित्वे कारणान्तरपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, एकस्मादेव कारणात् सकलकार्याणा-मुत्पत्तेः। एतेन अन्यकारणप्रभवत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तः। अकारणप्रभवत्वेऽपि सद्रूपत्वम्, असद्रू-पत्वं वा अर्थस्य स्यात्? सद्रूपत्वे नित्यत्वप्रसङ्गः, सतः कारणादनुत्पद्यमानस्याऽनित्यत्वानुप-पत्तेः। अथ असद्रूपः; कथम् 'इदं रजतम्' इति विधिरूपतया तत्प्रतीतिः? न खलु घटस्य असद्रूपत्वे 'अयं घटः' इति विधिरूपा प्रतीतिः स्वप्नेऽपि प्रतीयते। अथाऽसद्रूपस्याप्यर्थस्य कुत-श्चिद् विभ्रमनिमित्तात् सद्रूपतया प्रतीतिः; तर्हि विपरीतार्थख्यातिरियम् नालौकिकार्थख्यातिः स्यात्। तन्नाऽलौकिकार्थख्यातिपक्षोऽपि क्षेमङ्करः।

भ्रमस्थले अलौकिकार्थ-ख्यातिवादिनो निरासः—

तदेवं शुक्तिकायां रजतज्ञाने परोपवर्णितख्यात्यन्तराणां विचार्यमाणानामनुपपत्तेः विपरी-तख्यातिरेव अत्र प्रतिपत्तव्या।

ननु विपरीतख्यातिरपि विचार्यमाणा नोपपद्यते। तथाहि—तस्याः किमालम्बनं रजतम्, शुक्तिका वा? यदि रजतम्; तदा असत्ख्यातिरियं स्यान्न विपरीतख्यातिः असतस्तत्र रजतस्य प्रतिभासनात्। अथ अन्य-देशकालं सदेव तत् तत्र प्रतिभाति अतो न तद्दोषः; तदयु-क्तम्; एवं सति 'इदं रजतम्' इत्युल्लेखेन ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नहि अतद्देशकाले रजते असन्निकृष्टे चाक्षुषं ज्ञानं भवितुमर्हति, अन्यथा सर्वत्र तदुत्पत्तिप्रसक्तेर्विश्वस्यापि तद् ग्राहकं स्यात्। तन्न अस्याः रजतमालम्बनम्। नापि शुक्तिका; रजताकारेण उत्पद्यमानत्वात्, न च

विपरीतख्यातौ दोषापादनम्—

---

१ "तत्र व्यवहारप्रवर्त्तकं लौकिकमुच्यते अन्यद् अलौकिकम् इति।" न्यायमं० पृ० १८७। "किम् अन्यस्वभावत्वमर्थस्य, अन्यार्थक्रियाकारित्वम्, अन्यकारणजन्यत्वम्, अकारणजन्यत्वं वा? स्या० रत्ना० पृ० १३५। २ 'अकारणप्रभवत्वम्' इति नास्ति भां०। ३ —रणत्व प्र—ब०, ज०। ४ अलौकिकार्थख्याते: समीक्षा—न्यायमं० पृ० १८७। प्रशस्त० कन्द० पृ० १८१। स्या० रत्ना० पृ० १३५। इत्यादिषु द्रष्टव्या। ५ "तत्र यदि रजतमालम्बनं तदियमसत्ख्यातिरेव न विपरीतख्यातिः असत-स्तत्र रजतस्य प्रतिभासात्। अथान्यदेशकालं तदस्त्येवेत्यभिधीयते। इहासन्निहितस्यास्य तेन सत्त्वेन को-गुणः?" न्यायमं० पृ० १७६। "कलधौतञ्चेत् नन्वेवमसत्ख्यातिरेषा भवेत् न पुनर्विपरीतख्यातिः असतः कलधौतस्य प्रतीतेः।" स्या० रत्ना० पृ० १३६। ६ अतोऽयमदोषः भां०। ७ चाक्षुषं ज्ञानं।

अन्याकाराया: प्रतीतेः अन्यदालम्बनं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। शुक्तिकालम्बनत्वे चास्याः कथं भ्रान्तत्वं स्यादिति ?

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्†–'किमालम्बनम्' इत्यादि, तत्रास्तु तावद् रजतमेवालम्बनम्। नचैवमसत्ख्यातित्वप्रसङ्गः; देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातौ हि एकान्तेनाऽसतोऽर्थस्य प्रतिभासनमिष्यते, अत्र तु देशान्तरादौ सतः, इत्यनयोर्महान् विशेषः। ननु तत्रासतो रजतस्य चक्षुषाऽसन्निकृष्टस्य कथमिदन्तया प्रतिभासः स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; अतद्देशकालस्याप्यस्य दोषवशात् सन्निहिततया प्रतिभासविषयतोपपत्तेः, अतएव तत्प्रतीतेर्विपरीतख्यातित्वम्। न चातद्देशकालस्यास्य ग्रहणे विश्वस्य ग्रहणप्रसङ्ग इत्यभिधातव्यम्; सदृशार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्यास्य प्रतिभासाभ्युपगमात्। नच विश्वस्य तदुपस्थापितत्वमस्ति, अतः कथं तद्ग्रहणाशङ्काऽपि ? तदुपस्थापनञ्च चेतसि परिस्फुरतोऽर्थस्य बहिरवभासनमुच्यते, न पुनः पशोरिव रज्वा नियन्त्रितस्योपढौकनम्। न चैतावतेयम् आत्मख्यातिः असत्ख्यातिर्वा वक्तव्या; विज्ञानाद्बिभिन्नस्यार्थस्य अत्रावभासनात्, अत्यन्ताऽसतोऽर्थस्य प्रतिभासाभावाच्च।

तत्परिहारः–

ननु 'रजतमिदम्' इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षरूपतया स्मृत्यनपेक्षत्वात् कथं तदुपस्थापितार्थावभासित्वम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षरूपत्वाऽभावात्तस्य, प्रत्यभिज्ञानस्वरूपं हि तत् दृष्ट-दृश्यमानार्थसङ्कलनात्मकत्वात् 'स एवायं देवदत्तः' इत्यादिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञानस्य च दर्शनस्मरणकारणकत्वात् युक्ता तदपेक्षा। न चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वाभ्युपगमे अपसिद्धान्तप्रसङ्गः; 'वृक्षोऽयम्' इत्यादिज्ञानानां प्रत्यभिज्ञानत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। ततः स्थितं स्मृत्युपस्थापितं रजतमस्याः प्रतीतेरालम्बनमिति, निगूहितनिजाकारा परिगृहीतरजताकारा शुक्तिकैव वा; त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाद्धि सा निगूहितनिजाकारा, चाकचिक्यादिसदृशधर्म-

१ "शुक्तिकाप्रतीतौ तु शुक्तिरेव न रजतम् अत्र भ्रमार्थः कः ?" न्यायमं० पृ० १७७। स्या० रत्ना० पृ० १३७। २ "नन्वत्र चोदितम् असत्ख्यातिरेव सा भवेदिति; नैतत् साधु; देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातिपक्षे हि–तत्रैकान्तादसतोऽर्थस्य किं देशान्तरचिन्तया। किं कुर्मस्तादृशस्यैव वस्तुनः ख्यातिदर्शनात्॥ यस्तु देशान्तरेप्यर्थो नास्ति कालान्तरेपि वा। न तस्य ग्रहणं दृष्टं गगनेन्दीवरादिवत्॥" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३७। ३–यत्वोपपत्तेः ब०, ज०। ४ रजतस्य ५ "उक्तमत्र–सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनम् इति। नचास्य उपस्थापनं पशोरिव रज्वा संयम्य ढौकनम्, अपि तु हृदये परिस्फुरतोऽर्थस्य बहिरवभासनम्। नचैतावतेयम् आत्मख्याति रसत्ख्यातिर्वा इति वक्तव्यम्; विज्ञानाद्विच्छेदप्रतीतेः, अत्यन्तासदर्थप्रतिभासाभावाच्च इति।" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३८। ६–स्य द–भां०। ७ "अतएव पिहितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा शुक्तिकैव अत्र प्रतिभातीति भवतु पक्षः।" न्यायमं० पृ० १८४। स्या० रत्ना० पृ० १३८। ८ "त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाच्च निगूहितनिजाकारेत्युच्यते रजतविशेषस्मरणाच्च परिगृहीतरजताकारा इति।" न्यायमं० पृ० १८५। † पृ० ६४ पं० १७।

दर्शनोपजनितरजतस्मरणारोपितरजताकारत्वाच्च परिगृहीतरजताकारेति । कथं रजताकारस्य[1] प्रत्ययस्य शुक्तिकालम्बनत्वमतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यचोद्यम् ; अङ्गुल्यादिना हि कर्मतया निर्दिश्यमानं ज्ञानस्यालम्बनमुच्यते[3], तच्च शुक्तावस्त्येव, कथमन्यथा तज्ज्ञानेन असौ अपेक्ष्यते[4] ? सा हि अनेनावश्यमपेक्षणीया, अन्यथा तदसन्निधानेऽपि[6] तज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् । अपेक्षा च कारणत्वेन भवेत्, विषयत्वेन वा इति चिन्त्यम् ? न तावत् कारणत्वेन; आलोकाभाववत् शुक्त्यभावेऽपि रजतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथा च सत्यरजतज्ञानाय दत्तो जलाञ्जलिः । अतः कारणत्वेन अत्रापेक्षाऽनुपपत्तेः विषयत्वेनैवासौ युक्ता । ननु यदि शुक्तिकाऽत्र रजताकारेण प्रतिभासते तदा रजतस्याविद्यमानत्वाद् असत्ख्यातिरियं स्यात् ; तदसाम्प्रतम् ; सादृश्यस्य अत्राऽपेक्ष्यमाणत्वात् । रजतसाधारणं हि शुक्लभास्वराकारमपेक्ष्य इदं विज्ञानमुत्पद्यते, असत्ख्यातिस्तु न सादृश्यमपेक्ष्योत्पद्यते, खे खपुष्पख्यातिवत् । तदेवं विपर्ययज्ञानस्य विपरीतख्यातिस्वरूपस्य अप्रामाण्यप्रसिद्धेः सूक्तम्–**'संशयविपर्ययकारण'** इत्यादि ।

न केवलं **संशयविपर्ययकारणज्ञानस्य भावाऽविरोधात् न वै ज्ञानमित्येव प्रमाणम्**, किन्तु **अकिञ्चित्करस्य च** क्षणक्षय-स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिज्ञानस्य **भावाऽविरोधात्**, अन्यथा क्षणक्षयादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् तत्रानुमानमनर्थकं स्यात् । ननु तत्र[9] निश्चयाजनकत्वान्न तत्प्रमाणम् एतदेवाह–**नहि** इत्यादि । **हि** यस्मात् **न तत्त्वस्य** परमार्थस्य **ज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसाधनम्** अपि तु किञ्चिदेव, तदेव च प्रमाणम् । तदुक्तम्–"*यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता*"[11]" [ ] **इत्यपरः**–दिङ्नागादिः । अत्रोत्तरमाह–**तेनापि** इत्यादि । न केवलं तत्त्वज्ञानमात्रप्रामाण्यवादिना अपि तु **तेनापि** दिङ्नागादिनाऽपि उक्तदोषभयात् **तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्यैव ज्ञानस्य** निश्चयात्मनः **प्रामाण्यं सम-**

विवृतिव्याख्यानम्–

१–स्य शु–भां० । २ "किन्तु इदमिति अङ्गुल्या निर्दिश्यमानं कर्मतया यज्ज्ञानस्य जनकं तदालम्बनम् इत्युच्यमाने न कश्चिद्दोषः ।" न्यायमं० पृ० १८५ । स्या० रत्ना० पृ० १३८ । ३–ते **एतच्च** ब०,ज० । –ते एवं **तच्च** भां० । ४–था **रजतज्ञानेन** भां० । ५–ते अने–भां० । ६–पि ज्ञानो–भां० । ७ "पुरोवस्थितं धर्मिमात्रं भास्वररूपादिसादृश्योपजनितरजतविशेषस्मरणमत्र प्रतिभाति इति ब्रूमः ।" न्यायमं० पृ० १८५ । ८ "असत्ख्यातिस्तु न तद्धेतुका खपुष्पज्ञानवत् ।" प्रमेयक० पृ० १५ पू० । ९–**विपर्यास**–ब०, ज० । १० क्षणक्षयादौ । ११ "अत्र अपरः सौगतः प्राह–'यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता' इति धर्मोत्तरस्य मतमेतत् ।" सिद्धिवि० पृ० ९१ उ० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७७, २००, ३१९ । प्रमेयक० पृ० १० उ० । सन्मति० टी० पृ० ५१२ । स्या० रत्ना० पृ० ८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० १५१ उ० । "यत्रैवांशे विकल्पं जनयति तत्रैवास्य प्रमाणता इति वचनात् ।" न्यायाव० टी० पृ० ३१ ।

र्थ्येत, तस्यैव तं प्रति साधकतमत्वात्, अन्यथा तदपेक्षानुपपत्तेः। न पुनस्तत्त्वज्ञानमात्रस्य सन्निकर्षादेर्वा तत् समर्थ्येत तदभावात्। तत्कारणत्वात्तस्यापि तत्समर्थ्येत इति चेदत्राह–**'वस्तुबल'** इत्यादि। **वस्तुबलायातो** विकल्पसामर्थ्यसिद्धोऽनुभवः, अनुभवहेतुश्च सन्निकर्षादिः, सन्निकर्षादिहेतुश्च विशिष्टाऽऽहार-देशादिः, तस्याप्यभावे विकल्पानुपपत्तेः। **वस्तुबलायातं** च तत् सनिकर्षाऽऽहारादिः तस्मादनुभवात् **अर्थान्तरं** च **तस्यापि**, न केवलमनुभवस्यैव **तत्कारणत्वोपपत्तेः** विकल्पजनकत्वोपपत्तेः। कथम् ? इत्याह–**परम्परया**। तथाहि–विशिष्टाहारदेशादेः सन्निकर्षः, ततोऽनुभवः, ततो विकल्प इति, अतस्तस्यापि तदुपपत्तेः प्रमाणता स्यात्। **नचैवम्**, अतः प्रकृतोपसंहारमाह–**'तन्न'** इत्यादि। यतएवं **तत्** तस्मात् **नाज्ञानस्य प्रमाणता** स्वपरयोः प्रमाणान्तरापेक्षणात्, **अज्ञानमिव अज्ञानम्** निर्विकल्पकदर्शनम्, साक्षात् सन्निकर्षादिर्वा, तस्य **प्रमाणता न**। किं सर्वथा सा तस्य न ? इत्यत्राह–**अन्यत्रोपचारात्**। मुख्यतो नास्ति उपचारादस्ति इत्यर्थः। कस्य तर्हि मुख्यतः प्रमाणता ? इत्यत्राह– **ज्ञानस्यैव** इत्यादि। **ज्ञानस्यैव** नेतरस्य निर्विकल्पकदर्शनादेः। किं विशिष्टस्य ? **विशदनिर्भासिनः** परमुखाऽप्रेक्षितया स्वपरस्वरूपयोः स्पष्टप्रतिभासस्य **प्रत्यक्षत्वम्** प्रत्यक्षप्रमाणता। **इतरस्य** अविशदनिर्भासिनः **परोक्षता** परोक्षप्रमाणता।

ननु प्रत्यक्षव्यतिरिक्तस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽसंभवात् कस्य परोक्षरूपता प्ररूप्यते ? प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् इति चार्वाकमतस्योपादनम्– मेव हि प्रमाणम् अगौणत्वात्, नानुमानं तद्विपर्ययात्; तथाहि–पक्षधर्मत्वं हेतोः स्वरूपम्, पक्षश्च धर्मधर्मिसमुदायात्मा, तदनिश्चये कथं तद्धर्मताया निश्चयः ? तन्निश्चये वा अनुमानवैयर्थ्यम्। अतोऽवश्यं पक्षधर्मव्यवहारसिद्धये तत्समुदाये रूढोऽपि पक्षशब्दस्तदेकदेशे धर्मिण्युपचरणीयः, अतः पक्षस्यापि गौणत्वं, हेतोरपि गौणत्वम्। यो हि धर्मिधर्मः स पक्षधर्म इत्युच्यते, अतो गौणरूपत्वात् गौणकारणजन्यत्वाद्वा गौणमनुमानम्।

किञ्च, अर्थनिश्चयात्मकं प्रमाणं भवति, अनुमानाच्च अर्थनिश्चयो दुर्लभः; तथाहि–प्रतीयमानादर्थादर्थान्तरप्रतीतिः अनुमानम्, प्रतीयमानश्चार्थोऽर्थान्तरस्य सम्बद्धस्य, असम्बद्धस्य वा

१–प्यभावो विकल्पोऽनु–ब०, ज०। २ तत्करणतोप–ब०, ज०। तत्कारणतोप–भां०। ३ नैतस्य ब०, ज०। ४–ररूप–भां०। ५ "तथाचाहुः—प्रमाणस्य अगौणत्वाद् अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" न्यायमं० पृ० ११८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७९। सन्मति० टी० पृ० ५५४। प्रमेयक० पृ० ४५ उ०। स्या० रत्ना० पृ० २६१। ६ "तस्मादवश्यं पक्षधर्मान्वयव्यवहारसिद्धये धर्मविशिष्टे धर्मिणि रूढ़ःपक्षशब्दः तदेकदेशे धर्मिणि गौण्या वृत्त्या वर्णनीयः।" न्यायमं० पृ० ११९। स्या० रत्ना० पृ० २६१। ७ यतो हि आ०। ८–निश्चायकं ब०, ज०, भां०। ९ "प्रतीयमानश्चार्थः अर्थान्तरे सम्बद्धस्तस्य गमको भवेत्, असम्बद्धो वा ?" स्या० रत्ना० पृ० २६१।

गमकः स्यात् ? न तावदसम्बद्धस्य; अतिप्रसङ्गात् । अथ सम्बद्धस्य; कुतस्तत्सम्बन्धसिद्धिः-प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्; अस्य नियतदेशकालाऽऽकारगोचरचारितया सार्वत्रिकसम्बन्धग्रहणे सामर्थ्याऽभावात् । नाप्यनुमानात्; अनवस्थाप्रसङ्गात्, तदपि हि सम्बन्धग्रहणे सति प्रवर्तते । किञ्च, अवस्था-देश-कालभेदेन भिन्नार्थक्रियाकारिणां भिन्नसामर्थ्यानां चार्थानां न साकल्येन स्वभावप्रतिबन्धोऽवधारयितुं शक्यः, सहस्रशोऽप्यामलिक्यादेः कषायरसे समुपलभ्यमानेऽपि क्षीराद्यवसेकेन माधुर्यस्याप्युपलम्भात् । तदुक्तम्–

"अवस्थादेशकालादिभेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा ॥" [वाक्यप० १।३२] इति ।

न च साध्ये सत्येव साधनस्योपलम्भात् तदभावेऽनुपलम्भात् तत्सम्बन्धसिद्धिः; तदनुपलम्भस्यातिदूरासन्नत्वादौ प्रमातुरशक्तत्वे करणस्याऽसामर्थ्ये प्रमेयाऽभावे च संभवात् । यत्र हि अनग्नौ धूमो न दृश्यते तत्र प्रमातुः शक्त्यभावः, करणस्य सामर्थ्यविरहः, विषयस्याभावो वाऽनुपलम्भे कारणमिति । उक्तञ्च–

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥" [वाक्यप० १।३४]

किञ्च, अनुमानस्य धर्मी, धर्मः, तत्समुदायो वा साध्यः स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; धर्मिणोऽध्यक्षसिद्धत्वेन साधनानर्थक्यप्रसङ्गात्, हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गाच्च ; न खलु 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र पर्वतः' इत्यन्वयोऽस्ति । द्वितीयपक्षेऽपि धर्मः सामान्यरूपः, विशेषरूपो वा साध्यः स्यात् ? तत्र सामान्यरूपे सिद्धसाधनम्, अग्निमात्रे कस्यचिद् विप्रतिपत्त्यभावात् ? नच तत्प्रतीतौ किञ्चित्प्रयोजनम्, नहि अग्नित्वं दाहपाकादौ गोत्वं वा वाहदोहादावुपयुज्यमानं प्रतीतम् । किञ्च, सामान्यात्प्रतीतात् प्रवर्तमानः कथं नियतदिगभिमुखमेव अवश्यं प्रवर्तेत ? नहि सामान्यं नियतदिक्कं व्यापित्वाभावप्रसङ्गात् । अथ सामान्यस्य व्यक्तिं विनाऽनुपपत्तेः, प्रतीते तस्मिन् अन्यथानुपपत्त्या व्यक्तिप्रतीतेर्दिङ्नियमेन प्रवृत्तिः । ननु किमभिमतया व्यक्त्या विना नोपपद्येत, व्यक्तिमात्रेण वा ? न तावदभिमतया;

---

१ अनुमानमपि २–कालानां भे–भां० , वाक्यपदीय । ३ व्यक्तिषु ब०, भां० । इयं कारिका तत्त्वसङ्ग्रहे (का० १४६०) न्यायमञ्जर्याञ्च (पृ० ११९) 'प्रसिद्धिरतिदुर्लभा' इति कृत्वा उद्धृता,सन्मति० टी० पृ० ७०, स्या० रत्ना० पृ० २६२ इत्यादिषु च प्रकृतपाठेनैव । ४ स्यापिदूरा–ब०, ज० । ५–वेऽपि सं–भां० । ६–मितोऽर्थः–आ०, ज० । –मितोऽर्थः स्यात् कु–ब०, भामती पृ० ३६७, न्यायमं० पृ० १२०, तत्त्वसं० पृ० ४२६ । ७ "धर्मिणि साध्ये हेतोरनन्वयित्वम्, नहि यत्र धूमः तत्र पर्वतः इत्यन्वयः ।" न्यायमं० पृ० ११८ । "अपि च अनुमानस्य धर्मी, धर्मः, तत्समुदायो वा साध्यः स्यात् ?" स्या० रत्ना० पृ० २६२ । ८–त्वं वाह–भां० । ९ प्रवर्तते ब०, ज० । १०–तीतिर्दि–भां० ।

व्यक्त्यन्तरेऽप्यस्य सम्भवात्। व्यक्तिमात्रप्रतीतौ च इष्टव्यक्तिप्रतीत्यर्थं पुनर्यत्नान्तरं कर्त्तव्यम्, तत्रापि च अयमेव पर्यनुयोगः इत्यनवस्था। विशेषरूपस्य च साध्यत्वे अनन्वय एव हेतुः, नह्यत्रेदानीन्तनेन[1] खादिरादिस्वभावेन चाग्निना 'अग्निमान् पर्वतो धूमवत्वात्' इत्यादौ विशेषे साध्ये हेतोरन्वयो घटते, महानसादौ तथाविधसाध्येन धूमादेर्व्याप्यप्रतीतेः। अनुमानविरोधस्य इष्टविघातकृतो विरुद्धाव्यभिचारिणो[2] वा सर्वत्रानुमाने सम्भाव्यमानत्वाच्च न विशेषस्यापि साध्यत्वम्। तन्न धर्मोऽपि साध्यः। नापि तत्समुदायः[3]; तस्याप्यन्यत्रानन्वयात्, नहि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निमान् पर्वतः' इत्यन्वयः प्रतीतः। तदुक्तम्— ५

"विशेषेऽनुगमाऽभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात्। तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः ॥१॥
साहचर्ये च सम्बन्धे विश्रम्भ इति मुग्धता। शतकृत्वोऽपि तद्दृष्टौ व्यभिचारस्य संभवात् ॥२॥
देशकालदशाभेदविचित्रात्मसु वस्तुषु। अविनाभावनियमो न शक्यो[4] लब्धुमञ्जसा ॥३॥ १०
भवन्नप्यविनाभावः परिच्छेत्तुं न शक्यते। जगत्त्रयगताशेषपदार्थालोचनाद्विना ॥४॥
न प्रत्यक्षीकृता यावद्धूमाग्निव्यक्तयोऽखिलाः। तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्नेरिति शङ्क्यते[5]
ये तु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशः। किं दिव्यचक्षुषां तेषामनुमाने[6] प्रयोजनम् ॥६॥

१–ह्यत्रेदानी–आ०, ब०, ज०। २ "अनुमानविरोधस्य विरुद्धानाच्च साधने। सर्वत्र सम्भवात् किञ्च विरुद्धाव्यभिचारिणः ॥ १४५९ ॥" तत्त्वसं०। "मूलानुमानविषयापहारेण अनुमानविरोधस्य विशेषविरुद्धापराभिधानस्य इष्टविघातकृतः सन्देहहेतोः विरुद्धाव्यभिचारिणो वा सर्वत्रानुमाने सम्भाव्यमानत्वाच्च दुष्प्रापं प्रामाण्यम्।" स्या० रत्ना० पृ० २६३। "इष्टस्य शब्देनाऽनुपात्तस्य विघातं करोति विपर्ययसाधनात् इति इष्टविघातकृत्" न्यायबि० पृ० १०३। ३ "हेतोर्यदात्मीयं लक्षणं तद्युक्तयोर्हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधिनः परस्परविरुद्धसाध्यसाधकत्वेन उपनिपाते सति विरुद्धाऽव्यभिचारी इति विरुद्धाऽव्यभिचारिणो लक्षणम्।" हेतुबिन्दुटी० पृ० २०४। "विरुद्धाव्यभिचारी यथा–अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।" न्यायप्र० पृ० ४। "हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं यत् तन्न व्यभिचरति स विरुद्धाव्यभिचारी। यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनात्, अव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचारात् विरुद्धाव्यभिचारी।" न्यायबि० पृ० १११। ४ "धर्मविशिष्टे धर्मिणि साध्ये तदुभयमघटमानमेव नाग्निविशिष्टधराधरधर्मतया धूमः प्रथम (?) उपलब्धुं शक्यते। न चाप्येवमन्वयः–यत्र धूमः तत्र अग्निमान् पर्वत इति।" न्यायमं० पृ० ११८। ५ न्यायमं० पृ० १०९, स्या० रत्ना पृ० २६३। 'सामान्ये सिद्धसाध्यता' प्रकरणपं० पृ० ७१। 'विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्' तत्त्वोप० पृ० ८८, प्रमेयक० पृ० ४५ उ०, सन्मति० टी० पृ० ५५४। प्रमेयकमलामार्त्तण्डस्य टिप्पण्यां (पृ० ४५ उ० नं० २०) तु 'नानुमानं प्रमाणं स्यात् निश्चयाभावतस्ततः' एतद्रूपेण उत्तरार्द्धस्य पूर्तिः दृश्यते। "यथाहुः–विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता,। अनुमानभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः ॥" शास्त्रदी० पृ० ६३। "विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता। इत्यादिदोषदुष्टत्वात् न च नोऽनुमितिः प्रमा ॥ १४४ ॥" बृहदा० वा० पृ० १४०१। ६ 'न शक्यो वस्तुमाह च' न्यायमं० पृ० ११९। ७ 'तेषामनुमानप्रयोजनम्' न्यायमं० पृ० ११९।

सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभावनिश्चयः । वास्तवं हि न सामान्यं नाम किञ्चन विद्यते॥७॥
भूयोदर्शनगम्यापि न व्याप्तिरवकल्पते । सहस्रशोऽपि तेदृदृष्टौ व्यभिचारावधारणात् ॥८॥
बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः । देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ॥९॥
भूयोदृष्ट्यो च धूमोऽग्निसहचारीति गम्यताम् । अनग्नौ तु स नास्तीति न भूयोदर्शनाद्गतिः१०॥
न चाप्यदृष्टिमात्रेण गमकः सहचारिणः । तत्रैवं नियतत्वं हि तदन्याऽभावपूर्वकम् ॥११॥
नियमश्चानुमाङ्गत्वं गृहीतः प्रतिपद्यते । ग्रहणञ्चास्य नान्यत्र नास्तितानिश्चयं विना ॥१२॥
दर्शनाऽदर्शनाभ्यां तु नियमग्रहणं यदि । तदप्यसदनग्नौ हि धूमस्येष्टमदर्शनम् ॥१३॥
अनग्निश्च कियान् सर्वं जगज्ज्वलनवर्जितम् । तत्र धूमस्य नास्तित्वं नैव पश्यन्त्ययोगिनः१४
तदेवं नियमाभावात् सत्यपि ज्ञप्त्यसंभवात् । अनुमानप्रमाणत्वदुराशा परिमुच्यताम् ॥१५॥
अनुमानविरोधो वा यदि वेष्टविघातकृत् । विरुद्धाव्यभिचारी वा सर्वत्र सुलभोदयः ॥१६॥
अत एवानुमानानामपश्यन्तः प्रमाणताम् । तद्विस्रम्भनिषेधार्थमिदमाहुर्मनीषिणः ॥१७॥
प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वादिति ।" [ ]

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्*–'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽविसंवादकत्वं प्रमाणस्य लक्षणम्, तस्य च अनुमानादौ
तत्प्रतिविधानम्– **विद्यमानत्वात् कथं 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यवधारणं घटते ? तथाहि– अनुमानं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात् प्रत्यक्षवत् । न खलु प्रत्यक्षेऽविसंवादकत्वादन्यतः प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, एतच्चान्यत्रापि विशिष्टम् अनुमानादिनाप्यवगतेऽर्थे विसंवादाऽसम्भवात् ।**

---

१ 'तद्दृष्टे' न्यायमं० पृ० ११९ । 'न दृष्टौ' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । २ 'दृष्ट्वा' न्यायमं० पृ० ११९ । ३ 'नचापि दृष्टिमात्रेण' न्यायमं० पृ० ११९ । ४ **तत्रैवं** ब०, ज० । ५ 'नियमस्यानुमाङ्गत्वं गृहीत्वा प्रतिपद्यते' । स्या० रत्ना० पृ० २६४ । 'नियमश्चानुमानाङ्गं' न्यायमं० पृ० १२० । **नियतश्चा**–भां० । ६ 'अनग्नौ च क्रिया सर्वम्' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । ७ 'सति वा' न्यायमं० पृ० १२० । ८ **क्लृप्त्यसंभवात्** ज० । ९ **यदिचेष्ट**–ब०, ज०, न्यायमं० पृ० १२० । १० 'विरुद्धाव्यभिचारस्तु' स्या० रत्ना० पृ० २६४ । 'विरुद्धाव्यभिचारो वा' न्यायमं० पृ० १२० । ११ एताः सप्तदशापि कारिकाः न्यायमञ्जर्यां (पृ० ११९, १२०) 'अपिच' इति कृत्वा, स्याद्वादरत्नाकरे तु (पृ० २६३, २६४) द्वितीयाम् अन्तिमाञ्च कारिकां मुक्त्वा समुद्धृताः । १२ "नहि प्रत्यक्षेपि तत्प्रमाणवादिना अन्यत् प्रामाण्यव्यवस्थानिबन्धनं शक्यमादर्शयितुम् अन्यत्र अविसंवादात् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ४२८ । १३ अनुमानेऽपि । * पृ० ६७ पं० १६ ।

यच्च 'अगौणत्वात्' इत्युक्तम्†, तत्र अनुमानस्य कुतो गौणत्वम्—अविशदस्वभावत्वात्, स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वात्, विसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, अवस्तुविषयत्वात्, धर्मिणि पक्षशब्दोपचरात्, बाध्यमानत्वात्, साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणाऽभावाद्वा ? तत्र न तावदविशदस्वभावत्वात्; वैशद्यस्य प्रमाणलक्षणत्वाऽभावात्। यदि हि तत् प्रमाणलक्षणं स्यात् तदाऽनुमानादेस्तन्निवर्तमानं प्रामाण्यमादाय निवर्तते इत्यप्रामाण्यमस्योपपन्नं स्यात्, न चैतत्तल्लक्षणम्; द्विचन्द्रादिज्ञाने वैशद्यसद्भावेऽपि प्रामाण्याऽसम्भवात्। स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वमप्यस्याऽसम्भाव्यम्; प्रत्यक्षेवत्तस्य तन्निश्चये परनिरपेक्षत्वात्। अनभ्यासावस्थायामनुमानस्यार्थनिश्चये परापेक्षत्वं प्रत्यक्षेऽपि तुल्यम्। विसंवादकत्वमप्यस्यानुपपन्नम्; सम्यगनुमानेन प्रतिपन्ने वस्तुनि विसंवादाऽसम्भवात्। तदाभासेन प्रतिपन्ने तस्मिन् विसंवादे तस्यैव गौणत्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा प्रत्यक्षाभासे विसंवाददर्शनात् सत्यप्रत्यक्षेऽपि गौणत्वप्रसङ्गः स्यात्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वञ्च असिद्धम्; अनुमानस्य ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। किञ्च, लिङ्गादेवानुमानमुत्पद्यते, तत्कथं प्रत्यक्षात्तदुत्पत्तिसम्भवः तस्य लिङ्गप्रतिपत्तावेव व्यापारात् ? अस्तु वा प्रत्यक्षादेव तदुत्पत्तिः; तथापि न गौणत्वं तस्य तत्सामग्रीत्वात्, स्वसामग्रीतश्चोपजायमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः।

किञ्च, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनानुमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वेन गौणत्वप्रसङ्गः, दृश्यते हि साध्यमर्थमनुमानान्निश्चित्य प्रवर्तमानस्य अनुमानपूर्विका प्रत्यक्षप्रवृत्तिः। अर्थादनुत्पद्यमानत्वेनास्य गौणत्वे तु अध्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः; तस्याप्यर्थादनुत्पत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अवस्तुविषयत्वञ्च अस्यासिद्धम्, प्रत्यक्षवत् सामान्यविशेषात्मकार्थगोचरत्वात्तस्य। नह्यवस्तुभूतापोहविषयमनुमानं सौगतवज्जैनैरिष्टम्; तत्र तद्विषयत्वस्य प्रतिक्षेप्स्यमानत्वात्। धर्मिणि पक्षशब्दोपचारतोऽपि नास्य गौणत्वसिद्धिः; सङ्क्षेपतः शब्दरचनार्थत्वात्तदुप-

---

१ "अथ अस्पष्टस्वरूपत्वात् स्वार्थनिश्चये परापेक्षत्वात् प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् अर्थादनुपजायमानत्वात् अवस्तुविषयत्वात्, बाध्यमानत्वाद्, साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धसाधकप्रमाणाभावाद्वा तस्य अप्रामाण्यमुच्यते।" स्या० रत्ना० पृ० २६६। २ "यथैव हि प्रत्यक्षं साक्षात् स्वार्थपरिच्छित्तौ नानुमानाद्यपेक्षं तथा अनुमानम् अनुमेयनिर्णीतौ न प्रत्यक्षापेक्षम् उत्प्रेक्षते।" प्रमाणप० पृ० ६४। स्या० रत्ना० पृ० २६६। ३ "ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वाच्चास्य अध्यक्षपूर्वकत्वम् असिद्धम्।" प्रमेयक० पृ० ४६ पू०। स्या० रत्ना० पृ० २६७। ४ "किञ्च, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन अनुमानस्याप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वेन अप्रामाण्यानुषङ्गः"। स्या० रत्ना० पृ० २६७। प्रमेयक० पृ० ४६ पू०। "प्रत्यक्षवत् सामान्यविशेषात्मकार्थगोचरत्वात्तस्य।" स्या० रत्ना० पृ० २६७। प्रमेयक० पृ० ४५ उ०। ५ **तद्विषयस्य**—आ०, भां०। ६ **प्रतिसेत्स्यमा**—ब० ज०। ७ "पक्षधर्मादिपदानि यदि नाम व्याख्यातृभिः गौणानि प्रयुक्तानि किमेतावता प्रमाणं गौणीभवेत् ? शब्दान्तरेण हि तल्लक्षणाभिधाने न कश्चिद् गौणतादिप्रमादः।" न्यायमं० पृ० १२३। †पृ० ६७ पं० १६।

चारस्य । नहि लक्षणकाराणां लाघवेन शब्दरचनां कुर्वतां धर्मिणि पक्षशब्दोपचारमात्रेण अनुमानस्य गौणत्वं भवति अतिप्रसङ्गात् । बाध्यमानत्वञ्च–सम्यगनुमानस्य, अनुमानाभासस्य वा ? प्रक्षमपक्षोऽनुपपन्नः; सत्यधूमादिसाधनादग्न्याद्यनुमाने बाधाऽसम्भवात् । अनुमानाभासस्य तु बाधासम्भवे तस्यैव गौणत्वं युक्तं न सम्यगनुमानस्य; अन्यथा प्रत्यक्षाभासस्य बाधोपलम्भात् सम्यक्प्रत्यक्षस्यापि गौणत्वप्रसङ्गः स्यात् । साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धग्राहकप्रमाणाभावश्चाऽसिद्धः; तर्काख्यप्रमाणात्तद्ग्रहणप्रसिद्धेः । तथा च 'तत्सम्बन्धग्रहणे प्रत्यक्षं प्रवर्तेत अनुमानं वा' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, सार्वत्रिकसम्बन्धप्रतिपत्तौ च यथा तस्य सामर्थ्यं तथा वक्ष्यते ।

किञ्च, 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नानुमानम्' इति विधिनिषेधप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्, अगौणत्वादिलिङ्गस्य वा ? न तावत्प्रत्यक्षस्य; नहि तद् इन्द्रियादिसामग्रीतः समुपजातम् 'अहमेव प्रमाणं नानुमानम्' इत्यत्रार्थे समर्थम्, प्रतिनियतरूपादिप्रतिपत्तावेव अस्य सामर्थ्यसम्भवात् । अगौणत्वादिलिङ्गस्यापि[2] तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् अनुमानाऽप्रामाण्येऽनुपपन्नम् । अप्रमाणेन च व्यवस्थां कुर्वाणस्य उन्मत्तत्वप्रसङ्गः, नहि प्रमाणादृते प्रमेयव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यभ्युपगच्छता प्रत्यक्षमात्रं प्रमाणमभ्युपगम्यते, तद्विशेषो वा ? प्रथमपक्षे द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु कोऽयं तद्विशेषो नाम ? यथार्थता इति चेत्; तर्हि 'यथार्थं प्रत्यक्षं प्रमाणं नाऽयथार्थम्' इति यदा परः प्रतिपाद्यते तदा काश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तीः परिघृ[3]त्य यथार्थाश्चाङ्गीकृत्य, 'यदीदृशं प्रत्यक्षं तत्प्रमाणं नान्यादृशम्' इति प्रतिपादनीयः, एतच्च प्रमाणान्तराद्विना न प्रतिपादयितुं शक्यम्, न खलु पुरोव[4]र्तिवर्तमानप्रतिनियतरूपादिविषयोपरूढाभिः प्रत्यक्षव्यक्तिभिः एतत्प्रतिपादयितुं पार्यते । परश्च बुद्धिमत्त्वेन स्तम्भादिभ्यो विलक्षणः प्रतिपाद्यमानार्थग्रहणसमर्थो निश्चितः प्रतिपाद्यः, न च तन्निश्चये अनुमानादन्यस्य सामर्थ्यम्; प्रत्यक्षस्य रूपादिमदर्थप्रतिपत्तावेव सामर्थ्यात् ।

कथञ्च अनु[5]मानानभ्युपगमे स्वव्यवस्थापितप्रमाण-प्रमेयव्यतिरिक्तप्रमाणप्रमेयस्य स्वर्गाऽपूर्वदेवतादेश्च निषेधः प्रत्यक्षस्य अत्राऽसामर्थ्यात्? प्रमाणादृते प्रमेयसिद्धौ चातिप्रसङ्गात्। किञ्च, अनु[6]मानापह्नवः तत्स्वरूपाभावात्, निरवद्यतल्लक्षणाभावाद्वा स्यात् ? न[7] तावत् स्वरूपाभावात्; तत्स्वरूपस्य अखिललोकप्रसिद्धत्वात् । यत् स्वरूपमखिललोकप्रसिद्धं न तस्यापह्नवो युक्तः यथा

---

१ तर्कस्य । २–पि प्रति–भां० । ३ परिहृत्य भां० । ४ पुरोवर्तमान–भां० । ५ "उक्तञ्च–प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियोगतेः । प्रामाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।" प्रमेयक० पृ० ४६ पू० । सम्मति० टी० पृ० ५५४ । स्या० रत्ना० पृ० २६८ । ६ "किमयम् अनुमानस्वरूपाक्षेप एव क्रियते उत तत्तार्किकोपलक्षिततल्लक्षणाक्षेप इति ? तत्रानुमानस्वरूपञ्च अशक्यनिह्नवमेव सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्। अबलाबालगोपालहालिकप्रमुखा अपि। बुद्ध्यन्ते नियतादर्थादर्थान्तरमसंशयम् ।।" न्यायमं० पृ० १२० । स्या० रत्ना० पृ० २६८ । ७ न तत्स्वरू–भां० ।

प्रत्यक्षस्य, अखिललोकप्रसिद्धश्चानुमानस्य स्वरूपमिति। न चेदमसिद्धम्; अबलाबालगोपालादीनां धूमाद्यर्थात् पावकाद्यर्थान्तरे निरारेकं प्रत्ययप्रतीतेः। कथं वा तत्स्वरूपापलापे 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्' इत्यभिदधतः स्ववचनविरोधो न स्यात्?

निरवद्यतल्लक्षणाभावोऽप्ययुक्तः; 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्' इत्यादेः निरवद्यतल्लक्षणस्य अग्रे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। किञ्च, यदि परप्रणीतं तल्लक्षणं सावद्यं तदा तत् स्वयमनवद्यमावेद्यताम्, न पुनस्तद्द्वेषेण लक्ष्यमप्यनुमानमपह्नोतुं युक्तम्, नहि प्रेक्षावान् यूकाभयात् परिधानपरित्यागं विदधाति।

†यदप्युक्तम्–'अवस्थादेशकालादिभेदात्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; ऊह्याख्यप्रमाणप्रसादात् सम्यगवधृतायां व्याप्तौ विप्लवाऽभावात्, प्रमातुरेव हि तत्रापराधो नानुमानस्य।

❀यदपि 'विशेषेऽनुगमाभावः' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; व्याप्ति-प्रयोगकालापेक्षया साध्यस्य भेदात्। 'व्याप्तौ हि साध्यं धर्मः, प्रयोगकाले तु तद्विशिष्टो धर्मी' इति वक्ष्यति, तत्र कथमनुगमाभावः सिद्धसाधनं वा स्यात्?

‡यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वत्रानुमानेऽनुमानविरोधादेः संभाव्यमानत्वात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; समीचीनसाधने प्रयुक्ते अनुमानविरोधादेरसम्भवात्। न खलु धूमादिसाधने पर्वताद्यग्निमत्त्वसिद्धौ प्रयुक्ते 'पर्वतोऽयमग्निमान् न भवति पर्वतत्वात् तदन्यपर्वतवत्' इत्यनुमानविरोधस्य, 'अत्रत्येन वा अग्निना अग्निमान् न भवति धूमवत्त्वात् महानसवत्' इति विरुद्धाऽव्यभिचारिणः, 'धूमादिसाधनं यथैवाग्निमत्त्वं पर्वतादेः साधयति तथा निर्मूल(?)निर्वृक्षप्रदेशाग्निनापि अग्निमत्त्वं साधयति, महानसादौ तथादर्शनात्' इतीष्टविघातकृतो वा संभवः; प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वेन अस्यानुमानाभासत्वात्। निर्बाधं हि प्रमाणं कस्यचित् साधकं बाधकं वा युक्तं नान्यत्, अतिप्रसङ्गात्। ततोऽनुमानादेः प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः सूक्तम् 'अविशदनिर्भासिनः परोक्षता' इति। तथा च प्रत्यक्ष-परोक्षयोः विभिन्नस्वरूपत्वात् परस्परतः

---

१ प्रत्यक्षप्रतीतेः भां०। २ "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं·····।" न्यायवि० पृ० ४०० पू०। ३ "तदेवमनुभवसिद्धत्वादनुमानस्वरूपमिव तस्य लक्षणमपि तान्त्रिकविरचितमवाचकं लक्षणं तत्स्वयमनवद्यमावेद्यतां नतु तद्द्वेषेण लक्ष्यमप्यनुमानं निह्नोतुं युक्तम्।" न्यायमं० पृ० १२३। ४ "सम्यगवधृतायां व्याप्तौ विप्लवाभावात्, प्रमातुरेव तत्रापराधो नानुमानस्य।" न्यायमं० पृ० १२३। "तदाहुः– प्रमातुरपराधोऽयं विशेषं यो न पश्यति। नानुमानस्य दोषोस्ति प्रमेयाऽव्यभिचारिणः।" स्या० रत्ना० पृ० २६९। ५ "साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।" परीक्षामुख ३।२५। "व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव।" परीक्षामुख ३।३२। ६ तत् क–ब०, ज०, भां०। ७ "प्रयोजकहेतौ प्रयुक्ते एवम्प्रायाणामनवकाशात्। न विशेषविरुद्धश्च न चास्तीष्टविघातकृत्। हेतौ सुप्रतिबद्धेहि नैताः सन्ति बिडम्बनाः॥" न्यायमं० पृ० १२४। "वस्तुबलप्रवृत्तानुमाने विषये न विरुद्धाव्यभिचारी च संभवति।" तत्त्वसं० पृ० ४३०। ८ निपलनि–भां। †पृ० ६८ पं० ७। ❀पृ० ६९ पं० ८। ‡पृ० ६९ पं० ४।

सिद्धो भेदः । ययोर्विभिन्नस्वरूपत्वं तयोः परस्परतो भेदः यथा जलानलयोः, विभिन्नस्वरूपत्वञ्च विशदेतरस्वभावतया प्रत्यक्षपरोक्षयोरिति ।

के पुनर्बुद्धेर्वैशद्याऽवैशद्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्भेदः स्यात् ? इति चेदुच्यते—

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ ४ ॥

विवृतिः—तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, मुख्यम् अतीन्द्रियज्ञानम् । तदस्ति सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिषत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणाऽनुपपत्तेः, तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चित् अनुपलब्धेः खपुष्पवत् । न वै जैमिनिः अन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवेऽतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात् ? अत्र अनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाऽभावे कुतः प्रमाणयेद् अभेदात् ? साधकबाधकप्रमाणाऽभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ता; बाधकस्यैवाऽसम्भवात् । सर्वत्र बाधकाऽभावेतराभ्यां भावाऽभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः । तत एव अनुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण आधिक्येन वर्णसंस्थानादिविशेषरूपतया अर्थग्रहणलक्षणेन प्रचुरतरविशेषान्वितार्थावधारणरूपेण वा यद् **विशेषाणां** नियतदेशकालसंस्थानाद्यर्थाकाराणां **प्रतिभासनं तद्बुद्धेर्वैशद्यम**भिप्रेतम् । अस्मात् **परम्** अन्यथाभूतं यद्विशेषाऽप्रतिभासनं तद् **अवैशद्यम्** इति । स्वरूपापेक्षया च सर्वं ज्ञानं विशदमेव, परिस्फुटरूपतया स्वरूपस्य सर्वज्ञानानां स्वसंवेदने प्रतिभासनात् । बहिरर्थस्तु केषाञ्चिज्ज्ञानानां परिस्फुटरूपतया प्रतिभाति केषाञ्चित्तु तद्विपरीततया, अतस्तदपेक्षया तेषां वैशद्यावैशद्ये प्रतिपत्तव्ये ।

कारिकाव्याख्यानम्—

---

१ "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।" परीक्षामुख २।४। "अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वमिति ।" प्रमाणनयतत्त्वा० २।३ । जैनतर्कभा० पृ० ११४ । "वैशद्यम् इदन्त्वेन अवभासनम् ।" जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९५ । "प्रमाणान्तरानपेक्षेन्दन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।" प्रमाणमी० १।१।१४ । २ **बाधकभावे**—ज० वि० । ३ "सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथञ्चित् प्रमाणत्वोपपत्तेः तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षम् न कश्चित् प्रमाणाभासः ।" अष्टसह० पृ० २४६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । "बहिरर्थग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षेतरव्यपदेशः, तत्र प्रमाणान्तरव्यवधानाऽव्यवधानसद्भावेन वैशद्येतरसम्भवात् नतु स्वरूपग्रहणापेक्षया तत्र तदभावात् ।" प्रमेयक० पृ० ५९ पू० । स्या० रत्ना० पृ० ३१८। लघी० वृ० पृ० १३ । प्रमाणमी० पृ० १७। ४ **सर्वज्ञानं** आ०, ब०, ज० ।

तच्चेदं वैशद्यलक्षणलक्षितं प्रत्यक्षं द्विप्रकारं भवति—गौणम्, मुख्यञ्चेति। तत्र गौणं 'सांव्यवहारिकम्' इत्यादिना व्याचष्टे। संव्यवहारे नियुक्तं सांव्यवहारिकम् गौणमित्यर्थः। किं तत् ? इन्द्रियानिन्द्रिय-प्रत्यक्षम्। अयमर्थः—यद् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् अनिन्द्रियस्य च मनसः कार्यम् अंशतो विशदं विज्ञानं तत् सांव्यवहारिकं गौणप्रत्यक्षम् इत्यर्थः।

विवृतिव्याख्यानम्—

ननु च 'इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्' इत्यनेन सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य सामग्रीप्ररूपणमयुक्तम्; तत्कारणस्य आत्मार्थालोकादेरत्रासङ्ग्रहात्; इति चेन्न; असाधारणस्यैव तत्कारणस्यात्र प्ररूपयितुमभिप्रेतत्वात्। नचात्मनः समनन्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्यक्षं प्रत्यसाधारणकारणत्वं संभवति; प्रत्ययान्तरेऽप्यस्याविशिष्टत्वात्। नाप्यर्थालोकयोः; तयोर्ज्ञानकारणत्वस्याग्रे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। नापि सन्निकर्षादेः; तत्र तत्कारणत्वस्य प्रागेव प्रतिषेधात्, अव्यापकत्वाच्चास्य न तत्कारणत्वम्, नहि चक्षूरूपयोः सन्निकर्षोऽस्ति अप्राप्यकारित्वाच्चक्षुषः।

ननु चास्याऽप्राप्यकारित्वप्रतिज्ञा प्रमाणविरुद्धा; तथाहि—प्राप्यकारि चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात्, यद् बाह्येन्द्रियं तत्प्राप्यकारि प्रतिपन्नम् यथा त्वगादि, बाह्येन्द्रियञ्च चक्षुः, तस्मात् प्राप्यकारि। नचायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः; सपक्षे सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; सपक्षवद् विपक्षेऽप्यप्रवृत्तेः। नच मनसा व्यभिचारः; बाह्यविशेषणात्। 'इन्द्रियत्वात्' इत्युच्यमाने हि मनसा व्यभिचारः स्यात्, तत्परिहारार्थं बाह्यविशेषणम्। नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षागमाभ्यामबाधितविषयत्वात्। नापि प्रकरणसमः; प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकस्य हेत्वन्तरस्यासम्भवात्। अथ मतम्—अधिष्ठानदेश एव चक्षुः नान्यत्र, अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकत्वात्; यद् यद् अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकं तत्तत् अधिष्ठानदेश एव यथा घ्राणादि, अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकञ्च चक्षुः, तस्मात् तद्देश एव, अतः कथमस्य प्राप्यकारित्वं स्यादिति ? तदपि न सङ्गतम्; यतः 'अधिष्ठानदेश एव' इति कोऽर्थः ? किम् अधिष्ठानदेशे सत्, उत अधिष्ठानादव्यतिरिक्तम्, ततोऽन्यत्र असदिति वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अधिष्ठानदेशे सत्त्वस्य प्राप्यकारित्वाविरोधात्, नह्यधिष्ठानदेशे सतः स्पर्शनादेः प्राप्यकारित्वविरोधो दृष्टः। द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; अधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वस्य

'सन्निकर्षः प्रमाणम्' इति नैयायिकमत-प्रतिपादनम्—

१ प्रत्यसाधारणत्वम् आ०। २ "अथ प्राप्यकारित्वे चक्षुषः किं प्रमाणम् ? इन्द्रियत्वमेव, प्राप्यकारि चक्षुः इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत्।" न्यायवा० पृ० ३६। न्यायवा० ता०टी० पृ०१२२। "प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्, बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।" प्रश० कन्दली पृ० २३। "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।" न्यायवा० ता०टी०पृ०७३। ३ "इह केचिदाहुः—अप्राप्यकारि चक्षुः अधिष्ठानाऽसम्बद्धार्थग्राहकत्वात्··· तदसत्; अधिष्ठानासम्बद्धार्थग्राहित्वस्य प्रदीपेनानैकान्तिकत्वात्।" श० किरणाव० पृ० ७४।

क्वचिदपि इन्द्रियेऽप्रसिद्धेः, न खलु स्पर्शनादेरपि अधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वम् उभयोः प्रसिद्धम्। तृतीयपक्षोप्यसङ्गतः; अधिष्ठानादन्यत्रापि तत्सत्त्वसम्भवात्। अधिष्ठानं हि गोलकरूपम्, तस्मान्निसृताः रश्मयोऽर्थदेशं यावत् प्रसृताः सन्ति प्रदीपान्निसृतरश्मिवत्। अधिष्ठानपिधाने विषयाग्राहकत्वञ्च न प्राप्यकारित्वं विहन्ति घ्राणादेस्तत्सद्भावेऽपि प्राप्यकारित्वाऽविरोधात्। न च रश्मिवत्त्वं चक्षुषोऽसिद्धम्; तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि–रश्मिमच्चक्षुः तैजसत्वात् प्रदीपवत्। नचेदमप्यसिद्धं तत एव, तथाहि–तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् तद्वदेव, अतो रश्मिवत्त्वस्यात्र प्रसिद्धेः। 'प्राप्यकारित्वे चक्षुषो महतः पर्वतादेरप्रकाशप्रसङ्गः' इत्येतत्प्रत्याख्यातम्; धत्तूरकपुष्पवद् आदौ सूक्ष्माणामप्यन्ते महत्त्वोपपत्तेस्तद्रश्मीनाम्। ते हि आलोकमिलिता यावदर्थं वर्द्धन्ते, महतः पर्वतादेः प्रकाशकत्वान्यथानुपपत्तेः। ननु चक्षुषः प्राप्यकारित्वे कथं शाखाचन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणम्? इत्यपि वार्तम्; युगपद् ग्रहण-

१ "रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्।" न्यायसू० ३।१।३२। "तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद् भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य च इति।" न्यायभा० पृ० २४७। २ "कृष्णसारं रश्मिवत् द्रव्यत्वे सति रूपोपलब्धौ नियतस्य साधनाङ्गस्य निमित्तत्वात् प्रदीपवद् इति। अथवा, रश्मिवच्चक्षुः द्रव्यत्वे सति नियतत्वे च सति स्फटिकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्।" न्यायवा० पृ० ३८१। न्यायवा० ता० पृ० ५२५। "तैजसत्वं तु तस्य रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्याभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।" प्रशस्त० कन्दली पृ० ४०। प्रश० व्योमवती पृ० २५६। "यद्गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपस्य व्यञ्जकम् इन्द्रियं तत्तैजसम्···तैजसत्वे च स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपाभिव्यञ्जकत्वं प्रदीपवत्" प्रश० किरणावली पृ० ७३। वैशे० उप० पृ० १२८। "चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्" मुक्तावली पृ० १७६। ३ "यच्च महदणुप्रकाशकत्वं तदप्यन्यथासिद्धत्वादसाधनम्; तथाहि–चक्षुर्बहिर्गतं बाह्यालोकसम्बन्धाद्विषयपरिमाणमुत्पद्यते·····" प्रश० व्योमवती पृ० १५९। "पृथुनरग्रहणस्यापि पृथ्वव्रतया तद्वदेवोपपत्तेः" प्रश० किरणावली पृ० ७४। ४ "यत्पुनरेतत् शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणात् इति; तदपि न; अनभ्युपगमात्। को हि स्वस्थात्मा शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते? कालभेदाग्रहणात् मिथ्याप्रत्यय एषः उत्पलदलशतव्यतिभेदवत् इति।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२०। प्रश० कन्दली पृ० २३। व्योमवती पृ० १५९। प्रश० किरणावली पृ० ७४। मुक्तावली पृ० १७८। "समसमयसंवेदने तु केचित्परिहारमेवं वर्णयन्ति–सकलानर्थान् व्याप्य युगपदवस्थितेन बाह्येन तेजसा सह एकीभूतास्ते चाक्षुषा रश्मयः युगपद् ग्रहणहेतवः इति। तत्र अपरे दूषयन्ति–इत्थं प्राप्तावभ्युपगम्यमानायाम् अतिदूरव्यवहितानामप्यर्थानां ग्रहणं दुर्निवारम्। अन्ये त्वाहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद्यौगपद्याभिमान इति। तदप्यन्ये नानुमन्यन्ते–अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु कालभेदः पद्मपत्रशतव्यतिभेदवन्मा नामावसायि। अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेष्वर्थेषु ध्रुवे च कालभेदानध्यवसायो न बुद्धिमनुरञ्जयतीति। वयं तु वदामः अदृष्टसापेक्षत्वाद्दोषः, नयनरश्मिभिरेकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागः अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वः, इति न सर्वोपलम्भः युगपच्च भौमध्रुवादिदर्शनसिद्धिः।" प्रकरणपं० पृ० ४५।

स्यासिद्धत्वात्; प्रथमतो हि चक्षुः सन्निकृष्टां शाखां प्राप्य प्रकाशयति, पश्चाद्विप्रकृष्टं चन्द्रमसम्, युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानस्तु उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् भ्रान्तिनिबन्धनः। दूरनिकटादिव्यवहारोऽपि चक्षुषः प्राप्यकारित्वे न दुर्घटः; शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतोपपत्तितस्तस्य सुघटत्वात्। यदि[2] चाप्राप्यकारि चक्षुः स्यात्तर्हि कुड्याद्यव्यवहितवत् तद्व्यवहितस्यापि घटादेर्मेर्वादेश्चानेकयोजनशतव्यवहितस्यापि तत् प्रकाशकं[3] स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्ति- ५
विप्रकर्षाऽभावात्, न चैवम्, अतः प्राप्यकारि तत् प्रतिपत्तव्यम्।

कारकत्वाच्च[4]; यत् कारकं तत् प्राप्यकारि यथा वास्यादि, कारकञ्च चक्षुरिति। यच्चास्याप्राप्यकारित्वे साधनमभिधीयते–'अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्' इति; तत् साध्याऽविशिष्टत्वाद् असाधनमेव। पर्युदासप्रतिषेधे हि यदेवास्याऽप्राप्यकारित्वं तदेव अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वम्। प्रसज्यप्रतिषेधस्तु जैनैर्नाभ्युपगम्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गादिति। १०

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्–'बाह्येन्द्रियत्वात्' इति; तत्र किमिदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वम्, बहिःकारणप्रभवत्वम्, इन्द्रियस्वरूपातीतत्वम्, मनोऽन्यत्वं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पे मनसाऽनेकान्तः; तस्याप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्। द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मि- १५
रूपस्य, गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशेऽवस्थायित्वं स्यात्? प्रथमपक्षे किमिदं तत्र तस्यावस्थायित्वम्–आश्रितत्वम्, प्रकाशकत्वेन प्रवृत्तिर्वा? तत्राद्यविकल्पे अपसिद्धान्तः; रश्मिरूप-

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं चक्षुषः अप्राप्यकारित्वप्रसाधनम्–

---

१ "यत्पुनरेतदुक्तम्–दिग्देशव्यपदेशात् इति; तदपि शरीरावधिनिमित्तत्वात्। यत्र इन्द्रियं शरीरञ्च अर्थेन सम्बद्ध्यते तत्र दिग्देशव्यपदेशो न भवति दूरान्तिकानुविधानं वा। यत्र तु इन्द्रियमेव केवलं सम्बद्ध्यते तत्र शरीरमवधिं कृत्वा संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वं भूयस्त्वं वाऽपेक्ष्यमाणस्य दिग्देशप्रत्ययाः सन्निकृष्टविप्रकृष्टप्रत्ययाश्च भवन्ति।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२१। "इन्द्रियसम्बन्धस्य अतीन्द्रियत्वात् न तद्भावाऽभावकृतौ सान्तरनिरन्तरप्रत्ययौ, किन्तु शरीरसम्बन्धभावाभावकृतौ; यत्र शरीरसम्बद्धस्यार्थस्य ग्रहणं तत्र निरन्तरोऽयम् इति प्रत्ययः, यत्र तु तदसम्बद्धस्य तत्र सान्तर इति" प्रश० कन्द० पृ० २४। २ **यदि प्राप्य**–ब०, ज०। "यद्यप्राप्यकारि चक्षुः भवति न कुड्यकटादेः आवरणस्य सामर्थ्यमस्ति इत्यवरणानुपपत्तिः स्यात्। न च व्यवहितार्थोपलब्धिरस्ति तस्मान्न अप्राप्यकारि।" न्यायवा० पृ० ३५। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२१। न्यायमं० पृ० ४७९। "ये पुनरप्यकारि चक्षुराहुः तेषां व्यवहितविप्रकृष्टार्थग्रहणं दुर्निवारम् सन्निधान इव विप्रकृष्टेऽपि स्फुटतरमणीयांसोऽप्यर्था गृह्येरन्।" प्रकरणपं० पृ० ४५। न्यायमं० पृ० ४७९। ३ **प्रकाशः कस्मात्** ब०, ज०। **–शकं क्वचि**–भां०। ४ "करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टं तथा च इन्द्रियाणि, तस्मात् प्राप्यकारीणि।" न्यायवा० पृ० ३६। "कारकञ्च अप्राप्यकारि च इति चित्रम्।" न्यायमं० पृ० ४७९। "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात्।" न्यायमं० पृ० ७३। ५ पृ० ७५ पं० १२। **बाह्येन्द्रियात्** भां०। ६ "किं बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वम् बहिःकारणप्रभवत्वं वा स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० ३२८। प्रमेयक० पृ० ५९ पू०। रत्नाकरावo पृ० ५५।

स्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्यानभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भिः प्रतिज्ञाताः। द्वितीयविकल्पे त्वसिद्धो हेतुः; रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाऽभावतः प्रकाशकत्वेन बहिर्देशे तत्प्रवृत्तेरसिद्धेः। तद्ग्राहकप्रमाणाभावश्च अत्रैव प्रतिपादयिष्यते। दृष्टान्तश्च साधनविकलः; तथाविधबाह्येन्द्रियत्वस्य त्वगादावसम्भवात्। गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा; अर्थदेशासम्बद्धस्यास्य शरीरप्रदेश एव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। बहिःकारणप्रभवत्वमपि मनसैवाऽनैकान्तिकम्; आत्मापेक्षया हि बहिःकारणं पुद्गलतत्त्वम् तत्प्रभवत्वञ्च चक्षुरादीन्द्रियवत् मनसोऽस्त्येव, अस्यापि पौद्गलिकत्वेन षट्पदार्थपरीक्षायां प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। इन्द्रियस्वरूपातीतत्वञ्च अपसिद्धान्तप्रसङ्गादनुपपन्नम्। मनोऽन्यत्वमपि मनसः सिद्धौ सिद्ध्येत, न च तत्सिद्धं भवत्परिकल्पितस्य मनसः षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्। सिद्ध्यतु वा; तथापि बाह्येन्द्रियत्वं मनोऽन्यत्वे सतीन्द्रियत्वम् उच्यते, तत्र च मनोव्यवच्छेदार्थं बाह्यविशेषणमयुक्तम्; तस्यापि सर्वत्र प्राप्यकारित्वात्, सुखादौ हि संयुक्तसमवायादिसम्बन्धात्, व्याप्तौ तु सम्बन्धसम्बन्धात् तज् ज्ञानमुत्पादयति रूपादौ नेत्रादिवत्, न खलु रूपादौ नेत्रादेरपि सम्बन्धसम्बन्धादन्यः सम्बन्धोऽस्ति।

धर्मित्वेन चात्रोपात्तं चक्षुः गोलकस्वभावम्, रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; अर्थेनासम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेश एव गोलकस्वभावस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतः प्रतीतेः, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु धर्मिणोऽसिद्धिः; रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः। तत्साधकं हि प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षम्; अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाऽप्रतीतेः न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्, नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते। किञ्च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते, न चार्थदेशे विद्यमानैस्तैः अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षोऽस्ति यतस्तत्र प्रत्यक्षमुत्पद्येत अनवस्थाप्रसङ्गात्। अनुमानतोऽपि अतएव, अन्यतो वा तत्सिद्धिः स्यात्? यदि अतएव; अन्योन्याश्रयः—प्रसिद्धे हि अनुमानोत्थानेऽतस्तत्सिद्धिः, अस्याश्चानुमानोत्थानमिति। अनुमानान्तरात् तत्सिद्धावनवस्था; धर्मिणस्तत्राप्यनुमानान्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात्।

एतेन यदुक्तं रश्मिप्रसाधकमनुमानम्—'रश्मिवच्चक्षुः तैजसत्वात्' इति; तत्प्रत्याख्यातम्; उक्तपक्षदोषाणामत्राप्यविशेषात्। किञ्च, रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुषः प्रसाध्यते, तद्व्यति-

१—रणत्वं पुद्गलवत्त्वं आ०, ब०, ज०। "आत्मापेक्षया हि बहिःकारणं पुद्गलतत्त्वं तत्प्रभवत्वञ्च चक्षुरादीन्द्रियवत् मनसोऽप्यस्त्येव।" स्या० रत्ना० पृ० ३२९। २—त्र मनो—भां०। ३ मनः। ४ "चक्षुश्चात्र धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा?" प्रमेयक० पृ० ५९ उ०। न्यायवि० वि० पृ० ३९७ पू०। स्या० रत्ना० पृ० ३१९। रत्नाकराव० पृ० ५२। ५ धर्मवत्त्वत्र ब०, ज०। ६ यौगमते। ७ सिद्धे हि ब०, ज०। ८ उक्तदोषपक्षाणाम् भां०, आ०। "रश्मिवल्लोचनं सर्वं तैजसत्वात् प्रदीपवत्। इति सिद्धं (?) न नेत्रस्य ज्योतिष्कत्वं प्रसाधयेत् ॥३६॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३२। राजवा० पृ० ४८। प्रमेयक० पृ० ६० पू०। स्या० रत्ना० पृ० ३१९। †पृ० ७६ पं० ५।

रिक्तस्य वा ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य; तस्यासिद्धस्वरूपत्वात्, अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च[1]। गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा; प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। अथ अदृश्यास्तद्रश्मयः अनुद्भूतरूप-स्पर्शवत्त्वात्, अतो नास्य प्रत्यक्षबाधा; कथमेवं रूपप्रकाशकत्वं तस्य स्यात् ? तथाहि—चक्षू रूपप्रकाशकं न भवति, अनुद्भूतरूपत्वात्, जलसंयुक्तानलवत्। न चानुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते। जलहेम्नोर्भासुररूपोष्णस्पर्शयोरनुद्भूतिप्रतीतिरस्ति; इत्यप्यसम्यक्; उभयानुद्भूतेस्तत्राप्यप्रतिपत्तेः। दृष्टानुसारेण चादृष्टार्थकल्पना, अन्यथा पृथिव्यादेरपि तद्वत्ताप्रसङ्गः; तथाहि—रश्मिवन्तः पृथिव्यादयः द्रव्यत्वात् प्रदीपवत्। यथैव हि तैजसत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रदीपे प्रतिपन्नं तथा द्रव्यत्वमपि। अथ ततस्तेषां तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः, सोऽन्यत्रापि समानः। अथ मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः, तत्कथं तद्विरोधः ? यदि नाम तत्र ते प्रतीयन्ते अन्यत्र किमायातम् ? अन्यथा हेम्नि पीतत्वस्य सुवर्णत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्तेः पटादौ पीतत्वोपलम्भात् सुवर्णत्वसिद्धिः स्यात्। प्रत्यक्षबाधनम् अन्यत्रापि। रश्मिवत्त्वे चास्य अर्थप्रकाशने आलोकापेक्षा न स्यात्; तथाहि—यद् रश्मिवत् तदर्थप्रकाशने नालोकापेक्षं यथा प्रदीपः, रश्मिवच्च भवद्भिरभिप्रेतं चक्षुरिति। तथा तद्वत्त्वे स्वसम्बद्धस्याञ्जनादेः प्रकाशकत्वप्रसङ्गः, न खलु प्रदीपस्तद्वान् स्वसम्बद्धं शलाकादिकं न प्रकाशयति इति प्रातीतिकम्।

प्रयोगः—यद् रश्मिवत् तत्स्वसम्बद्धमर्थं प्रकाशयत्येव यथा प्रदीपः, रश्मिवच्च चक्षुः, तस्मात्स्वसम्बद्धं कामलादिकं प्रकाशयेदेव। न चात्र चक्षुषः सम्बन्धोऽपि नास्ति इत्यभिधातव्यम्; यतो गोलकस्वरूपं चक्षुस्तत्रासम्बद्धम्, रश्मिरूपम्, शक्तिस्वभावं वा ? तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; गोलकस्वरूपस्य चक्षुषः काचादौ सम्बन्धप्रतीतेः। द्वितीयपक्षेऽपि तत्रास्य सम्बन्धोऽ-

---

१—ङ्गात् गो—ब०, ज०। २ "अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते इति। दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः—उद्भूतरूपस्पर्श प्रत्यक्षं तेजः यथा आदित्यरश्मयः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्श च प्रत्यक्षं तेजः यथा प्रदीपरश्मयः। उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथा अबादिसंयुक्तं तेजः। अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति।" न्यायभा० पृ० २५०। न्यायवा० पृ० ३७८। "चाक्षुषे च रश्मौ रूपसंस्कारः रूपोद्भवो नास्ति। मध्यन्दिनोल्काप्रकाशे च रूपसंस्कारो रूपानभिभवो नास्ति इति न तेषां प्रत्यक्षता।" वैशे० उप० पृ० १२०। ३ "नानुद्भूतद्वयं तेजो दृष्टं चक्षुर्यतस्तथा। अदृष्टवशतस्तच्चेत् सर्वमक्षं तथा न किम् ॥ ५० ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ २३३। प्रमेयक० पृ० ६० पू०। सन्मति० टी० पृ० ५४१। ४ रश्मिवत्ता। ५ "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च।" न्यायसूत्र ३।१।४३। "दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयः नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेषस्यानुमानमिति।" न्यायभा० पृ० २५४। न्यायमं० पृ० ४८०। ६ अस्मदादिचक्षुषि। ७ "यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् तदा अत्यभ्यासेपि पश्येदक्षिस्थाम् अञ्जनशलाकाम्, दूरे च व्यक्तदर्शनं स्यात्। न चैतत् संभवति इत्ययुक्तमेतत्।" चतुःशतक० पृ० १८६। ८ "बाह्यं चक्षुर्यदा तावत् कृष्णतारादि दृश्यताम्। प्राप्तं प्रत्यक्षतो बाधात् तस्यार्थाऽप्राप्तिवेदिनः ॥ ६ ॥ "शक्तिरूपमदृश्यं चेदनुमानेन बाधनं। आगमेन स्वनिर्णातासंभवद्बाधकेन च ॥ १० ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३०। ९ गोलकरूपम् ब०, ज०। "यतो व्यक्तिरूपं चक्षुः तत्र असम्बद्धं शक्तिस्वभावं वा रश्मिरूपं वा ?" प्रमेयक० पृ० ५९ उ०।

स्त्येव, नहि स्फटिकादिकूपिकामध्यगतप्रदीपादिरश्मयः ततो निर्गच्छन्तः तत्संयोगिना न सम्बद्धाः तत्प्रकाशका वा न भवन्तीति प्रेतीतिः । शक्तिरूपमपि चक्षुः व्यक्तिरूपचक्षुषो भिन्नदेशम्, अभिन्नदेशं वा स्यात्? न तावद्भिन्नदेशम्; तच्छक्तित्वव्याघातानुषङ्गात्, निराश्रयत्वप्रसङ्गाच्च । न हि अन्यशक्तिरन्याश्रयायुक्ता, तदेशद्वारेणैवार्थोपलब्धिप्रसङ्गश्च । अथ ततोऽभिन्नदेशम्; तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा? यदि सम्बद्धम्; बहिरर्थवत् स्वाश्रयं तत्सम्बद्धञ्चाञ्जनादिकं प्रकाशयेत् । अथासम्बद्धम्; कथमाधेयं नाम अतिप्रसङ्गात्?

†यदपि–'तैजसत्वात्' इति साधनमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; असिद्धत्वात् । तदसिद्धत्वञ्च कुतश्चित्प्रमाणात्तत्र तस्याऽप्रतीतेः । तद्धि गोलकस्वरूपस्य चक्षुषोऽभ्युपगम्येत, रश्मिरूपस्य वा? यदि गोलकस्वरूपस्य; तदाऽध्यक्षबाधा, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितस्यास्य अध्यक्षतः प्रतीतेः । अनुमानबाधश्च; तथाहि–चक्षुस्तैजसं न भवति, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात्, यद् यत्तथाविधं तत् (तत्तत्) तैजसं न भवति यथा मृत्पिण्डादिः, भासुररूपोष्णस्पर्शरहितञ्च चक्षुः, तस्मात्तैजसं न भवतीति । तथा, न तैजसं चक्षुः, तमःप्रकाशकत्वात्, यत्पुनस्तैजसं तन्न तमःप्रकाशकं यथा आलोकः, तमःप्रकाशकञ्च चक्षुः, तस्मान्न तैजसमिति । रश्मिरूपस्य तु चक्षुषोऽसिद्धस्वरूपत्वान्न तैजसत्वमुपपद्यते, न खलु रश्मयः प्रत्यक्षादितः प्रसिद्ध्यन्तीत्युक्तम् । ननु मार्जारादिनेत्रे नेत्रत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रतिपन्नम्, अतोऽन्यत्रापि मनुष्यादिनेत्रे नेत्रत्वाद्रश्मिवत्त्वं ततस्तैजसत्वञ्च प्रसाध्यते, तर्हि गवादिनेत्रे नेत्रत्वं कृष्णत्वेन नरनारिनेत्रे च धावल्येन व्याप्तं प्रतिपन्नम्, अतोऽविशेषेण काष्ण्यं धावल्यं वा पार्थिवत्वम् आप्यत्वं वा प्रसाध्यताम् अविशेषात् ।

‡यदपि–'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति तत्तैजसत्वे साधनमभिहितम्, तदपि जलाऽञ्जन-चन्द्र-माणिक्यादिभिरनैकान्तिकम् । न चैतद्वक्तव्यम्–जलादीन् प्रति गत्वा व्यावृत्तानां चक्षूरश्मीनामेव तत्प्रकाशकत्वम्, न जलादीनाम् इति; सर्वत्र दृष्टहेतुवैफल्यापत्तेः । तथा च दृष्टान्ताऽसिद्धिः; प्रदीपादावपि अन्यस्यैव तत्प्रकाशकत्वप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षबाधनम् उभयत्र । रूपप्रकाशकत्वञ्च रूपस्यानुभवः, तत्र ज्ञानजनकत्वं वा? प्रथमविकल्पे रूपज्ञानेनानेकान्तः; तस्यातैजसत्वेऽपि रूपानुभवसम्भवात् । द्वितीयविकल्पे तु घटादिरूपेणानेकान्तः, तस्याऽतैजस-

---

१ प्रतीतम् ब०, ज०, भां० । २ "चक्षुषा शक्तिरूपेण तारकागतमञ्जनम् । न स्पृष्टमिति तद्धेतोरसिद्धत्वमिहोच्यते ॥ १२ ॥ शक्तिर्हि शक्तिमतोऽन्यत्र तिष्ठतार्थेन युज्यते । तत्रस्थेन तु नैवेति कोऽन्योब्रूयाज्जडात्मनः ॥ १३ ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३० । ३–शं तत्र–भां० । ४ "चक्षुस्तैजसं न भवति तमःप्रकाशकत्वात् ।" स्या० रत्ना० पृ० ३२४ । ५–षोऽप्रसि–भां० । ६–तः सिद्ध्य–भां० । ७–नेत्रेऽपि मनुष्यादिनेत्रत्वाद्र–भां० । ८ "रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् इति हेतुश्च जलाञ्जनचन्द्रमाणिक्यादिभिरनैकान्तिकः ।" प्रमेयक० पृ० ६० उ० । सन्मति० टी० पृ० ५४१ । स्या० रत्ना० पृ० ३२० । रत्नाकराव० पृ० ५३ । †पृ० ७६ पं० ५ । ‡पृ० ७६ पं० ६ ।

स्यापि रूपज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्। 'करणत्वे सति' इति विशेषणेऽपि आलोकार्थसन्निकर्षेण चक्षूरूपयोः संयुक्तसमवायेन चानेकान्तः,'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणेऽपि चन्द्रादिनाऽनेकान्तः। अतश्चक्षुषा कुतश्चित्तैजसत्वाऽसिद्धेः कथं रश्मिवत्त्वं सिद्धयेत् यतः प्राप्यकारित्वं स्यात् ?

किञ्च, अस्य प्राप्यकारित्वे विषयश्चक्षुर्देशमागच्छेत्, चक्षुर्वा विषयदेशम् ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; चक्षुःप्रदेशे विषयस्य गमनाऽप्रतीतेः, न हि चक्षुःप्रदेशे पर्वतादेर्विषयस्यागमनं ५
केनचिद् दृष्टमिष्टं वाऽनुपहतचेतसा। द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधः; विषयं प्रति चक्षुषो गमनाऽप्रतीतेः,'चक्षुर्गत्वा नार्थेनाभिसम्बद्ध्यते, इन्द्रियत्वात्, त्वगादिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च। तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बन्ध एव किन्नाभ्युपगम्यते अलं प्रतीत्यपलापेन ?

किञ्च, चक्षुर्गत्वा संयुज्य अर्थं चेद् द्योतयति, तर्हि यथा विप्रकृष्टस्याऽऽदित्यादेः संयुक्त- १०
समवायाद् रूपं द्योतयति, एवं कर्माऽपि द्योतयेत् संयुक्तसमवायाऽविशेषात्। कथञ्चैवंवादिनः काचाऽभ्रपटल-स्वच्छोदक-स्फटिकाद्यन्तरितार्थानामुपलम्भः स्यात् चक्षुषस्तत्र गच्छतः काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात् ? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयोऽर्थदेशं गच्छन्ति; तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादेरनुपलम्भः, तदाधेयद्रव्यस्य पातश्च स्यात् तदाधारस्यावयविनो नाशात्, न चैवम्, युगपत्तयोर्निरन्तरमुपलम्भात्। पूर्वपूर्वव्यूहनिवृत्तौ उत्तरोत्तरतद्रूपव्यूहा- १५
न्तरस्याशूत्पत्तेः प्रदीपाग्निज्वालावत् निरन्तरताभ्रमे सौगतमतसिद्धिः; सर्वार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वेऽपि इत्थं निरन्तरताभ्रमप्रसङ्गात्। एतेन 'शाखाचन्द्रमसोः क्रमेणानुभवेऽपि आशुवृत्त्योत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धनः' इति प्रत्याख्यातम्।

यच्चान्यदुक्तम्[१]–'शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतोपपत्तेर्दूरनिकटादिव्यवहारः सुघटः' इति; तदपि श्रद्धामात्रम्; इन्द्रियसन्निकर्षेणास्य प्रतिपत्तौ तथा तद्व्यवहारानुप- २
पत्तेः। तथाहि–यद् इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारः यथा रसादौ, इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति।

प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः संशय-विपर्ययानुपपत्तिः; सामान्यवद् विशेषाणामपि सन्निकृष्टानामुपलम्भसंभवात्। विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि संशयो विपर्ययश्च। न च चक्षुषा सन्निकृष्ट-

---

१ "पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत्। अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वाद् विषयदेशं गच्छेत्तदा उन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात्।" चतुःशतक पृ० १८६ २ 'चक्षुर्गत्वा अर्थेन सम्बद्ध्यते' इत्येवंवादिनः। "काचेन अभ्रपटलेन स्फटिकेन अम्बुना च अन्तरितं व्यवहितं रूपं कथं दृश्यते सप्रतिघत्वात्? काचादिव्यवहितं चक्षुर्न पश्येत्, तच्च पश्यति इति सिद्धान्तः।" स्फुटार्थअभि० पृ० ८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३०। प्रमेयक० पृ० ६१ उ०। सन्मति० टी० पृ० ५४४। रत्नाकराव० पृ० ५८। ३ "अथ पूर्वपूर्वकाचादिव्यूह (नि)वृत्तौ उत्तरोत्तरतद्रूपव्यूहान्तरस्योपपत्तेः प्रदीपज्वालावत् निरन्तरताभ्रान्तिः इत्युच्यते"···स्या० रत्ना० पृ० ३२६। ४ पृ० ७७ पं० ३। ५ "अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययाभाव इति चेत् प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात्" तत्त्वार्थराजवा०पृ० ४८। स्या० रत्ना० पृ० ३३२।

त्वाऽविशेषेऽपि सामान्यमेवोपलभ्यते न विशेषः इत्यभिधातव्यम्; विशेषाभावात्। तन्न प्राप्यकारित्वं चक्षुषो घटते। न चाप्राप्यकारित्वे सकलार्थप्रकाशकत्वप्रसङ्गः; योग्यदेशापेक्षणाद् अयस्कान्तवत्, नहि अयस्कान्तोऽयसोऽप्राप्तस्याकर्षणे प्रवर्तमानः सर्वस्यायसः तथाविधस्याकर्षणे समर्थः, अपि तु योग्यदेशस्थस्यैव। अञ्जन-तिलक-मन्त्रादिर्वा अप्राप्तस्यापि स्त्र्यादेराकर्षकः सन् ५ न सर्वस्याकर्षको दृष्टः नियतस्यैव स्त्र्यादेः तेनाकर्षणोपलम्भात्। भवतोऽपि च 'चक्षूरश्मयो लोकान्तं गत्वा किमिति रूपं न प्रकाशयन्ति, चक्षुर्वा संयुक्तसमवायाद् यथा रूपं प्रकाशयति तथा गन्धादिकमपि किमिति न प्रकाशयेत् तत्रापि तस्याविशेषात्?' इति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

यदपि 'कारकत्वात्' इत्युक्तम्; तदपि मनसा अयस्कान्ताऽञ्जनतिलकमन्त्रादिना चानैकान्तिकम्, तस्य कारकत्वेऽपि अप्राप्यकारित्वात्। यदपि 'अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्' १० इत्यस्य साध्याविशिष्टत्वमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; प्रसङ्गसाधनत्वादेतस्य, श्रोत्रादौ हि प्राप्यकारित्वाऽत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वयोः व्याप्य-व्यापकभावसिद्धौ सत्यां परस्य व्यापकाभावेच्छया अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वलक्षणया अनिष्टस्य प्राप्यकारित्वलक्षणव्याप्याभावस्य आपादनमात्रमेवानेन विधीयते इति।

---

१ "अथ दूषणं सर्वाप्राप्तग्राहकत्वं चक्षुःश्रोत्रलक्षणस्य धर्मिणः प्रसज्यते; तददूषणम्; अनुमानबाधात्। कथमित्याह–कथं तावदयस्कान्तो न सर्वमप्राप्तमयः कर्षति इति। न सर्वाप्राप्तग्राहकं चक्षुःश्रोत्रं सर्वाप्राप्तग्रहणशक्तिहीनत्वात् अयस्कान्तवत्। अयस्कान्तो हि अप्राप्तमयो गृह्णाति···न सर्वमप्राप्तं गृह्णाति··· अथवा न सर्वस्वग्राह्यग्राहि चक्षुःश्रोत्रं इन्द्रियस्वाभाव्यात्। स्फुटार्थ अभि० पृ० ८८। "अप्राप्यकारित्वे व्यवहितातिविप्रकृष्टग्रहणप्रसङ्गः इति चेन्न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात्। अयस्कान्तोपलम् अप्राप्य लोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टम्।" तत्त्वार्थरा०वा० पृ० ४८। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। रत्नाकरव० पृ० ५७। २–कान्तरं गता कि–भां०। ३–मपि प्रका–आ०, ब०, ज०। ४ पृ० ७७ पं० ७। ५ "तथैव कारणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता। मन्त्रेण भुजङ्गाद्युच्चाटकादिकरेण वा ॥८८॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३४। स्या० रत्ना०पृ० ३३०। "अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वात् वास्यादिवत् इति ब्रूषे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः।" प्रमाणमी० पृ० ३७। स्या० रत्ना० पृ० ३३०। ६ पृ० ७७ पं० ८। ७ तदयुक्त–भां०। ८ "प्रसङ्गसाधनत्वादेतस्य"··· प्रमेयक० पृ० ६१ उ०। ९ सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-जैमिनीयाः सर्वबहिरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं मन्यन्ते। बौद्धाः त्वग्-घ्राण-रसनानां प्राप्यकारित्वं चक्षुःश्रोत्रयोरप्राप्यकारित्वञ्च स्वीकुर्वते। जैनास्तु त्वग्-घ्राण-रसन-श्रोत्राणां प्राप्यकारित्वं चक्षुषश्च अप्राप्यकारित्वं साधयन्ति। तत्तद्ग्रन्थानां सन्निकर्षचर्चाविषयकस्थलानि निम्नप्रकाराणि बोध्यानि–सांख्यद० सू० १।८७ पृ० ६२। मुक्ताव० पृ० १७६। न्यायद० सू० ३।१।३०, पृ० २४६। न्यायवा० पृ० ३३, ३७३। न्यायवा० ता० टी० ११६, ५२०। न्यायसारटी० पृ० ७३। न्यायमं० पृ० ७३, ४७७। प्रशस्त० कन्द० पृ० २३। व्योमवती पृ० १५९, २५६। प्रश० किरणा० पृ० ७४। शाबरभा० सू० १।१।४, पृ० २१। मी० श्लो० पृ० १४६। प्रकरणपं० पृ० ४४। प्रमाणसमु० श्लो० २० पृ० ४०। स्फुटार्थअभि० पृ० ८४। चतुःशतक पृ० १८६। तत्त्वसं० पं० पृ० ६८२। प्रज्ञा० १५, पृ० २९८। आवश्यकनि० गा० ५। विशेषाव० भा० गा० २०४-२१२ पृ० १२२,

ननु 'श्रोत्रादौ हि' इत्याद्ययुक्तमुक्तम्; चक्षषोऽप्राप्यकारित्वे साध्ये श्रोत्रस्य विपक्षतानुपपत्तेः तद्वत्तस्याप्यप्राप्यकारित्वात्। "*चक्षुःश्रोत्रमनसामप्राप्तार्थप्रकाशकत्वम्*" [ ] इत्यभिधानात्। प्राप्यकारित्वे चास्य तद्विषये दूरादिव्यवहारो न स्यात्, अस्ति चात्रायम् 'दूरे शब्दः' 'निकटे शब्दः' इति व्यवहारोपलम्भात्, अतोऽप्राप्यकारित्वमेवास्योपपन्नम्। तथा च प्रयोगः—शब्दः स्वग्राहकेण असन्निकृष्ट एव गृह्यते, दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वात्, पादपादिवत्। न चासन्निकृष्टस्य शब्दस्य ग्रहणे कथं ततः श्रोत्राभिघातः इत्यभिधातव्यम्; भाँसुररूपस्यासन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि अतश्चक्षुषोऽभिघातोपलम्भात्। इयांस्तुँ विशेषः अत्र तेजस्विताऽभिघातहेतुः, शब्दे तु तीव्रतेति।

'श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्—'शब्दः स्वग्राहकेणासन्निकृष्ट एव गृह्यते' इत्यादि; तत्र पक्षस्याध्यक्षबाधाँ; कर्णशष्कुल्यन्तःप्रविष्टस्य मशकादिशब्दस्य प्रकाशकत्वेन श्रोत्रस्याध्यक्षतः प्रतीतेः, अतोऽग्नावनुष्णत्ववत् स्वग्राहकेणासन्निकृष्टत्वं शब्दस्याध्यक्षबाधितम्। हेतुश्च गन्धेनाँनैकान्तिकः; तस्य स्वग्राहकेण सन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वप्रतीतेः। न च तथा प्रतीयमाने गन्धे दूर-निकटादिव्यवहारोऽसिद्धः; 'दूरे पद्मगन्धः, निकटे मालतीगन्धः' इत्यादिव्यवहारस्य लोके सुप्रसिद्धत्वात्।

तत्प्रतिविधानम्—

किञ्चँ, दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वं साकारज्ञानपक्षमभ्युपगम्य उच्यते, निराकारज्ञानपक्षं वा? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; स्वज्ञानगतस्यँ शब्दाकारस्य ग्रहणे दूर-निकटव्यवहारानुपपत्तेः। यस्य

तथा गा० ३३६-३४० पृ० १९९। तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ८७। सर्वार्थसिद्धि पृ० ५७। राजवा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२९। प्रमेयक० पृ०५९। न्यायवि० वि० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ५४०। स्या० रत्ना० पृ० ३१८। रत्नाकराव०पृ० ५१।

१ "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा। घ्राणादिभिः त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।" अभि० कोश १।४३। "चक्षुः-श्रोत्र-मनोऽप्राप्तविषयम् उपात्तानुपात्तमहाहेतुः शब्दः इति सिद्धान्तात्" तत्त्वसं० पं० पृ० ६०३। स्या० रत्ना०पृ०३३३। "चक्षुःश्रोत्रमनसाम् अप्राप्तार्थकारित्वम्" सन्मति० टी० पृ० ५४५। २ भास्वर—भां०। ३ "इयांस्तु विशेषः अत्र तेजस्विता अभिघातहेतुः शब्दे तु तीव्रता।" स्या० रत्ना० पृ० ३३३। ४—बाधः आ०। "विप्रकृष्टशब्दग्रहणे च स्वकर्णतान्तर्विलगन्मशकशब्दो नोपलभ्येत।" तत्त्वार्थराजवा० पृ० ४८। "अप्राप्यकारित्वे श्रोत्रस्य चक्षुष इव अत्यासन्नविषयप्रकाशकत्वं न स्यात् इति मशकादिशब्दस्य प्राप्तस्य प्रत्यक्षतः प्रकाशकत्वेन प्रतीयमानस्य अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्य अध्यक्षबाधितम् अग्नौ अनुष्णत्ववत्।" सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। ५ "दूरे जिघ्राम्यहं गन्धमिति व्यवहृतीक्षणात्। घ्राणस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिरिष्टहानितः॥ ९२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। रत्नाकराव० पृ० ५९। ६ "यतः साकारज्ञानपक्षे अनाकारज्ञानपक्षे वायमभ्युपगम इति वाच्यम्।" सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४। ७—स्य ग्रह—भां०।

हि निराकारं ज्ञानं भिन्नदेशमर्थं वेत्ति तस्य 'इदं दूरम्, इदं निकटम्' इति वक्तुं युक्तम्। साकार-ज्ञानवादिनः पुनः यद् दूरादि न तज्ज्ञानवेद्यम्, अवेद्ये च न दूरादिव्यवहारो युक्तः, न ह्यन्धस्य 'किञ्चिद्दूरं निकटंवा' इति व्यवहारस्तात्त्विकोऽस्ति;यच्च वेद्यं ज्ञानस्य स्वाकारमात्रम् न तद्दूरादि, ज्ञानस्वरूपादभिन्नत्वात् । नहि ज्ञानस्य स्वरूपं सुखादयो वा ज्ञानादभिन्नाः प्रतीयमानाः
५ दूरादिव्यवहारभाजः प्रतीयन्ते, सर्वत्र आसन्नव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। अथात्रापि आकाराधायकस्य दूरादित्वाद् दूरादिव्यवहारः; व्यर्थस्तर्हि तदप्राप्यकारित्वप्रसाधनप्रयासः, कर्णशष्कुलिप्रविष्टशब्दग्रहणेऽपि दूरादिव्यवहारस्य तन्मूलकारणदूरादित्वेनोपपद्यमानत्वात्। दृश्यते हि गन्धस्य घ्राणेन्द्रियसन्निकृष्टस्य ग्रहणेऽपि तन्मूलकारणदूरादित्वेन 'दूरे पद्मगन्धः' इत्यादि-व्यवहारः।

१० किञ्च, स्वरूपत एव शब्दो दूरादिस्वभावः, दूरादिकारणप्रभवत्वात्, दूरादिदेशादागतत्वात्, दूरादिदेशे स्थितत्वाद्वा ? न तावत्स्वरूपतः; निकटस्यापि तथाव्यवहारप्रसङ्गात्। दूरादिकारणप्रभवत्वेन चास्य दूरादिव्यवहारार्हत्वे नातः स्वग्राहकेणासन्निकृष्टस्य ग्रहणसिद्धिः, गन्धेनानैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्। अथ दूरादिदेशादागतत्वात् शब्दस्य दूरादित्वम्; युक्तमिदं तथैवास्य तद्रूपतोपपत्तेर्गन्धादिवत्, दूरादिप्रदेशादागतो हि गन्धः शब्दो वा स्वेन्द्रियसन्निकर्षेण
१५ प्रतीयमानोऽपि योग्यताविशेषवशात् सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टतया प्रतीयते।

दूरादिदेशे स्थितत्वात्तु तस्य दूरादित्वे 'स्वोत्पत्तिदेशस्था एव शब्दाः श्रोत्रैर्गृह्यन्ते नत्वागताः' इत्यभ्युपगतं स्यात्। तथा च यो निर्वाते दूरस्थेन मनागपि न श्रूयते शब्दः सोऽनुकूलवाते कथं श्रूयेत ? यश्च आसन्नेन श्रूयते स एव प्रतिवाते कस्मात्तेन न श्रूयते; तद्घातेन श्रोत्राभिघातात्, शब्दस्य नाशितत्वाद्वा ? यदि श्रोत्राभिघातात् तर्हि निर्वातप्रदेशस्थेन श्रूयताम्।
२० न च तत्प्रदेशे असता शब्दप्रदेश एव सता ऽनेन तदभिघातो युक्तः; पर्वते प्रज्वलिताग्निना महानसे अन्नपाकप्रसङ्गात्। शब्दस्य नाशितत्वे तु यस्याप्यसौ वातोऽनुकूलः तेनापि न श्रूयेत अविशेषात्। तं प्रति तेनास्य प्रेरणे तच्छ्रोत्रेण प्राप्तोऽसौ गृह्यते इति सिद्धमस्य प्राप्यकारित्वम्। यदि च स्वोत्पत्तिदेश एव सर्वे शब्दा विलयिनः कथं तर्हि नलिकादिशब्दस्य भेर्यादिशब्दस्य च कर्णशष्कुलिगृहप्रपूरणेन प्रतिपत्तिः स्यात् ? कथं वा धवलगृहादौ प्रतिशब्दनम् ? न हि
२५ लोष्टादयः कांसपात्राऽसंसृष्टाः शब्दमुपजनयन्तः प्रतीयन्ते। यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दो

१ निकटाकारं ब०, ज०। २ ज्ञानाभिन्नाः ब०, ज०। ३ स्वस्वरूपतः आ०, ब०, ज०। ४–स्वरूपता आ०, ब०, ज०। "किं स्वभावत एवास्य दूरत्वादित्वात्, दूरादिकारणप्रभवत्वात्, दूरादिदेशे स्थितत्वाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ३३५। ५ "यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नागतः तर्हि कथम् अनुवाते शब्दस्य तद्देशोत्पत्तिकस्यैव श्रवणम्, प्रतिवातेऽश्रवणम्, मन्दवाते मनाक् श्रवणं भवेत् ?" सन्मति० टी० पृ० ५४६। ६ –गन्तव्यं भां०। ७–न्नेन स एव भां०। ८ ते एव आ०। ९ तेन श्रूयते ब०, ज०। १०–ता तेन ब, ज०। ११ वातेऽनुकूलः ब०, ज०। १२–पात्र्या–ब०, ज०, भां०।

गृह्येत तदा तत्रस्थैर्भेर्यादिशब्दैर्महद्भिः अल्पीयसोऽपि मशकादिशब्दस्यानभिभवाद् अनाकुलमेव ग्रहणं स्यात्। ये स्वोत्पत्तिदेशस्था एवेन्द्रियेणासन्निकृष्टा गृह्यन्ते न तेषामन्योन्यं महद्भिरल्पीयसामप्यभिभवः यथा पर्वतपादपादीनाम्, स्वोत्पत्तिदेशस्था एवेन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टा गृह्यन्ते च शब्दा इति। ननु दूरदेशवर्तिनां पर्वतः पादपादीनभिभूय आत्मानमेवोपदर्शयति, अतः साध्यविकलो दृष्टान्तः; इत्यप्यसमीचीनम्; यतस्तेषां देशविप्रकृष्टतया तद्ग्रहणाऽयोग्यत्वाद् अप्रतिभासः नाभिभवात्, मशकादिशब्दानां तु अविप्रकृष्टानामपि भेर्यादिशब्दैरभिभवोऽस्ति अतो न तेषां स्वोत्पत्तिदेशस्थानामेव ग्रहणम्।

यदप्युक्तम्[२]–तच्छब्दैः[३] श्रोत्राभिघातात् तेषामग्रहणम् यथा भासुररूपेण चक्षुषोऽभिघातात् सूक्ष्माग्रहणम् इति; तदप्ययुक्तम्; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्, दिवाकरकरा हि भासुररूपात् प्रतिनिवर्त्य चक्षुषाभिसम्बद्ध्यमानास्तस्य अभिघातहेतवो दृष्टाः अतीव्रालोके तदभिघाताद्दृष्टेः, नचात्र तथाविधं किञ्चिदस्ति यत् शब्दात् प्रतिनिवर्त्य तदभिघातकारणं स्यात्। वायुःस्यात् इति चेत्; निर्वाते[६] तर्हि न स्यात्तदश्रवणम् श्रोत्राभिघातकारणाऽभावात्, दृश्यते चात्रापि भेर्यादिकोलाहले अल्पीयसोऽग्रहणम्, अतोऽन्योन्यदेशोपसर्पणेन अनल्पैरल्पशब्दानामभिभवोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा च दूरदेशागमनविशिष्टत्वादेव अस्य गन्धादिवद् दूरत्वं सिद्धम्, न पुनः स्वोत्पत्तिदेशस्थानामपि देशगतदूरत्वोपचारात्, अन्यथा स्खलिता तत्प्रतिपत्तिः स्यात् माणवकेऽग्निप्रतिपत्तिवत्। कथं वा तत् श्रोत्रस्यार्थाप्राप्यकारित्वं प्रसाधयेत् उपचरितस्याऽप्रसाधकत्वात्? न हि माणवकेऽग्नित्वमुपचरितं दाहादिकार्यं प्रसाधयति।

किञ्च, देशापेक्षया यद् दूरत्वं शब्दस्य तत् किं देशग्रहणे सति स्यात्, असति वा? न तावदसति; विशेषणत्वात्, यद् विशेषणं तद् गृहीतमेव विशेष्ये विशिष्टप्रतिपत्तिनिमित्तम् यथा दण्डादि, विशेषणञ्च शब्दस्य दूरादिप्रतिपत्तौ देश इति। तथा, शब्दे दूरादिप्रत्ययो दूरदेशादिग्रहणे सत्येव भवति तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययत्वात्, यस्तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययः स तद्ग्रहणे सत्येव भवति यथा पादपादौ दूरादिप्रत्ययः, तत्सापेक्षदूरादिप्रत्ययश्चायम्, तस्मात्तद्ग्रहणे सत्येव भवतीति। सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नपादपादौ चक्षुषा दूरासन्नदेशग्रहणे सत्येव दूरासन्नव्यवहारः, अतः शब्देऽप्यसौ तद्ग्रहणे सत्येव इष्यताम्। तथेष्टौ च कुतस्तद्ग्रहणम्–किं श्रोत्रात्, अन्यतो वा? यदि [१०]श्रोत्रात्; देशस्यापि शब्दत्वप्रसङ्गः तल्लक्षणत्वात्तस्य। इन्द्रियान्तरेण तत्प्रत्तिपत्तौ साङ्गत्याभावात् न देशापेक्षया 'दूरः शब्दः' इति प्रतीतिः स्यात्। न हि देवदत्तगृहीतदूरदेशापेक्षया यज्ञदत्तस्य 'दूरः शब्दः' इति प्रतीतिर्दृष्टा। अथ इन्द्रियद्वयानुभवानन्तर-

१–नां विप्र–भां०। २ पृ० ८३ पं० ७। ३ भेर्यादिशब्दैः। ४ मशकादिशब्दानाम्। ५ "अतीव्रालोके तदभिघाताऽदृष्टेः" स्या० रत्ना० पृ० ३३७। ६ निर्वातेऽपि। ७–प्रतीतिवत् भां०। ८–स्य प्रा–भां०। ९ तदिष्टौ भां०। १० "दिग्देशानां श्रुतिविषयता किञ्च नो युक्तियुक्ता। युक्तत्वे वा भवति न कथं ध्वानरूपत्वमेषाम् ॥ ८७ ॥" रत्नाकरावo पृ० ६०।

भाविनि[1] विकल्पज्ञाने तथाप्रतीतेरयमदोषः; तर्हि 'पूर्वं दूरादिरहितस्य प्रतीतिः पुनस्तत्सहितस्य' इति क्रमेण तत्प्रतीतिः स्यात्, न चैवम्, प्रथममेव दूरत्वादिविशिष्टस्यास्य प्रतीतेः। ततो गतिपरिणतस्य स्वयं दूरादिप्रत्ययायोग्यताविशिष्टस्य गन्धस्येव शब्दस्यापि दूरादिप्रत्ययगोचरत्वं प्रतिपत्तव्यम्, इति सिद्धं प्राप्यकारित्वं श्रोत्रस्य, कथमन्यथा तद्विषये देशादिसन्देहः स्याद् रूपवत्? यथैव हि रूपे प्रतीयमाने 'किमस्मिन् देशे रूपमेतत् प्रतिभाति अन्यस्मिन् वा, अस्यां दिशि अन्यस्यां वा' इति न सन्देहः, नियतदिग्देशतयैव अस्य अप्राप्यकारिणेन्द्रियेण प्रतिपत्तिसंभवात्, तथा अत्राप्यसौ न स्यात्, अस्ति चात्रसन्देहः-'किमन्तः शब्दोऽयं जातः बहिर्वा' 'प्राच्यां दिशि अन्यस्यां वा' इति। अथ देशादिसन्देहात् तत्रैवं सन्देहः तर्हि गन्धोऽप्यप्राप्त एव गृह्यतां देशादिसन्देहादेवात्रापि सन्देहसंभवात्। अथ अतो घ्राणविकारदर्शनात् प्राप्तोऽसौ प्रतीयते; तदेतच्छब्देऽपि समम्, श्रोत्रविकारस्य बाधिर्यादेः शब्दात् प्रतीतेः। तस्माद् इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामन्यस्य गौणप्रत्यक्षं प्रत्यसाधारणकारणत्वानुपपत्तेः[3] सूक्तम्- **सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्'** इति।

मुख्यमिदानीं प्ररूपयति-**मुख्यम्** प्रधानम् 'प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्तते। किं तत्? इत्याह- **अतीन्द्रियज्ञानम्** अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यम्।

सर्वज्ञाभाववादिनो मीमांसकस्य पूर्वपक्षः-

ननु च अतीन्द्रियज्ञानस्य तद्वतो वा सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकवलीकृतविग्रहत्वात्[4] तोऽस्याऽसत्त्वात् कस्य[5] मुख्यप्रत्यक्षता प्रसाध्येत? न च तदतिक्रान्ततास्याऽसिद्धा; अतीन्द्रियार्थवेदिविषयस्य अध्यक्षादीनां मध्ये कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवात्। तथाहि-न तावत्प्रत्यक्षं[6] तद्विषयम्; प्रतिनियतरूपादिगोचरचारित्वात्तस्य। किञ्च, सम्बद्धे वर्तमाने चार्थे प्रत्यक्षं प्रवर्तते, न चाशेषार्थवेदो चक्षुरादीन्द्रियेण सम्बद्धो वर्तमानश्च, तत्कथं-तत्प्रभवप्रत्यक्षे प्रतिभासेत? नाप्यनुमानं तद्विषयम्; तद्धि लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावग्रहणे सति प्रवर्तते, न च सर्वज्ञेनाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमुपलभ्यते। तद्धि कार्यं वा स्यात्, स्वभावो वा? न तावत्कार्यम्; विप्रकर्षिणा[7] सर्वज्ञेन सह कस्यचित् कार्यकारणभावाऽसिद्धेः, प्रत्यक्षानु-

---

१-निर्विकल्प-आ०, ब०, ज०। २ तत्रैव ब०,ज०। ३ प्रत्यसाधारणत्वानु-आ०। श्रोत्रस्य अप्राप्यकारित्वसमर्थनम्-स्फुटार्थ अभि० पृ० ८७। चतुःशतक पृ० १९१। तत्त्वसं० श्लो० २५१९-२५२८ तथा २१७४-२१७५। इत्यादौ, खण्डनञ्च-मीमांसाश्लो० अधि० ६ पृ० १४६ तथा ७६०। शास्त्रदी० १।१।६ पृ० १४०। न्यायमं० पृ० २१६। तत्त्वार्थरा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। रत्नाकराव० पृ० ५९ इत्यादिषु प्रेक्ष्यम्। ४-तोऽसत्वा-भां०। ५ कस्य प्रत्य-भां०। ६ "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। निराकरणवच्छक्त्या न चासौदितिकल्पना॥ ११७॥" मीमां० श्लो० सू० २, पृ० ८१। "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥ ३१८६॥" तत्त्वसं०। ७ "नापि कार्यम्; प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वात् कार्यकारणभावस्य, विप्रकर्षिणा सर्वज्ञेन सह कस्यचित् कार्यकारणभावाऽसिद्धेः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८३१। ८ विप्रकर्षेण भां०।

पलम्भसाधनत्वात्तस्य । नापि[1] स्वभावः; अशेषवेदिनोऽप्रत्यक्षत्वे तदव्यतिरेकिणः स्वभावस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः । आगमोऽपि[2] नित्यः, अनित्यो वा सर्वज्ञसद्भावावेदकः स्यात् ? न तावन्नित्यः; तत्प्रतिपादकस्य नित्यस्यागमस्यैवाऽसंभवात् । *"हिरण्यगर्भ[3] प्रकृत्य स सर्ववित् स लोकवित्"* [ ] इत्यादेरप्यागमस्य कर्मार्थवादविधायकत्वेन अशेषज्ञविधायकत्वानुपपत्तेः, अनादेश्चागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधात् । अनित्योऽप्यागमः—सर्वज्ञप्रणीतः, असर्वज्ञप्रणीतो वा तत्प्रतिपादकः स्यात् ? प्रथमपक्षे अन्योन्याश्रयः—सर्वज्ञसिद्धौ हि तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ चातः सर्वज्ञसिद्धिरिति । असर्वज्ञप्रणीतस्य चागमस्य अप्रमाणभूतत्वात् कथं ततस्तत्प्रतिपत्तिः ? तथाभूतादप्यतस्तत्प्रतिपत्तौ स्ववचनादेव तत्प्रतिपत्तिः किन्न स्यादविशेषात् ? नह्यनासादितप्रमाणभावस्याऽन्यवाक्यस्य स्ववचनात् कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तन्नागमतोऽपि तत्प्रतिपत्तिः । नाप्युपमानात्[4]; तस्य सदृशपदार्थग्रहणनान्तरीयकत्वात्, गोसदृशगवयग्रहणनान्तरीयकगवाद्युपमानवत् । न चाशेषज्ञसदृशः कश्चिज्जगति प्रतीतः[5], तदप्रतीतौ तत्सादृश्यप्रतीतेरनुपपत्तेः । प्रयोगः—यस्य सदृशग्रहणं नास्ति स नोपमानविषयः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, नास्ति च सदृशग्रहणं सर्वज्ञस्येति । नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिः; सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य षट्प्रमाण-

---

१ "स्वभावोऽपि हेतुर्न सर्वदर्शिनः सत्तां साधयति तदप्रत्यक्षत्वे स्वभावस्य तदव्यतिरेकिणो गृहीतुमशक्यत्वात् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८३१। २ "न चागमेन सर्वज्ञः तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ ११८ ॥ न चाप्येवं परो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः । नित्यश्चेदर्थवादत्वं तत्परे स्यादनित्यता ॥११९॥" "नन्वस्त्येव 'सर्वज्ञः सर्वविद्' इत्यादिरत आह—'नित्यश्चेद्' इति । किमित्यर्थवादत्वम् अत आह—'तत्परे इति । अनित्यस्य विग्रहवतः पुरुषस्य सर्वज्ञत्वं प्रतिपादयन्नागमोपि अनित्यः स्यादिति ।" मीमां० श्लो० टी० पृ० ८२ । "न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥३१८७॥" तत्त्वसं० पृ० ८३१ । ३ "स सर्ववित् स लोकवित् इत्यादेः हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेश्च आगमस्य ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५। "हिरण्यगर्भं प्रकृत्य सर्वज्ञः" सन्मति० टी० पृ० ४६ । स्या० रत्ना० पृ० ३६४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ४९ पू० । बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३३ । ४ "स्तुतिनिन्दापरकृतिपुराकल्प अर्थवादः ।" न्यायसू० २।१।६४ । "विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्था···अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्था·····अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः·····ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति ।" न्यायभा० पृ० १५६ । "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः ।" अर्थसं० पृ० १२३ । ५ "अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिः अन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥ ३१८८ ॥ सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तराहते ॥ ३१८९ ॥" तत्त्वसं० । ६ "असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किन्न जानते ॥ ३१९० ॥" तत्त्वसं० । ७ "सर्वज्ञसदृशः कश्चिद् यदि दृश्येत सम्प्रति । तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भाव उपमाबलात् ॥ ३२१५ ॥" तत्त्वसं० पृ० ८३८ । ८ "उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नो भवेत् ॥३२१७॥ प्रत्यक्षादौ निषिद्धेपि सर्वज्ञप्रतिपादके । अर्थापत्त्यैव सर्वज्ञमित्थं यः प्रतिपद्यते ॥३२१८॥" तत्त्वसं० पृ० ८३८ ।

प्रमितस्य कस्यचिदप्यर्थस्याऽसंभवात्। न च धर्माद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेर्बुद्धादीनां सर्वज्ञतासिद्धिर्भविष्यतीत्यभिधातव्यम्; तेषां तदुपदेशकरणस्य व्यामोहादेव उपपत्तेः। द्विविधो ह्युपदेशः–व्यामोहपूर्वकः, सम्यग्ज्ञानपूर्वकश्च। तत्र व्यामोहपूर्वको यथा स्वप्नोपलब्धार्थोपदेशः। सम्यग्ज्ञानपूर्वको यथा मन्वादीनां सकलार्थज्ञानोदयवेदमूलो धर्माद्यशेषार्थोपदेशः। ते हि निखिलपदार्थज्ञानोत्पत्तिहेतोर्वेदाद् आविर्भूतविशुद्धबोधाः धर्माद्यशेषपदार्थसार्थमुपदिशन्ति न पुनर्बुद्धादयः, अन्यथा मन्वाद्युपदेशवत् तदुपदेशोऽपि त्रयीविद्विराश्रीयेत, न चासौ तैराश्रितैः, अतो व्यामोहादेवासौ तद्विषयस्तैः कृतः इत्यवसीयते। ततः सिद्धं सर्वज्ञस्य सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्तत्वम्। तच्च सिद्धयदभावप्रमाणकवलीकृतविग्रहत्वं साधयति, तदपि असत्त्वम्। अतः सर्वज्ञस्य आकाशकुशेशयप्रख्यतां प्राप्तत्वात् कस्याशेषज्ञता प्रार्थ्येत ?

अस्तु वा सर्वज्ञः; तथाप्यसौ समस्तमतीतकालादिपरिगतं वस्तु स्वेन स्वेन रूपेण प्रतिपद्यते, किं वा वर्तमानतयैव ? प्रथमपक्षे तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षतानुपपत्तिः अवर्तमानवस्तुविषयत्वात्, यदवर्तमानवस्तुविषयं न तत् प्रत्यक्षम् यथा स्मरणादि, अवर्तमानवस्तुविषयश्च अतीताऽनागतार्थविषयतया सर्वज्ञज्ञानमिति। द्वितीयपक्षे तु तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः; अन्यथास्थितस्यार्थस्य अन्यथात्वेन ग्राहकत्वात्। यदन्यथास्थितस्यार्थस्यान्यथात्वेन ग्राहकं तद् भ्रान्तम् यथा द्विचन्द्रादिज्ञानम्, अन्यथास्थितस्य अतीतानागतकालस्यार्थस्य वर्तमानतया ग्राहकञ्च सर्वज्ञज्ञानमिति।

किञ्च, 'इदमिदानीमिह सत्' इत्यस्यां संविदि वस्तुसत्तावत् तत्प्राक्-प्रध्वंसाभावौ प्रतिभासेते, न वा ? यदि प्रतिभासेते; तदा युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेत्; तर्हि तदैवास्यानुत्पन्नप्रध्वस्तव्यपदेशप्रसङ्गाद् युगपज्जन्म-मरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः, यद् येन स्वरूपेण प्रतिभासते तत्तेनैवं व्यपदिश्यते यथा नीलं नीलतया, सत्त्व-प्राक् प्रध्वंसाभावरूपतया प्रतिभासते च अशेषज्ञस्याऽशेषं वस्त्विति। तथा च प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतीतेरभावात् सुव्यवस्थिताऽस्य सर्वज्ञता!

---

१ "उपदेशो हि बुद्धादेरन्यथाप्युपपद्यते। स्वप्नादिदृष्टव्यामोहात् वेदाच्चावितथं श्रुतात्॥ ३२२३॥ ये हि तावदवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः। उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात्॥३२२४॥ ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्। त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः॥३२२८॥" तत्त्वसं०। "ऋग्यजुसामाख्याः त्रयो वेदाः त्रयी भण्यन्ते, तां विदन्तीति त्रयीविदो ब्राह्मणाः उच्यन्ते।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४०। "स्त्र्यां ऋक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी" इत्यमरः। २ **सर्वज्ञान**–भां०। ३–**तः व्यामो**–भां०। ४–**ज्ञस्य प्रमा**–आ०,ब०,ज०। ५–**तयैव वा** आ०। ६ "युगपत्परिपाट्या वा सर्वज्ञैकस्वभावतः। जानन् यथा प्रधानं वा शक्त्या वेष्येत सर्ववित्॥ ३२४८॥ युगपच्छुच्यशुच्यादिस्वभावानां विरोधिनाम्। ज्ञानं नैकधिया दृष्टं भिन्ना वा गतयः क्वचित्॥ ३२४९॥ भूतं भवद् भविष्यंश्च वस्त्वनन्तं क्रमेण कः। प्रत्येकं शक्नुयाद् बोद्धुं वत्सराणां शतैरपि॥३२५०॥" इत्यादिकारिकाभिः तत्त्वसङ्ग्रहकारः (पृ० ८४४) सामट-यज्ञटयोः सर्वज्ञदूषकं मतम् उपस्थापयति। ७ **तत्तथैव** भां०। ८ –**भास्यते** भां०।

तन्न युगपत्प्रतीतिः । नापि क्रमेण; अतीतानागतार्थानां परिसमाप्त्यभावतः तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वाऽयोगात् । अथ वस्तुसत्तावत् तौ न प्रतिभासेते; तदा कथमसौ सर्वज्ञः स्यादिति ?

तन्निरसनपुरस्सरा सर्वज्ञसिद्धिः-

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[3]–सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्ततयाऽसत्त्वमतीन्द्रियज्ञानस्य तद्वतो वा; तत्र तदतिक्रान्तता तावत्तस्य असिद्धा; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानप्रमाणस्य सद्भावात् इति । एतत् **'तत्'** इत्यादिना दर्शयति–**तद्** अतीन्द्रियज्ञानम्, **अस्ति, सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवद्** इति । न तावदाश्रयासिद्धोऽयं हेतुः, धर्मिणो हेतुप्रयोगात् पूर्वं कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेरित्यभिधातव्यम्; विकल्पप्रसादात्तस्य प्रसिद्धेः । न हि कश्चित्तस्याऽगोचरोऽस्ति यत्र क्रमेत सर्वत्राप्रतिहतप्रवृत्तित्वात्तस्य । न खलु बन्ह्याद्यनुमानेऽपि पर्वतादेर्धर्मिणो विकल्पादन्यतः सिद्धिः इत्यग्रे वक्ष्यते । नापि स्वरूपासिद्धः ; तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवात् । अतीन्द्रियार्थदर्शिनो हि बाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानादि, अभावो वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षम् ; तत् किं क्वचित् कदाचित्तदभावं प्रसाधयेत्, सर्वत्र सर्वदा वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्, नहि सर्वत्र सर्वदा तत्सद्भावोऽस्माभिः प्रतिज्ञातः । द्वितीयपक्षे तु अतीन्द्रियप्रत्यक्षमन्तरेण सर्वत्र सर्वदाऽतीन्द्रियज्ञानाऽभावाऽसिद्धिः इत्यावेदयति– **'यावत्'** इत्यादिना । **यावज्ज्ञेयं** सकलं[6] ज्ञेयं व्याप्नोति विषयीकरोत्येवं शीलं[7] यज् **ज्ञानं** तेन **रहिता** शून्या या **सकला**[8] **पुरुषपरिषत्** तस्याः **परिज्ञानस्य तदन्तरेण** अतीन्द्रियज्ञानमन्तरेण **अनुपपत्तेः** , **'तदस्ति'** इत्यभिसम्बन्धः । न खलु प्रादेशिकेन्द्रियजज्ञानेन सर्वत्र सर्वदा सर्वदर्शिनोऽभावः कर्तुं शक्यः तस्यातद्विषयत्वात्[9], यद् यद्विषयं न भवति न [10]तत्तत्र विपरीतधर्मस्य बाधकम् यथा शब्दाऽविषयं [11]चाक्षुषं ज्ञानं तदश्रावणत्वस्य, सकलदेशकालवर्तिपुरुषपरिषदविषयश्च प्रादेशिकमिन्द्रियप्रभवं ज्ञानमिति ।

ननु नै[12] प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं सर्वदर्शिनो बाधकम् शब्दे श्रावणत्वप्रत्यक्षमिवाऽश्रावणत्वस्य, किन्तु

१–पक्षत्प्र–भां० । २ अनयैव भङ्ग्या निम्नग्रन्थेषु कृतः सर्वज्ञविषयः पूर्वपक्षः–तत्त्वसं० पृ० ८३० । आप्तप०पृ०५३ । अष्टसह०पृ०४५ । शास्त्रवार्त्ता० पृ०७९ उ० । प्रमेयक० पृ० ६८ पू० । सन्मति० टी० पृ० ४३ । न्यायवि० वि० पृ० ५५३ । स्या० रत्ना० पृ० ३६३ । प्रमेयरत्न० पृ० ५२ । बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १३० । ३ पृ० ८६ पं० १५ । ४ प्रमाणाप्रमाणसाधारणी शाब्दी प्रतीतिः विकल्पः तस्य । ५ "न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यत्र क्रमेत ।" अष्टश० अष्टसह० पृ० ४९ । ६–लज्ञे–भां० । ७–लं ज्ञा–आ० । ८ सकलपु–आ०, ब०, ज० । ९ तस्य तदविषयत्वात् भां० । १० तद्विपरीत–भां० । ११–चाक्षुषं विज्ञा–ब०, ज० । चाक्षुषविज्ञा–भां० । १२ "न वयं प्रत्यक्षं प्रवर्त्तमानमभावं साधयति इति ब्रूमः । किं तर्हि ? निवर्त्तमानम् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४८ । प्रमेयक० पृ० ७२ उ० । सन्मति० टी० पृ० ४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३८१ ।

निवर्तमानम्, यत्र हि प्रत्यक्षस्य निवृत्तिः तस्य अभावोऽवसीयते यथा शशशृङ्गस्य, यत्र तु प्रवृत्तिः तस्य सद्भावः यथा रूपादेः, न चातीन्द्रियार्थदर्शिविषयं स्वप्नेऽपि प्रत्यक्षं प्रवृत्तम्, अतस्तन्निवृत्तेः स्तस्याप्यभावोऽवसीयते; तदप्यनुपपन्नम्; यतो यदि वस्तुनः प्रत्यक्षं कारणं व्यापकं वा स्यात् तदा तन्निवृत्तौ वस्तुनोऽपि निवृत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। कारणस्य हि वह्न्यादेर्निवृत्तौ कार्यस्य धूमादेर्निवृत्तिर्दृष्टा, व्यापकस्य च वृक्षत्वादेर्निवृत्तौ व्याप्यस्य शिंशपात्वादेर्निवृत्तिः। न चार्थस्य प्रत्यक्षं कारणम् तदभावेऽपि तद्भावात्। यद् यदभावेऽपि भवति न तत्तस्य कारणम् यथा गोरभावेऽपि भवन्नश्वो न गोकारणकः, देशादिव्यवधाने असत्यपि अर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षे भवति चार्थ इति। नापि व्यापकम्; तन्निवृत्तावप्यनिवर्तमानत्वात्। यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्तते न तत्तस्य व्यापकम् यथा निवर्तमानेऽपि कुम्भेऽनिवर्तमानस्य स्तम्भस्य न कुम्भो व्यापकः, निवर्तमानेऽपि प्रत्यक्षे न निवर्तते च देशादिविप्रकृष्टोऽर्थ इति। न चाऽकारणाऽव्यापकभूतस्यास्य निवृत्तौ अकार्याऽव्यापकभूतस्यार्थस्य निवृत्तिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। योऽपि कार्याभावात् क्वचित् कारणस्याऽभावनिश्चयः सोऽप्यप्रतिबद्धसामर्थ्यस्यैव, न पुनः कारणमात्रस्य। न च अर्वाक्प्रत्यक्षं प्रति अशेषार्थानां सामर्थ्यमस्ति येन तन्निवर्त्तमानं तेषामभावं साधयेत्।

किञ्च, अध्यक्षनिवृत्ति-अर्थाभावयोः यदि व्याप्य-व्यापकभावः सिद्ध्येत् तदा तन्निवृत्तेरर्थाभावो निश्चीयेत, नचासौ सिद्धः त्रिविप्रकृष्टेऽर्थे सत्यपि प्रत्यक्षनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वात्। किञ्च, भवत्प्रत्यक्षनिवृत्तिः सर्वविदोऽसत्त्वं प्रसाधयेत्, सर्वप्रत्यक्षनिवृत्तिर्वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; भवत्प्रत्यक्षनिवृत्तेः देशादिव्यवधाने सत्यप्यर्थे प्रतीयमानत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सर्वज्ञविषये सर्वप्रत्यक्षनिवृत्तेः सर्वज्ञमन्तरेणानुपपत्तेः, नहि अर्वाग्दृशा सर्वप्रमातृणामसाक्षात्करणे 'तत्र तत्प्रत्यक्षं न प्रवर्तते' इति प्रतिपत्तुं शक्यम्। नन्वेवं सर्वत्राऽभावव्यवहारोच्छेदः स्यात् क्वचित् घटाद्यभावसाधनेऽपि उक्तदोषानुषङ्गात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; तत्र एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भतोऽभावव्यवहारोपपत्तेः, एकस्य हि कैवल्यम् इतरस्य वैकल्यम्। नचाशेषज्ञस्य

---

१ तदभावो–भां०। २ "कारणव्यापकाभावे निवृत्तिश्चेह युज्यते। हेतुमद्व्याप्तयोः तस्मादुत्पत्तेरेकभावतः ॥ ३२७१ ॥ कृशानुपादपाभावे धूमाम्रादिनिवृत्तिवत्। अन्यथाऽहेतुतैव स्यात् नानात्वञ्च प्रसज्यते ॥ ३२७२ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ७२ उ०। ३ "नापि यन्निवृत्तौ यन्न निवर्त्तते स तस्य स्वभावो युक्तः गोरिव गवयस्य।" तत्त्वसं०पं० पृ० ८५१। ४ "न चाकारणाऽव्यापकभूतस्यान्यस्य निवृत्तावन्यस्य निवृत्तिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्।" तत्त्वसं०पं०पृ०८५१। ५ "या च कार्यानुपलब्धिरुक्ता न सा कारणमात्रस्य अभावं गमयति, किं तर्हि ? अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्यैव।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८५१। ६ "न च प्रत्यक्षनिवृत्तिर्वस्त्वभावेन व्याप्ता येनासौ वस्त्वभावः ततो निश्चीयते। सत्यपि वस्तुनि व्यवहितादौ प्रत्यक्षस्य निवृत्तिदर्शनात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४८। ७ त्रिधावि–आ०। ८ "यद्येवं कथमनुपलम्भाख्यात् प्रत्यक्षात् घटाद्यभावसिद्धिः प्रदेशान्तरे भवद्भिर्वर्ण्यते ? नैतदस्ति; एकज्ञानसंसर्गयोग्ययोरर्थयोः अन्यतरस्यैव या सिद्धिः सा अपरस्य अभावसिद्धिः इति कृत्वा।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८४९। ९ "न चैवं सर्वज्ञत्वस्य

केनचित् सार्धम् एकज्ञानसंसर्गित्वमस्ति यस्योपलम्भात्तदभावः सिद्ध्येत्,तस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्। तन्न प्रत्यक्षं सर्वविदो बाधकम्।

नाप्यनुमानम्; धर्मि-साध्य-साधनानां स्वरूपाऽप्रसिद्धेः, तद्बाधके ह्यनुमाने धर्मित्वेन सर्वज्ञोऽभिप्रेतः, सुगतः, सर्वपुरुषा वा ? यदि सर्वज्ञः; तदा किं तत्र साध्यम्–असत्त्वम्, असर्वज्ञत्वं वा ? यद्यसत्त्वम्; किं तत्र[1] साधनम्–अनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा ? यद्यनुपलम्भः; स किं सर्वज्ञस्य, तत्कारणस्य, तत्कार्यस्य[2], तद्व्यापकस्य वा ? यदि सर्वज्ञस्य; सोऽपि किं स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? स्वसम्बन्धी चेत्; [3]सोऽपि किं निर्विशेषणः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा ? न तावन्निर्विशेषणोऽसौ तदभावसाधनाय प्रभवति; परचित्तविशेषादिभिरनैकान्तिकत्वात्। नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणः; सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाऽभावसाधनाऽभावानुषङ्गात्, न हि सर्वथाप्यसतः उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटते, क्वचित्कदाचित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वात्तस्य। तथाहि–यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं न तत् सर्वथाप्यसत् यथा घटादि, उपलब्धिलक्षणप्राप्तश्च सर्वज्ञ इति। एतेन सर्वसम्बन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः। असिद्धश्च सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भः असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्, न खलु सर्वात्मनां तज्ज्ञानानाञ्चाप्रतिपत्तौ तत्सम्बन्धी सर्वज्ञानुपलम्भः प्रतिपत्तुं शक्यः। नापि क्वचित् प्रदेशविशेषे छत्राद्यनुपलम्भात् छायाद्यभाववत् सर्वज्ञस्य कारणानुपलम्भादभावो युक्तः; तत्कारणस्य ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्य अनुमानादिनोपलम्भसंभवात्। समर्थयिष्यते च मोक्षप्ररूपणावसरे अशेषविदो रत्नत्रयप्रभवज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयादाविर्भाव इति।

कार्यानुपलम्भोऽपि असिद्ध एव; धर्माद्यशेषार्थप्रतिपादकस्यागमस्यैव तत्कार्यस्योपलभ्यमानत्वात्। तत्प्रतिपादकागमस्याऽपौरुषेयत्वात् कथं तत्कार्यता ? इत्यप्यसाम्प्रतम्[4]; अपौरुषेयत्वस्य आगमे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्, गुणवद्वक्तृकत्वेनैव अशेषवचसां प्रामाण्यस्य समर्थयिष्यमाणत्वात्।

व्यापकानुपलम्भोपि असिद्धः; तद्व्यापकस्यानुमानेन उपलम्भप्रतीतेः। सर्वज्ञत्वस्य हि व्यापकं सर्वार्थसाक्षात्कारित्वम् न पुनः सर्वार्थपरिज्ञानमात्रम्, तस्य असर्वज्ञेऽप्यागमद्वारेण उपलभ्यमानत्वात्। तच्चानुमानतः प्रसिद्धम्[5]; तथाहि–कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययम् तत् तत्साक्षात्कारि यथा अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि,

---

केनचित् सार्द्धमेकज्ञानसंसर्गिता निश्चिता यस्य केवलस्योपलम्भात् तदभावं व्यवस्यामः, तस्य सर्वदैव अत्यन्तपरोक्षत्वात्।" तत्त्वसं०पं० पृ० ८४९।

१ "आद्यविधायां साधनम् अनुपलम्भो, विरुद्धविधिर्वा भवेत् ?" स्या० रत्ना० पृ० ३८२। २–स्य व्याप–ब०। ३ "अनुपलम्भोऽपि किं निर्विशेषणोऽभीष्टः 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इत्येतस्य विशेषणस्याऽनाश्रयणात्, अहोस्वित् सविशेषण इति।" तत्त्वसं०पं० पृ०८५०। ४ इत्यसाम्प्र–ब०,ज०,आ०। ५ अनुमानमिदं प्रमेयक० पृ० ७० पू०, स्या० रत्ना० पृ० ३७०, प्रमेयरत्न० पृ० ५४, इत्यादिषु वर्तते।

सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति। न तावदयं विशेषणासिद्धो हेतुः; आगमद्वारेणऽशेषार्थग्रहणस्वभावत्वस्य आत्मनि प्रसिद्धत्वात्। नापि विशेष्याऽसिद्धः; प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वस्य अग्रे प्रसाधयिष्यमाणत्वात्, तन्नानुपलम्भः तदभावे हेतुः।

नापि विरुद्धविधिः; यतः साक्षात्, परम्परया वा विरुद्धस्य विधिः सर्वज्ञाभावं प्रसाधयेत्? प्रथमपक्षे सर्वज्ञत्वेन साक्षाद्विरुद्धस्य असर्वज्ञत्वस्य क्वचित् कदाचिद् विधानात्तस्याभावः साध्येत, सर्वत्र सर्वदा वा? आद्यविकल्पे न साकल्येनाशेषज्ञाभावः सिद्ध्येत्। यत्रैव हि तद्विधानं तत्रैव तदभावः सिद्ध्येत्, नान्यत्र, नहि क्वचित् कदाचिद्वह्नेर्विधाने सर्वत्र सर्वदा शीताभावो दृष्टः। द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः; अर्वाग्दृशः सर्वत्र सर्वदाऽसर्वज्ञत्वविधेरसंभवात्, तत्संभवे वा अस्यैवाशेषज्ञत्वप्रसङ्गः स्यात्।

परम्परयापि तद्व्यापकविरुद्धस्य, तत्कारणविरुद्धस्य, तद्विरुद्धकार्यस्य वा विधिस्तदभावं साधयेत्? न तावत्तस्य सर्वज्ञत्वस्य व्यापकेनाऽखिलार्थसाक्षात्कारित्वेन विरुद्धस्य तदसाक्षात्कारित्वस्य, नियतार्थसाक्षात्कारित्वस्य वा विधिः तदभावसाधनाय प्रभवति; स हि क्वचित् कदाचित्तदभावं प्रसाधयेत् तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धवह्निविधानात् क्वचित् कदाचित् तुषारस्पर्शनिषेधवत्, न पुनः सर्वत्र सर्वदा, तत्र तदा तद्व्यापकविरुद्धविधेरसंभवात्, क्वचिदात्मविशेषे तद्व्यापकविधेः प्रसाधितत्वात्। तत्कारणविरुद्धविधिरपि क्वचित् कदाचिदेवाशेषज्ञाभावं प्रसाधयेत्, यथा रोमहर्षादिकारणशीतविरुद्धवह्निविशेषविधानात् क्वचित्कदाचित् शीतकार्यरोमहर्षादिनिषेधः न पुनः साकल्येन; तत्कारणविरुद्धविधेः साकल्येन संभवाभावात्। सर्वज्ञत्वस्य हि कारणं ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयः तद्विरुद्धश्च तदप्रक्षयः तस्य विधिः क्वचिदेवात्मनि न सर्वत्र, तदत्यन्तप्रक्षयस्य क्वचिदात्मविशेषे प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। एतेन तद्विरुद्धकार्यविधिरपि प्रविव्यूढः; तेन हि सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वं तत्कार्यं नियतार्थविषयं वचः तस्य विधिः, सोऽपि न सामस्त्येन अशेषज्ञाऽभावं साधयितुं समर्थः; यत्रैव तद्विधिस्तत्रैवास्य तदभावप्रसाधनसामर्थ्योपपत्तेः, यथा यत्रैव प्रदेशविशेषे शीतादिविरुद्धदहनादिकार्यस्य धूमादेर्विधिः तत्रैव शीतस्पर्शनिषेधः न सर्वत्र। तन्न विरुद्धविधिरपि अशेषविदोऽभावप्रसाधिका।

---

१ "यद्वा अर्थान्तरस्य साक्षात् पारम्पर्येण वा विरुद्धस्यैव विधानात् तन्निषेधः नाविरुद्धस्य तस्य तत्सहभावसंभवात्। यथा–नास्त्यत्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति साक्षाद्विरुद्धस्य वह्नेः विधानात् शीतस्पर्शनिषेधः तद्वत् सर्वज्ञनिषेधेऽपि स्यात्। पारम्पर्येण तु विरुद्धस्य क्वचित् तद्व्यापकविरुद्धस्यैव वा विधानात् सर्वविदो निषेधः यथा तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धवह्निविधानात् तुषारस्पर्शनिषेधः। तत्कारणविरुद्धविधानाद्वा यथा रोमहर्षादिकारणशीतविरुद्धदहनविशेषविधानात् शीतकार्यरोमहर्षादिनिषेधः। तत्त्वसं० पं० पृ० ८५३। "नापि विरुद्धविधिः, यतः सोपि प्रतिनियतदेशादौ तस्य अभावं साधयेद्, अशेषदेशादौ वा?" स्या० रत्ना० पृ० ३८२। २–ज्ञताभावः आ०। ३–त्वसिद्धेर–भां०। ४ तत्कार्यविरुद्धस्य आ०। ५ सर्वज्ञस्य भां०। ६–स्पर्शानि–ज०। ७ अशेषज्ञत्वाभावं ब०,ज०,आ०। ८–प्रसाधकः ज०।

नापि वक्तृत्वादिकम्; तदसत्त्वाभ्युपगमे वक्तृत्वादिधर्मोपेतत्वानुपपत्तेः; अन्यथा स्ववचनविरोधानुषङ्गात्। न खलु 'नास्ति सर्वज्ञः, वक्तृत्वादिधर्मोपेतश्च' इत्यभिदधता स्ववचनविरोधः परिहर्त्तुं शक्यः। तन्नाशेषज्ञस्याऽसत्ता कुतश्चिदपि साधनात् साधयितुं शक्या। नापि असर्वज्ञता; स्ववचनविरोधस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात्, नहि 'सर्वज्ञोऽसर्वज्ञः' इति ब्रुवतः स्ववचनविरोधासंभवः। ५

किञ्च, *सर्वविदः प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विपरीतम्, वक्तृत्वमात्रं वा ?* प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः; भगवतस्तथाभूतार्थवक्तृत्वाऽसंभवात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धो हेतुः; दृष्टेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य तत्परिज्ञाने सत्येव संभवात्। तृतीयपक्षेऽपि अनैकान्तिकत्वम्; वक्तृत्वमात्रस्य[1] सर्वज्ञत्वेन विरोधाऽसंभवात्। एतेन सुगतधर्मिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः; असत्त्वादिसाध्यापेक्षया अनुपलम्भादिसाधनापेक्षया च उक्तदोषानुषङ्गाविशेषात्। किञ्च, सुगतस्य सर्वज्ञताप्रतिषेधे अन्येषां तद्विधिरवश्यंभावी विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात् 'अयं ब्राह्मणः' इत्यादिवत्। अथ सर्वपुरुषान्[2] पक्षीकृत्य तेषां वक्तृत्वादेरसर्वज्ञता प्रसाध्यते; तन्न; विपक्षात् तस्य व्यतिरेकाऽसिद्धौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तितया असर्वज्ञताप्रसाधकत्वानुपपत्तेः। रथ्यापुरुषादौ असर्वज्ञत्वे सत्येव वक्तृत्वादेरुपलम्भात्, सर्वज्ञे च कदाचिदप्यनुपलम्भात् ततो व्यतिरेकसिद्धिः[3]; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य[4] असिद्धाऽनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्। १०, १५

ननु सर्वज्ञस्य कस्यचिदप्यभावात् सिद्धा ततो वक्तृत्वादेर्व्यतिरेकसिद्धिरिति चेत्; कुतः पुनस्तदभावसिद्धिः—अत एव, अन्यतो वा ? अत एव चेत्; चक्रकप्रसङ्गः, तथाहि—वक्तृत्वादेः सर्वज्ञाभावसिद्धौ ततोऽस्य व्यतिरेकसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य असर्वज्ञत्वेनैव व्याप्तिः, तत्सिद्धौ चातः सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति। अथ अन्यतः; तदास्य वैयर्थ्यम्, न चान्यत् तदभावग्राहकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति। अनुपलम्भोऽस्तीति चेत्; न; अस्य सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनोऽसिद्धाऽनैकान्तिकत्वेन तदभावसाधकत्वानुपपत्तेः। यदि च अनुपलम्भमात्रेण अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽभावः साध्यते तदा तदभावज्ञस्याप्यतोऽभावः किन्न साध्येत विशेषाभावात् ? इति प्रदर्शयन्नाह—**'तदभाव'** इत्यादि। २०

तस्य अतीन्द्रियज्ञानस्य **अभावः** स **एव तत्त्वं** तज् **ज्ञो न कश्चिद् अनुपलब्धेः खपुष्पवत्** इति। अथ यद्यपि अस्मदादिस्तथाभूतो नोपलभ्यते तथाप्यन्यस्तथाभूतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**'न वै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्व-पुरुषत्व[6]-वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्'** इति। उपलक्षणञ्चै- २५

विवृतिव्याख्यानम्—

---

१ सर्वप्रमाण—भा०। इमे विकल्पाः प्रमेयक० पृ० ७३ पू०, सन्मति० टी० पृ० ४५, स्या० रत्ना० पृ० ३८४, प्रमेयरत्न० पृ० ५७, इत्यादिष्वपि वर्त्तन्ते। २ "सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः।" न्यायवि० पृ० ५१९ पू०। ३—न् उररीकृत्य आ०। ४—कः सिद्ध्यति इति आ०। ५ "सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्वसर्वानुपलम्भयोः। आरेकासिद्धता तस्याऽप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः॥" न्यायवि० पृ० ५५३ पू०। ६—पुरुषत्वादेः ब०, ज०, भां।

तत्, तेन 'वेदार्थज्ञोऽपि न भवति तत एव तद्वत्' इत्यपि द्रष्टव्यम्, तथा च लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात्। सत्त्व-पुरुषत्वाद्यविशेषेऽपि जैमिन्यादे रथ्यापुरुषाद्विलक्षणत्वात् तत्परिज्ञानातिशयो न विरुद्ध्यत इत्यत्राह–'पुरुष' इत्यादि। पुरुषस्य जैमिन्यादेः अतिशयः वेदार्थ-सर्वज्ञाभावतत्त्वज्ञतालक्षणः तस्य संभवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात्? ननु 'तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिद् अनुपलब्धेः' इत्ययुक्तमुक्तम्; दृश्यानुपलम्भस्यैव प्रमाणत्वोपपत्तेः, न चायं दृश्यानुपलम्भः; अवागदृशः परचेतसोऽदृश्यत्वात्, इत्याह–'अत्र' इत्यादि। अत्र तदभावतत्त्वज्ञाऽभावसाधने अनुपलम्भमप्रमाणयन् मीमांसकः सर्वज्ञ आदिः यस्य वेदकर्त्रादेः स एव विशेषः तस्य अभावे साध्ये कुतः प्रमाणयेत्? न कुतश्चिदित्यर्थः। कुत एतत्? इत्यत्राह–अभेदात् अविशेषात्। तन्नानुमानमपि अशेषविदो बाधकम्।

नाप्यर्थापत्तिः; तदभावमन्तरेणाऽनुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्याऽसंभवात्। वेदप्रामाण्यस्य च सर्वज्ञे सत्येव उपपत्तेः। नहि 'गुणवतो वक्तुरभावे वचसः प्रामाण्यम्' इति तदपौरुषेयत्वप्रतिषेधावसरे प्रतिपादयिष्यते।

नाप्युपमानं तद्बाधकम्। तत्खलु उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोगवयवत् सादृश्यालम्बनमुदयमासादयति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। नचाशेषपुरुषाः सर्वज्ञश्च केनचिद् दृष्टा येन 'अशेषपुरुषवत् सर्वज्ञः' 'सर्वज्ञवद्वाऽशेषपुरुषः' इत्युपमानं स्यात्। तद्दृष्टौ वा तस्यैवाशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् कथमुपमानात् सर्वज्ञाभावः स्यात्? यत इदं शोभेत–

> "नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् सर्वानेवाधुनातनान्।
> तत्सादृश्योपमानेन शेषाऽसर्वज्ञसाधनम् ॥ ? ॥" [.] इति।

किञ्च, अशेषज्ञस्य अशेषप्रमातृशरीरसंस्थानवत् अविलक्षणशरीरसंस्थानतयोपमेयता स्यात्, इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदकतया, खरविषाणवन्नीरूपतया वा? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः; सर्वज्ञबाधाकरत्वाभावतः सर्वज्ञवादिनामनिष्टाऽसम्पादकत्वात्। नहि शरीरसंस्थानस्य अशेषज्ञता तद्वादिभिरिष्यते, येन अशेषज्ञशरीरसंस्थानस्य इतरजनशरीरसंस्थानाऽवैलक्षण्ये तद्वत्तस्य असर्वज्ञतापि स्यात् किन्त्वात्मनः, स चातोऽत्यन्तविलक्षणः तत्कथं तदवैलक्षण्ये तस्य असर्वज्ञतोपमानं स्यात्? नह्यन्यस्य अन्येन सादृश्ये तद्विलक्षणेऽन्यत्र अदृष्टपूर्वे तद् युक्तम् अतिप्रसङ्गात्।

---

१ इत्याह आ०,ब०,ज०। २–ज्ञतादिल–ब०,ज०। ३ "नाप्यर्थाऽत्तिरसर्वज्ञं साधयति।..." तत्त्वसं०पं०पृ०८४९। आप्तप० पृ० ५६, कारि० १०२। प्रमेयक० पृ० ७३ उ०। स्या० रत्ना० पृ० ३८८। ४ 'सादृश्यस्योपमानेन शेषासर्वज्ञनिश्चयः' इतिपाठभेदेन तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८३८)। बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३६। ५ अविशेषेण श–भां०। ६ प्रत्यक्षे अर्थ–आ०। ७–ज्ञत्वमपि ब०, ज०। ८ शरीरसंस्थानात्।

अथ इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदकतया सर्वज्ञस्य सर्वपुरुषैः साम्यादुपमेयता। ननु स्मर्यमाणमेव वस्तु पुरोवर्तिपदार्थसादृश्योपाधि, सादृश्यं वा तेन विशेषितमुपमानस्य प्रमेयम्। स्मरणञ्च अनुभूत एव विषये प्रवर्तते नान्यत्र अतिप्रसङ्गात्। नचाशेषपुरुषाः तद्वर्तीनि चेतांसि च केनचिदसर्वविदाऽनुभूतानि यतः स्मर्येरन्। नाप्यननुभूतानां तेषामसर्वज्ञत्वसाधारणः कश्चिद्धर्मो निश्चेतुं शक्यः यद्बशात् 'अहमिव सर्वदा सर्वे पुरुषाः प्रतिनियतमर्थमिन्द्रियैः पश्यन्ति', 'सर्वपुरुषवद्वा अहम्' इति असर्वज्ञतयोपमीयेरन्। यदपि सत्त्वादिकं क्वचिदसर्वज्ञे दृष्टं तदपि नासर्वज्ञत्व एव साधारणम् सर्वज्ञेऽपि सत्त्वाद्यविरोधात्; अन्यथा सर्वपुरुषाणामवेदार्थज्ञत्वं मूर्खत्वादि वा तद्वद् उपमीयेत अविशेषात्। यथा च न कश्चिदबालिशो गवये सत्त्वादिधर्मदर्शनात् घटादीनामपि गवयसादृश्यमुपमिमीते तथा सर्वपुरुषाणां सत्त्वादिधर्मदर्शनात् नाऽसर्वज्ञत्वमिति। एतेन 'खरविषाणवत् सर्वज्ञः' 'सर्वज्ञवद्वा खरविषाणम्' इति नीरूपतया सर्वज्ञस्य उपमेयता प्रत्युक्ता। तन्नोपमानमपि तद्बाधकम्।

नाप्यागमः; स हि पौरुषेयः, अपौरुषेयो वा तद्बाधकः स्यात्? न तावदपौरुषेयः; तस्यागमविचारावसरे प्रपञ्चतः प्रतिषेत्स्यमानत्वात्, कार्य एवार्थे भवद्भिः प्रामाण्याभ्युपगमाच्च, स्वरूपेऽपि प्रामाण्येऽतिप्रसङ्गात्। नचाशेषज्ञाभावप्रतिपादकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, *"हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः"* [ ] इत्यादिवेदवाक्यानां तत्सद्भावावेदकानामेवानेकशः श्रवणात्। अथ कर्मार्थवादपरत्वात्तेषां न तत्सद्भावाऽऽवेदकत्वम्; कुतः पुनः तत्परत्वं तेषाम् न पुनः तत्सद्भावावेदकत्वम्? तस्य असत्त्वाच्चेत्; तदपि कुतः? प्रमाणान्तरात्, तस्य कर्मार्थवादपरतया तत्सद्भावानावेदकत्वाद्वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; सर्वज्ञाऽसत्त्वग्राहिणः प्रमाणान्तरस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्। द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः; तथाहि—सर्वज्ञाऽसत्त्वसिद्धौ आगमस्य कर्मार्थवादपरतया तत्सद्भावानावेदकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सर्वज्ञाऽसत्त्वसिद्धिरिति। पौरुषेयोऽप्यागमः किं सर्वज्ञप्रणीतः, तदभावविधातृपुरुषप्रणीतः, अन्यप्रणीतो वा तद्बाधकः स्यात्? यदि सर्वज्ञप्रणीतः; कथं तद्बाधकः विरोधात्? द्वितीयपक्षेऽपि अशेषज्ञाभावप्रतिपादकागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं जगत् प्रतिपद्यते, न वा? यदि प्रतिपद्यते; तदा युक्तः तत्प्रणीतागमः प्रमाणम्, न पुनरशेषज्ञस्य बाधकः, तथाप्रतिपद्यमानस्य तत्प्रणेतुरेव अशेषज्ञत्वप्रसिद्धेः। अथ न प्रतिपद्यते; कथं तर्हि प्रमाणम् अज्ञानमहामहीधरभराक्रान्तपुरुषप्रणीतत्वात् तथाविधरथ्यापुरुषप्रणीतागमवत्? अन्यप्रणीतपक्षेऽपि एतदेव दूषणद्वयं द्रष्टव्यम्। तन्नागमोऽपि सर्वज्ञबाधकः।

नाप्यभावप्रमाणम्; तस्याग्रे विस्तरतो निराकरिष्यमाणत्वात्। अस्तु वा तत्; तथापि

१ "तस्माद् यत्स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥ ३७॥" मी० श्लो० उपमानपरि०। २ सर्वज्ञत्वेऽपि भां०। ३ वेदवाक्यस्य। ४, ५ तत्सद्भवावेदक—भां०।

प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकविनिवृत्तिरूपं तद्भवद्भिरिष्टम्; तन्निवृत्तिश्च प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा ? प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे तस्य अर्थपरिच्छित्तिहेतुत्वानुपपत्तिः नीरूपत्वात्। यन्नीरूपम् तन्नार्थपरिच्छित्तिहेतुः यथा गगनेन्दीवरम्, नीरूपश्च प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभावप्रमाणमिति। परिच्छित्तिहेतुत्वं हि भावधर्मः[2] स कथं सर्वथा तुच्छस्वभावाऽभावस्य स्याद् विरोधात् ? तद्भावाच्च कथं प्रमाणता परिच्छित्तौ साधकतमस्य प्रमाणव्यपदेशात् ? प्रमाणाऽभावरूपत्वाच्चाऽभावस्य तद्व्यपदेशानुपपत्तिः। यो यदभावः स तद्व्यपदेशं नार्हति यथा ब्राह्मणाऽभावो न ब्राह्मणव्यपदेशम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावश्चाभावप्रमाणमिति।

पर्युदासपक्षेऽपि प्रमाणपञ्चकाऽभावशब्दाभिधेयं भावान्तरं वाच्यम्, तच्च[3] प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मा, तदन्यज्ञानं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किं सर्वथा प्रमाणपञ्चकेन विनिर्मुक्त आत्मा, निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकेन वा ? यदि सर्वथा; कथं सर्वज्ञाभावपरिच्छेदकत्वम् प्रमाणमन्तरेण प्रमेयपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः ? अन्यथा प्रमाणपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेऽपि किं भवदीय आत्मा सर्वज्ञविषये प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तत्वात् तदभावं प्रसाधयेत्, सर्वस्य वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; परचेतोवृत्तिविशेषैरनेकान्तात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; सर्वस्य[4] प्रतिपत्तुः तद्विषये तद्विनिर्मुक्तत्वस्य असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। तन्न प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मपक्षः क्षेमङ्करः। नापि तदन्यज्ञानपक्षः; यतो निषेध्यात् सर्वज्ञत्वात् अन्यत् किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्; तच्च किं क्वचित् कदाचित्कस्यचित्[5] सर्वज्ञत्वाभावं प्रसाधयेत्, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा ? प्रक्षमपक्षे सिद्धसाध्यता; यत्र यदा यस्य किञ्चिज्ज्ञत्वसिद्धिः तत्र तदा तस्यासर्वज्ञत्वसिद्धेरभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षस्तु श्रद्धामात्रगम्यः; कालत्रयत्रिलोकस्थप्राणिनामसाक्षात्करणे तत्र किञ्चिज्ज्ञत्वप्रतिपत्तेरनुपपत्तितः सर्वत्र सर्वदा सर्वस्याऽसर्वज्ञत्वसिद्धेरप्यनुपपत्तेः। तन्नाभावप्रमाणमपि अशेषविदो बाधकम्, इति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं निखिलातीतानागतवर्तमानार्थसाक्षात्कारिणोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य।

यदप्युक्तम्[6]–'अतीतकालादिपरिगतं वस्तु स्वेन[7] स्वेन रूपेण प्रतिभासते' इत्यादि ; तदप्यसारम्; यतः स्वेनैव तत्प्रतिभासते। कथं तर्हि अवर्तमानतया प्रतिभासमानस्यास्य प्रत्यक्षता युक्ता इति चेत् ? परिस्फुटतयाऽर्थस्य ग्राहकत्वात्, नहि सन्निहितदेश-कालतयार्थप्रतिभासः प्रत्यक्षलक्षणम्; स्वोत्सङ्गस्थबालकशरीरे व्याहारादिलिङ्गतो जीवसद्भावावभासस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गात्। किं तर्हि ? परिस्फुटतयार्थप्रतिभासः,स चेत् अतीतादेरप्यर्थस्यास्ति कथन्न तस्य प्रत्यक्षता ? यथा

---

१ "यदि प्रमाणनिवृत्तिमात्रं प्रसज्यलक्षणमभावप्रमाणं वर्ण्यते तदा नासौ कस्यचित् प्रतिपत्तिः, नापि प्रतिपत्तिहेतुः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८५०। २–र्मः क–भां०। ३ "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥ ११ ॥" मीमां० श्लो० अभावपरि०। ४ सर्वज्ञस्य भां०। ५ कदाचित् सर्वज्ञ–ब०, ज०। ६ पृ० ८८ पं० १०। ७ स्वेन रूपेण आ०। ८–मानस्य प्रत्य–भां०।

च इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षस्य देशविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि परिस्फुटप्रतिभासत्वन्न विरुद्ध्यते तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि । न चैवम् अतीतादेर्वर्तमानतापत्तिः वर्तमानार्थग्रहणग्राह्यत्वात् वर्तमानार्थवत् इत्यभिधातव्यम्; दूरदेशार्थस्य अदूरदेशार्थग्रहणग्राह्यत्वात् अदूरदेशार्थवत् अदूरदेशतां[1] प्राप्नेः ।

एतेन 'इदमिदानीमिह सत्' इत्यस्यां संविदि वस्तुसत्तावत् तत्प्राक्-प्रध्वंसाभावौ प्रतिभासेते न वा' इत्याद्यपि प्रत्याख्यातम्; यथैव हि इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षे यद्देशविशिष्टं वस्तु नीलरूपमनीलरूपं वा भावरूपमभावरूपं वा तद्देशविशिष्टतयैव प्रतिभासते, तद्वत् सर्वज्ञज्ञानेऽपि यद्देशकालाकारविशिष्टं वस्तु भावरूपमभावरूपं वा तद्देशकालाकारतयैव प्रतिभासते , अतः कथं युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः प्रतिनियतार्थस्वरूपाऽप्रतीतिर्वा[2] यतः सर्वज्ञताऽस्य सुव्यवस्थिता न स्यात् ? भविष्यत्कालस्य हि वस्तुस्वभावस्य वर्तमानवस्तुस्वभावतया प्रतीतौ युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः प्रतिनियतार्थस्वरूपाप्रतीतिश्च स्यात् न पुनर्यथाकालं तत्प्रतीतौ । तन्नेदमपि अशेषविदो बाधकम्। अतः सिद्धं[4] सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वमशेषज्ञसद्भावप्रसाधकम् ।

ईश्वरवादे नैयायिकस्य पूर्वपक्षः—

ननु न सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सर्वज्ञसद्भावः सिद्ध्यति, किन्तु क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात् । न चास्य तत्कर्तृत्वमसिद्धम्; तत्प्रसाधकस्यानुमानस्य सद्भावात् । तथाहि—क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत् । न चायमसिद्धो हेतुः ; सावयवत्वेन क्षित्यादेः कार्यत्वप्रसिद्धेः । तथाहि—कार्यम् उर्वीपर्वततर्वादि, सावयवत्वात् , तद्वत् । नापि

१—मानग्रहण—भां० । २—देशार्थता—भां० । ३—नियतात्मार्थ—भां० । ४ प्रायः अनयैव दिशा सर्वज्ञसमर्थनम् अधोनिर्दिष्टग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्—तत्त्वसं० पृ० ८४६ । सिद्धिवि० टी० सर्वज्ञसि० । आप्तप० पृ० ५४ । अष्टसह० पृ० ४७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३ । शास्त्रवार्त्तास० पृ० ८० । प्रमेयक० पृ० ७० पू० । सन्मति० टी० पृ० ५३ । न्यायवि० वि० पृ० ५५३ । स्या० रत्ना० पृ० ३७० । प्रमेयरत्नमा० पृ० ५४ । सर्वज्ञसि० पृ० १४२ । ५—पूर्वं आ०, ब०, ज० । "संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ।" वैशे० सूत्र २ । १ । १८,१९ । "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्·····सावयवत्वात्" प्रशस्त० कन्द० पृ० ५४ । प्रश० व्यो० पृ० ३०१ । वैशे० उप० पृ० ६२ । "शरीरानपेक्षोत्पत्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकम् कारणवत्त्वात्·····द्रव्येषु सावयवत्वेन तद्गुणेषु कार्यगुणत्वेन कर्मसु कर्मत्वेनैव तदनुमानात् ।" प्रशस्त० किरणा० पृ० ९७ । न्यायली० पृ० २० । न्यायमुक्ता० दिन० पृ० २३ । "ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।" न्यायसू० ४।१।२०। "गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः···तस्य च धर्मसमाधिफलम् अणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यं सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्त्तयति ।" न्यायभा० ४।१।२१। "प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक् प्रवृत्तेः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्त्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादिवत् ।·····

विरुद्धः; निश्चितकर्तृके घटादौ प्रसिद्धत्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; निश्चितकर्तृकेभ्यो व्योमादिभ्यो व्यावर्तमानत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षागमाभ्यामबाधितविषयत्वात्। नापि प्रकरणसमः; प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य हेत्वन्तरस्याऽसंभवात्। तदयं निरवद्यो हेतुर्बुद्धिमन्तं कर्त्तारं साधयन्[2] पक्षधर्मताबलात् जगन्निर्माणसमर्थं सर्वज्ञत्वादिविशेषणविशिष्टं[3] साधयति।

५ स्यान्मतम्–इष्टविघातकृदयं हेतुः; तथाहि–सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् अशरीरो बुद्धिमानभ्युपगम्यते, दृष्टान्ते च घटादौ तद्विलक्षणः कर्त्तोपलभ्यते, दृष्टान्तदृष्टधर्मानुसारेण च अदृष्टेऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवतीति सिसाधयिषितधर्मविपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुः। दृष्टा-

---

अयमपरो हेतुः–बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिव्यक्तं सुखदुःखादिनिमित्तं भवति रूपादिमत्त्वात् तुर्यादिवत्। धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः करणत्वात् वास्यादिवत्।·····बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु स्वासु धारणादिक्रियासु महाभूतानि वाय्वन्तानि प्रवर्त्तन्ते अचेतनत्वात्।" न्यायवा० पृ० ४५७-६७। "विवादाध्यासिताः तनु-तरु-महीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा·····यथा प्रासादादि। न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्; सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९८। न्यायमं० पृ० १९४। "कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ १ ॥" न्यायकुसु० पञ्चमस्त०। "तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तम् ईश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह–यत्स्वारम्भकेत्यादि। यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत्। बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम् ॥ ४७ ॥ द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं विवादास्पदमीदृशम्। बुद्धिमत्पूर्वकं तेन वैधर्म्येणाणवो मताः ॥ ४८ ॥ तन्वादीनामुपादानं चेतनावदधिष्ठितम्। रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादि यथा दृष्टं स्वकार्यकृत् ॥ ४९ ॥" तत्त्वसं०। प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। सन्मति० टी० पृ० १००। "प्रशस्तमतिस्त्वाह–सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात् अप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथामात्राद्युपदेशपूर्वक इति।" तत्त्वसं० पं० पृ० ४३। प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। सन्मति० टी० पृ० १०१।

१ विरुद्धो हेतुः नि–भां०। २ साधयति भां०। ३–विशेषवि–भां०, ब०, ज०। ४ "नन्वेवमशेषज्ञेयज्ञानाधारविधातृपूर्वकत्वे साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः···विरुद्धश्च हेतुः···नैतदेवम्; बोधाधारेऽधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकलत्वं नापि विरुद्धत्वम्। न चात्र···बोधाधारकारणत्वकार्यत्वयोः सामान्यव्याप्तेर्व्याघातः शक्यसाधनः, विशेषेण तु व्याप्तिविरहादसाधनत्वे धूमस्याप्यसाधनत्वप्रसङ्गः।" प्रश० व्योम० पृ० ३०२। "किञ्च व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमानः प्रसिद्ध्यति। कुलालतुल्यः कर्त्तेति स्याद्विशेषाविरुद्धता ॥ व्यापारवानसर्वज्ञः शरीरी क्लेशसङ्कुलः। घटस्य यादृशः कर्त्ता तादृगेव भवेद् भुवः ॥ विशेषसाध्यतायां च साध्यशून्यं निदर्शनम्। कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः ॥" (पृ० १९१) "यदपि विशेषविरुद्धत्वमस्य प्रतिपादितं तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याऽभावात्, अभ्युपगमे वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्।" न्यायमं० पृ० १९८। प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५। "तथाहि सौधसोपानगोपुराट्टालिकादयः। अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वेन निश्चिताः ॥ ७३ ॥ अत एवायमिष्टस्य विघातकृदपीष्यते। अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वप्रसाधनात् ॥ ७४ ॥" तत्त्वसं० पृ० ५०। ५ सिसाधिषित–आ०। सिसाधियिषित–भां०।

न्तश्च साध्यविकलः; घटादौ तथाभूतस्य बुद्धिमतोऽभावादिति। तदसमीचीनम्; यतो न साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तिः सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्, किन्तु सामान्येन। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि व्याप्तिरवधार्यते, तौ च आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च विशेषेषु ग्रहीतुं न शक्यौ, अतो बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वमात्रेणैव कार्यत्वस्य व्याप्तिः प्रत्येतव्या, न शरीरित्वादिना। न खलु कर्तृत्वसामग्र्यां शरीरं प्रविशति, तद्व्यतिरेकेणाऽपि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाश्रयत्वेन स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भात्। अकिञ्चित्करस्यापि शरीरस्य सहचरमात्रेण कारणत्वे वह्रिपैङ्गिल्यस्यापि धूमं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः स्यात्। विद्यमानेऽपि हि शरीरे ज्ञानादीनां समस्तानां व्यस्तानां वाऽभावे कुम्भकारादावपि कर्तृत्वं नोपलभ्यते। 'प्रथमं हि कार्योत्पादककारककलापज्ञानं प्रादुर्भवति, ततः तत्करणेच्छा, ततः प्रयत्नः, ततः फलनिष्पत्तिः' इत्यमीषां त्रयाणामेव कार्यकर्तृत्वे सर्वत्राऽव्यभिचारः।

सर्वज्ञता चास्याऽखिलकार्यव्रातस्य कर्तृत्वात् सिद्धा, यो यस्य कर्ता स तदुपादानाद्यभिज्ञः यथा घटोत्पादकः कुम्भकारो मृद्दण्डाद्यभिज्ञः, जगतः कर्त्ता चायं भगवान् ईश्वर इति। उपादानं हि जगतश्चतुर्विधाः परमाणवः, निमित्तकारणम् अदृष्टादि, भोक्ता आत्मा, भोग्यं तनुकरणादि। न चैतदनभिज्ञस्य क्षित्यादौ कर्तृत्वं संभवतीति। ते च तदीयज्ञानादयो

१ "अथ बुद्धिमत्तया ईश्वरस्य शरीरयोगमपि प्रतिपद्यते तेनापि प्रतिपद्यमानेन शरीरादयो नित्या अनित्या वा अवश्यमेषितव्याः।...अथ नित्यान् शरीरादीन् कल्पयसि एवमपि दृष्टविपरीतं कल्पितं भवति दृष्टविपर्यं प्रतिपद्यमानेन बुद्धेर्नित्यत्वं प्रतिपत्तव्यम्...इच्छा तु विद्यते अक्लिष्टाऽव्याहता सर्वार्थेषु यथा बुद्धिरिति।" न्यायवा० पृ० ४६५। "अशरीरपूर्वकत्वञ्च शक्यसाधनम्; सर्वोऽपि कर्त्ता कारकस्वरूपमवधारयति, तत इच्छति-इदमहमनेन निर्वर्त्तयामि इति, ततः प्रयतते, तदनु कायं व्यापारयति, ततः करणान्यधितिष्ठति, ततः करोति, अनवधारयन् अनिच्छन् अप्रयतमानः कायमव्यापारयन् न करोति इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बुद्धिवत् शरीरमपि कार्योत्पत्तावुपायभूतम्...तदिदमशरीरपूर्वकत्वानुमानं व्याप्तिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टं व्याप्तिबलेन चाभिप्रेतमशरीरित्वविशेषं विरुन्धद् विशेषविरुद्धं ततश्च विरुद्धावान्तरप्रभेद एवेति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः। अत्र प्रतिसमाधिः—न तावच्छरीरित्वमेव कर्तृत्वम्; सुषुप्तस्योदासीनस्य च कर्तृत्वप्रसङ्गात्, किन्तु परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वं तस्मिन् सति कार्योत्पत्तेः। तच्चाशरीरस्यापि निर्वहति यथा स्वशरीरप्रेरणायाम् आत्मनः। आस्ते तत्राप्यस्य स्वकर्मोपार्जितं तदेव शरीरमिति चेत्; सत्यमस्ति; परं प्रेरणोपायो न भवति स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। इच्छाप्रयत्नोत्पत्तावपि शरीरमपेक्षणीयमिति चेत्; अपेक्षतां यत्र तयोरागन्तुकत्वम्, यत्र पुनरेतौ स्वाभाविकावासाते तत्रास्यापेक्षणं व्यर्थम्। न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि रूपादीनां गुणानाम् आश्रयभेदेन द्वयी गतिः तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यति।" प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५। व्योम० पृ० ३०५। २—न शरीर—भां०। ३ चा—भां०। ४ मृत्पिण्डाद्य—आ०। ५ ये च आ०। ६ तदीया ज्ञाना—ज०। "यत् तदीश्वरस्य ऐश्वर्य्यं किं तन्नित्यमनित्यमिति?...नित्यम् इति ब्रूमः...अथास्य बुद्धिर्नित्यत्वे किं प्रमाणमिति? नन्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्त्तन्त इति।" न्यायवा० पृ० ४६४। "तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९७।

नित्याः, कुम्भकारादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणत्वात्। न च साध्य-दृष्टान्तधर्मिणोः सर्वथा साम्यं संभवति; सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्, नहि यादृशोऽग्निर्महानसे दृष्टः तादृश एव पर्वतेऽस्ति।

एकत्वञ्च क्षित्यादिकर्त्तुः अनेककर्तृणामप्येकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्त्युपपत्तेः सिद्धम्। प्रसिद्धा हि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारनियमितानां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः। न चेश्वरस्य इच्छादीनाञ्च एकरूपत्वे नित्यत्वे च सति कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यञ्च विरोधमध्यास्ते; कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन सामग्रीवैचित्र्यसिद्धौ तेषां तद्विरोधाऽसंभवात्।

ननु क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वे अक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णकूपप्रासादादिवत् कृतबुद्धिरुत्पद्येत, न चोत्पद्यते, अतो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रामाणिकम्, इतरं वाऽपेक्ष्येदमुच्यते? यदीतरम्; कथन्न सकलानुमानोच्छेदः धूमादावप्यसिद्धत्वानुषङ्गात्? प्रामाणिकस्य तु नासिद्धत्वम्; कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाऽविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः, पर्वतादौ धूमादिवत्। न च यावन्तः पदार्थाः कृतकाः तावन्तः कृतबुद्धिमात्मन्याविर्भावयन्ति इति नियमोऽस्ति, खातं[1]-प्रतिपूरितायां भुवि अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धेरुत्पादाभावात्। न च अकृष्टप्रभवैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारो बुद्धिमत्कारणाभावेऽपि स्वसामग्रीतस्तेषामुत्पत्तिप्रतीतेरित्यभिधातव्यम्; तेषां पक्षीकृतत्वात्, पक्षे एव साधनव्यभिचारे च न कश्चिद्धेतुर्गमकः स्यात् इत्यनुमानवार्तोच्छेदः। बुद्धिमत्कारणाभावश्चात्र अनुपलब्धितो भवता प्रसाध्यते; एतच्चायुक्तम्; दृश्यानुपलब्धेरेव अभावसाधकत्वोपपत्तेः, न चेयमत्र संभवति क्षित्यादिकर्त्तुरदृश्यत्वात्। अनुपलब्धिमात्रस्य[2] तु अभावसाधकत्वे अतिप्रसङ्गः।

ननु भगवतः परमकारुणिकस्य परार्थप्रवृत्तेर्जगन्निमित्तत्वे दुःखोत्पादकशरीराद्यारम्भकत्वविरोधः, तदविरोधे[3] वा परमकारुणिकत्वा[4]नुपपत्तिः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; धर्माऽधर्मसहकारिणः कर्तृत्वात्, यच्छरीराद्यारम्भे धर्मोऽधर्मो वा सहकारी तस्य सुखाऽसुखरूपफलोपभोगाय तथाविधशरीरादिकमारभते। भगवतो हि 'संसारात् प्राणिनो मोचयिष्यामि' इति परोपकारार्थैव प्रवृत्तिः। मुक्तिश्च एषां धर्माधर्मप्रक्षयात्, तत्प्रक्षयश्च फलोपभोगं विना[5] न घटते इति करुणावतोऽपि तद्विधाने प्रवृत्तिरविरुद्धा। यदि धर्माधर्मवशात्तस्य प्रवृत्तिः, तर्हि ताभ्यामेवाऽखिलकार्योत्पत्तिरस्तु किमीश्वरकल्पनया? इत्यप्यसाधीयः; तयोरचेतनयोः[6] चेतनाधिष्ठितयोरेव स्व-

---

१–त परिपूरितायां भूमावक्रिया–भां०। २–स्य च अ–ज०। ३–धे च प–आ०। ४–त्वाद्यनुप–भां०, ज०। ५ न इति आ०, ब०, ज०। ६ बुद्धिमत्यधिष्ठातरि साध्ये कथमचेतनेन कर्मणा सिद्धसाधनम्, तस्याप्यचेतनतया अधिष्ठात्रपेक्षत्वात्? तथाहि–सर्वमचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्त्तमानं दृष्टम् यथा तन्त्वादि, तथा च कर्मादि। न चास्मदाद्यात्मैव अधिष्ठायकः; तस्य तद्विषयज्ञानाभावात्। तथा च अस्मदाद्यात्मनो न कर्मविषयं ज्ञानमिन्द्रियजम्, नापि परमाण्वादिविषयम्। न च तदभावे तस्य प्रेरकं दृष्टम्। न चाचेतनस्य अकस्मात्प्रवृत्तिरुपलब्धा। प्रवृत्तौ वा परिनिष्पन्नेपि कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकशून्यत्वात्।"। प्रश० व्योम० पृ० ३०४।

कार्ये प्रवृत्त्युपपत्तेः। तथाहि–धर्माधर्मौ चेतनाधिष्ठितौ स्वकार्ये प्रवर्तेते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्। न चास्मदाद्यात्मैव अधिष्ठापको युक्तः; तस्य अदृष्टपरमाण्वादिविषयविज्ञानाऽभावात्। नाप्यचेतनस्य अकस्मात्प्रवृत्तिः, अन्यथा निष्पन्नेऽपि कार्ये तत्प्रवर्तेत विवेकशून्यत्वादिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावत्–क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वं साधनमुक्तम्; [1]तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः, 'कृतम्' इति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्वं वा स्यात्? यदि सावयव[2]त्वम्; तदिदमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वम्, अवयवैरारभ्यमाणत्वम्, प्रदेशवत्त्वम्, 'सावयवम्' इति बुद्धिविषयत्वं वा? तत्राद्यपक्षे अवयवसामान्येनाऽनेकान्तः, तद्धि अकार्यमपि अवयवेषु वर्तत इति। द्वितीयपक्षे तु साध्याऽविशिष्टत्वम्; यथैव हि क्षित्यादेः कार्यत्वं साध्यम् एवं परमाण्वाद्यवयवारभ्यत्वमपि। तृतीयपक्षेऽपि आकाशादिनाऽनेकान्तः, तस्य प्रदेशवत्त्वेऽपि अकार्यत्वात्, प्रसाधयिष्यते चास्य प्रदेशवत्त्वं षट्पदार्थपरीक्षाप्रघट्टके। 'सावयवम्' इति बुद्धिविषयत्वमपि अनेनैवानैकान्तिकम्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवघटाद्यर्थसंयोगाद् 'घटाकाशं पटाकाशम्' इति सावयवप्रतीतिगोचरत्वसंभवात् औपचारिकं तत्त्वत्र इत्यभिधातव्यम्; निरवयव[3]त्वेऽस्य व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत्। तथा च व्यापित्वमप्यस्य औपचारिकमेव स्यात्। नापि प्रागसतः स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्; तत्सम्बन्धस्य समवायाख्यस्य नित्यत्वेन कार्यलक्षणत्वाऽयोगात्, तल्लक्षणत्वे वा कार्यस्यापि क्षित्यादेस्तद्वन्नित्यत्वानुषङ्गात् कस्य बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्येत? निराकरिष्यते चैतल्लक्ष्[4]णं कार्यत्वं विस्तरतः षट्पदार्थपरीक्षायामिति। 'कृत[5]म्' इति प्रत्ययविषयत्वमपि न तल्लक्षणम्; खननोत्सेचनादिना 'कृतमाकाशम्' इत्यकार्येऽप्याकाशे तस्य गतत्वात्। विकारित्वस्य च कार्यत्वे महेश्वरस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गः। सतो वस्तुनोऽन्यथाभा[6]वित्वं हि विकारित्वम्, तच्च ईश्वरेऽप्यस्तीति अस्याप्यपरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गाद् अनवस्था स्यात्। अविकारित्वे चास्य कार्यकारित्वमतिदुर्घटम्। अतः कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः असिद्धो हेतुः।

ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वनिराकरणम्–

किञ्च, कादाचित्कं वस्तु लोके कार्यत्वेन प्रसिद्धम्, जगतस्तु महेश्वरवत् सदा सत्त्वात् कथं कार्यत्वम्? तदन्तर्गतानां तरु-तृणादीनां कार्यत्वात् तस्यापि कार्यत्वे महेश्वरान्तर्गतानां बुद्ध्यादीनां परमाण्वाद्यन्तर्गतानां पाकजरूपादीनाञ्च कार्यत्वात् महेश्वरादेरपि कार्यत्वानुषङ्गः, तथा च अस्याप्यपरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गात् अनवस्था अपसिद्धान्तश्चानुषज्यते।

अस्तु वा यथाकथञ्चिज्जगतः कार्यत्वम्; तथापि किं कार्यमात्रमत्र हेतुत्वेन विवक्षितम्,

---

१ पृ० ९७ पं० १६। "कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः स्यात्, अभूत्वाभावित्वम्, अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वं कारणव्यापारानुविधायित्वं वा।" प्रमेयरत्नमा० पृ० ६४। २ "सहावयवैर्वर्तमानत्वम्, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा?" प्रमेयक० पृ० ७५ पू०। ३–वत्वेनास्य भां०। –वत्वेव्या–ब०, ज०। ४ प्रागसतः स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणम्। ५ कृत्यम् ब०, ज०। ६–भावे हि ज०।

तद्विशेषो वा ? यदि कार्यमात्रम्; कथं बुद्धिमतः कारणविशेषस्य अतोऽनुमानम् ? कारणमात्रेणैवास्याऽविनाभावप्रसिद्धेः तन्मात्रस्यैवातोऽनुमानं स्यात्, तत्र चाऽविप्रतिपत्तिः। हेतोरकिञ्चित्करत्वं[1] विरुद्धत्वं वा; बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कारणमात्रस्यैव प्रसाधनात्।

ननु यथा तार्ण-पार्णादिविशेषान् परिहृत्य अग्निमात्रस्य धूममात्रादनुमानम्, एवं कार्यमात्राद् बुद्धिमत्कारणमात्रस्यानुमानात् कथं विरुद्धत्वमत्र ? इत्यप्यसमीचीनम्; अनुमानस्य प्रतिबन्धावष्टम्भादेव प्रवृत्तेः, प्रतिबन्धश्च कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणैव प्रतिपन्नः धूममात्रस्याग्निमात्रेणेव, न तु बुद्धिमता। न च धूममात्रमपि अग्निमात्रस्य गमकम्; अपनीतपावकापवरकधूमेनाऽनेकान्तात्, अपि तु उच्छलद्बहलपताकाकारविशिष्टम्, तद्वत् कार्यत्वमपि कृतबुद्ध्युत्पादकं बुद्धिमतो गमकम्, न सर्वम्। सारूप्यमात्रेण गमकत्वे च वाष्पादेरपि अग्निं प्रति गमकत्वप्रसङ्गः, महेश्वरं प्रति आत्मत्वादेः संसारित्वकिञ्चिज्ज्ञत्वाऽखिलजगदकर्तृत्वानुमापकत्वानुषङ्गः, वस्तुत्वादेः परमाणुवत् जगदबुद्धिमत्पूर्वकत्वप्रयोजकत्वप्रसङ्गश्च स्यात् तुल्यात्तेपसमाधानत्वात्। ततो वाष्प-धूमसंस्थानयोः केनचिदंशेन साम्येऽपि यथा कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगम्यते, यत्सद्भावात् धूमोऽग्निं गमयति न वाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्यत्वसंस्थानयोरपि।

अथ कार्यत्वविशेषो हेतुः, यो बुद्धिमत्कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन निश्चितः; सोऽसिद्धः; तादृग्भूतस्यास्य क्षित्यादावभावात्। भावे[2] वा जीर्णकूपप्रासादादिवद् अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादप्रसङ्गः। समारोपान्नेति चेत्; सोऽप्युभयत्र अविशेषतः किन्न स्यात् कर्त्तुरुभयत्रातीन्द्रियत्वाऽविशेषात् ? अथ प्रामाणिकस्य अस्येवात्र कृतबुद्धिः, ननु केन प्रमाणेन प्रमातुः प्रामाणिकत्वम्–अनेनानुमानेन[3], अनुमानान्तरेण, आगमेन, लोकप्रतीत्या वा ? तत्राद्यपक्षे अन्योन्याश्रयः; तथाहि–सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्योत्थानम्, तदुत्थाने च हेतोर्विशेषणसिद्धिरिति। अनुमानान्तरञ्च नास्त्येव, सत्त्वे वा तस्यापि सविशेषणादेव हेतोरुत्थानम्, तत्राप्यनुमानान्तराद्विशेषणसिद्धौ अनवस्था। प्रथमानुमानात्तत्सिद्धौ इतरेतराश्रयः। आगमोऽपि युक्तयनुगृहीतः, अननुगृहीतो वा प्रमातुः प्रामाणिकत्वं प्रसाधयेत् ? न तावदननुगृहीतः; अतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुगृहीतः; तदनुग्राहिकाया युक्तेरेवाऽसंभवात्। उक्तयुक्तेश्च आवर्तने चक्रकप्रसङ्गः–अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानस्य हि सिद्धौ तेनागमस्य अनुग्रहसिद्धिः, तदनुगृहीताच्चागमात् प्रमातुः प्रामाणिकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानसिद्धिरिति। नापि 'केनचित् स्रष्ट्रा जगत् सृष्टम्' इति लोकप्रतीत्या प्रामाणिकत्वसिद्धिः; अस्या निर्मूलत्वात् 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति प्रतीतिवत्, वेदे मीमांसकस्य अकृत्रिमत्वप्रतीतिवच्च। न ह्यस्या मूलमिदमनुमानम्; लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रागभावतः तदुत्थानस्यैवाऽसंभवात्। अन्योन्याश्रयश्च; अने-

---

१–त्करत्वं बुद्धि–ब०,ज०। २"उपलम्भे वा तत्र ततो जीर्णदेवकुलादिष्विव अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिः स्यात्।" सन्मति० टी०पृ० ११५। ३ अनेन अनुमानान्तरेण ब०,ज०। ४–शेष सि–भां०। ५–भावात् तदु–भां०।

नानुमानेनास्याः समूलत्वसिद्धौ सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्यानुमानस्योत्थानसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्याः समूलत्वसिद्धिरिति। नाप्यागमः; तत्रापि इतरेतराश्रयत्वानुषङ्गात्–प्रमाणभूतागममूलत्वसिद्धौ हि अस्याः सातिशयपुरुषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्कृतत्वेन प्रमाणभूतागममूलत्वसिद्धिरिति। ततः क्षित्यादेः कृत्रिमत्वप्रतीतिः लोकप्रवादपरम्परायाता न प्रमाणबलप्रभवा।

ननु कृतकेन 'कृतबुद्ध्युत्पादकेनैव भाव्यम्' इति नास्त्ययं नियमः, खात-प्रतिपूरितायां भूमौ कृत्रिममणिमुक्ताफलादौ च अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धेरुत्पादाऽभावात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तत्र अकृत्रिमभूभागादिसंस्थानसारूप्यस्य कृतबुद्धेरनुत्पादकस्य सद्भावतः तदनुत्पादस्योपपत्तेः। न च क्षित्यादावपि अकृत्रिमसंस्थानसारूप्यं संभवति, अकृत्रिमसंस्थानस्यैव भवताऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा अपसिद्धान्तप्रसङ्गः स्यात्। ततोऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकः क्षित्याद्यसंभवी जीर्णकूपादौ दृष्टकर्तृककूपादिसजातीयत्वलक्षणो विशेषो भवताऽभ्युपगन्तव्यः, इति कथन्न असिद्धो हेतुः ?

सिद्ध्यतु वा; तथाप्यसौ विरुद्धः, घटादिवत् शरीरादिविशिष्टस्यैव बुद्धिमतोऽत्र प्रसाधनात्। न चैवं सकलानुमानोच्छेदः सर्वत्रैवं विरुद्धत्वोपपत्तेरित्यभिधातव्यम्; धूमाद्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्य अग्न्यादेः प्रतिपत्तिसंभवात्। अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न विरुद्धत्वमित्यप्ययुक्तम्; दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्य अतः प्रसिद्धेः नादृश्यविशेषाधारस्य, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः खरविषाणाधारतत्सामान्यवत्। हेतुव्यापकत्वेनाप्रतिपन्नस्य गम्यत्वे च अभासुररूपोष्णस्पर्शवतोऽप्यग्नेः धूमात् प्रतीतिः स्यात्। ततः कार्यकारणभावविवेकं कुर्वता यादृशात्कारणात् यादृशं कार्यमुपलब्धं तादृशादेव तादृशमनुमातव्यम्, यथा यावद्धर्मात्मकाद्वह्नेः यावद्धर्मात्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढप्रमाणात्प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात् तादृशस्यैवाग्नेरनुमानम्। न च प्रासादादिकार्यवत् क्षित्यादिकार्येऽपि अतिशयतारतम्यप्रतीतेः तत्कर्तुरतिशयवत्त्वसिद्धिः; तद्वदस्मादृशस्यैव कर्तुरतिशयवतः सिद्धिप्रसङ्गात्। क्षित्यादिनिर्माणे तस्यासामर्थ्यादन्यादृशोऽसौ सिद्ध्यति; इत्यप्ययुक्तम्; तत्र कर्त्रभावस्यैव एवं प्रसङ्गात्, अन्यादृशस्य कर्तुः हेतुव्यापकत्वेन कदाचिदप्यप्रतीतेः। अव्यापकस्य च गम्यत्वे 'व्यापकमगम्यम्, अव्यापकं तु गम्यम्' इति महन्न्यायकौशलम्!

अथ परिशेषात् हेतुव्यापकत्वेन अखिलकारकपरिज्ञानाद्यतिशयवान् कर्तृविशेषः प्रसाध्यते, न ह्यनवगतकारकसामर्थ्यः कार्यस्य कर्त्ता सर्वस्य सर्वकर्तृत्वप्रसङ्गात्। न चास्मदादेः क्षित्याद्यशेषकारकसामर्थ्यावगमोऽस्ति परमाण्वादेरतीन्द्रियत्वात्, ततोऽशेषकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं कर्तृत्वं तस्य सिद्ध्यत् तच्छक्तिपरिज्ञानाद्यतिशयपूर्वकमेव सिद्ध्यति; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; प्रयोक्तृत्वस्य शक्तिपरिज्ञानाऽविनाभावाऽसिद्धेः सुप्तप्रमत्ताप्रमत्ताद्यवस्थायां वागादिहेतूनां ताल्वा-

१–परिपू–भां०। २ कृत्रिमत्वाभूभागादिसंस्थानरूपस्य भां०। ३ तत्र आ०। ४ प्रतिपत्तिःभां०। ५ महन्माया– आ०। ६–त्वमस्य सिद्धम् ब०,ज०। कर्तृमप्यसि–भां०। ७ सुप्तप्रमत्तावस्थायां आ०।

दीनां शक्तिपरिज्ञानाऽभावेऽपि प्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। अस्तु वा तदविनाभावः; तथापि न समस्तकारकशक्तिपरिज्ञानं सिद्ध्यति, सूत्रधारादीनां धर्माद्यपरिज्ञानेऽपि प्रासादादौ कारकप्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। यथा च प्रारब्धकार्याऽनिष्पत्तेः सूत्रधारादीनां धर्माद्यशेषकारकाऽपरिज्ञानं तथा ईश्वरस्यापि तदस्तु प्रारब्धाङ्कुरादिकार्याऽनिष्पत्तेस्तत्राप्यविशेषात्। तत्परिज्ञानेऽपि उपभोक्तुरदृष्टवशात्तथा तद्विधानं सूत्रधारादावप्यस्तु, प्रतीतिविरोधोऽप्युभयत्राऽविशिष्टः। भवतु चास्यैव तत्परिज्ञानम्; तथापि एकस्याखिलकारकाधिष्ठातृत्वानुपपत्तिः, अनेकस्याऽपि अनेककारकाधिष्ठातृत्वोपपत्तेः। न हि 'निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्' 'एकनियमितैरनेकैर्वा' इति नियमोऽस्ति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्—एकेन हि क्वचिदेकं कार्यं क्रियते यथा पटः कुविन्देन, क्वचित्त्वनेकं यथा घटघटीशरावादि कुम्भकारेण, अनेकश्चानेकेन यथा घट-पट-मकुट-शकटादि कुलालादिना, क्वचिदनेकेनाप्येकं यथा उद्देहिकाभिर्वल्मीकम्, न खलु तासां कश्चिदेकोऽधिष्ठाताऽस्ति। न च प्रासादादिकार्ये अनेकस्थपत्यादीनामेकसूत्रधाराधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिः; प्रतिनियताभिप्रायाणामेकसूत्रधाराऽनधिष्ठितानामपि प्रवृत्त्यविरोधात्। एकसूत्रधाराधिष्ठितानेकस्थपत्यादीनां प्रवृत्त्युपलम्भाच्च जगतो महेश्वरैकाऽधिष्ठातृकल्पने अनेकोद्देहिकानामेकेनाऽनधिष्ठितानां प्रवृत्त्युपलम्भात् तस्य तेनाऽनधिष्ठितस्यापि प्रवृत्तिः किन्न स्यात् उभयप्रतीत्योः प्रामाण्याऽविशेषात्?

अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतुः; द्विविधानि हि कार्याण्युपलभ्यन्ते, कानिचिद् बुद्धिमत्पूर्वकाणि यथा घटादीनि, कानिचित्तु तद्विपरीतानि यथा अकृष्टप्रभववृक्षादीनि, इत्युभयप्रतीत्योः प्रामाण्येन उभयोः सिद्धिसंभवात्। तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे 'सँश्यामः तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्, व्यभिचारविषयस्य सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात्। ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः; तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणादीश्वराद् विभिन्नबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वाऽभावात्। दृष्टान्ते हि घटादौ बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्ववत् समवायिकारणाद्व्यतिरिक्तबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वेनापि व्याप्तिः कार्यत्वस्य प्रतिपन्ना। व्यतिरिक्तबुद्धिमत्कर्तृसद्भावाभ्युपगमे चाँऽनवस्था। न चैकस्यैव समवायिनिमित्तकारणत्वं युक्तं घटादौ तथानुपलम्भात्, तत्रानुपलब्धस्यापि कल्पने क्षित्यादेरबुद्धिमद्धेतुकत्वं किन्न कल्प्येत अविशेषादिति?

---

१ "तथापि कर्त्तुर्नैकत्वं व्यभिचारोपदर्शनात्॥ ९२॥ एककर्त्तुरसिद्धौ च सर्वज्ञत्वं किमाश्रयम्?" तत्त्वसं० पं० पृ० ५७। "नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः। नानाप्रयोक्तृकत्वस्य क्वचिद्दृष्टेरसंशयम्॥६३॥" तत्त्वार्थश्लो०पृ० ३६७। "न ह्ययं नियमः निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यं नापि एकनियतैर्बहुभिः इति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्॥" प्रमेयक० पृ० ७९ पू०। सन्मति० टी० पृ० १३१। २ "स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोऽनुवर्ण्यते। कैश्चित् पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्धेतुतास्थितैः॥ ३८॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६२। ३ पश्यामः ब०, ज०। ४ वा—भां०।

कालात्ययापदिष्टश्चायम्; अकृष्टप्रभवाङ्कुरादौ कर्त्रभावस्य अध्यक्षेणैवाध्यवसायात् अग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववत्। ननु यद् दृश्यं सत् प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते तस्य अतोऽभावः नान्यस्य; अन्यथा आकाशादेरप्यभावः स्यात्, न चायं दृश्यः तत्कथमतोऽस्य अभावः स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; यतोऽस्य सिद्धे कुतश्चित्प्रमाणात्सद्भावे अदृश्यत्वेनाऽनुपलम्भः स्यात्, तत्सद्भावश्च अस्मादेव, अन्यतो वा प्रमाणात् सिद्ध्येत् ? प्रथमपक्षे चक्रकम्–अतो हि तत्सद्भावे सिद्धे अस्याऽदृश्यत्वेनानुपलम्भः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च कालात्ययापदिष्टत्वाभावः, ततश्चास्मात् तत्सद्भावसिद्धिरिति। द्वितीयोऽपि पक्षोऽनुपपन्नः; तत्सद्भावावेदकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽभावात्। ५

अस्तु वा तत्सद्भावः, तथापि अस्याऽदृश्यत्वे शरीराभावः कारणम्, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ? न तावत् शरीराभावः; अशरीरस्य कार्यकर्तृत्वानुपपत्तेः। तथाहि–नेश्वरः क्षित्यादेः कर्त्ता अशरीरत्वात्, मुक्तात्मवत्। ननु शरीरं कर्तृत्वसामग्र्यां न प्रविशति तदभावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वमात्रेण स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भात्; तदसत्; शरीरसम्बन्धेनैव तत्प्रेरणोपलम्भात्, तत्सम्बन्धो हि आत्मनः सशरीरत्वम्, तस्मिन्सत्येव स्वशरीरेऽन्यत्र वा कार्यकर्तृत्वमुपपद्यते। शरीराभावे मुक्तात्मवज्ज्ञानाद्याश्रयत्वमप्यसंभाव्यम्; तदुत्पत्तावस्य निमित्तकारणत्वात्, तत्कारणाभावेऽपि तदुत्पत्तौ मुक्तात्मनोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, बुद्धिमन्निमित्ताऽभावेऽपि वा क्षित्याद्युत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात्। नित्यत्वात्तेषामदोषोऽयम्; इत्यप्यसुन्दरम्; ज्ञानादीनां नित्यत्वेन क्वचिदप्यप्रतीतेः, 'ईश्वरज्ञानादयो न नित्याः ज्ञानादित्वात् अस्मदादिज्ञानादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च। तेषां दृष्टस्वभावातिक्रमे वा भूरुहादीनामपि स स्यादविशेषात्। ततो ज्ञानादीनां शरीरसम्पाद्यत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, तत्कथमकिञ्चित्करं शरीरम्, यतः सहचरमात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गिल्यस्यापि धूमं प्रति कारणता प्रसज्येत ? न हि पैङ्गिल्यमात्रं धूमकारणम् हरितालादौ तत्सद्भावेपि धूमानुत्पत्तेः। वह्निविशेषितस्य तद्धेतुत्वे तु न किञ्चिद्विरुद्धम्, यथैव हि इन्धनसम्बद्धो वह्निर्धूमोत्पादकः नान्यः, तथा वह्निविशेषितं पैङ्गिल्यं तन्निबन्धनं नान्यत्। विद्यादिप्रभावस्य च अदृश्यत्वहेतुत्वे कदाचिदसौ दृश्येत्। न खलु विद्याभृतां तन्त्रादिमताश्च शाश्वतिकमदृश्यत्वं दृष्टम्। इतरविद्याभृद्भ्योऽस्य वैलक्षण्याद् दृष्टस्वभावातिक्रमेष्टौ जगतोऽपि इतरकार्यवैलक्षण्यात् तदतिक्रमेष्टिः किन्न स्यात् ? पिशाचादिवत् जातिविशेषोऽस्याऽदृश्यत्वे हेतुः; इत्यप्यसुन्दरम्; एकस्य जातिविशेषाऽसंभवात् अनेकव्यक्तिनिष्ठत्वात्तस्य। १० १५ २० २५

१–दृष्टत्वे आ०। "ननु कुतोऽयं शरीरवानपि अदृश्यः विद्यादिप्रभावात्, जातिविशेषाद्वा ?" स्या० रत्ना० पृ० ४३३। २ शरीरावयवः–ब०, ज०। ३–त्वानुपलब्धेः आ०। ४ "तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७१। "तत्सम्बन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः।" सन्मति० टी० पृ० ११९। "अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवद्भवेत्॥ ७८॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६६०। ५ "बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत्। इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः॥ १२॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६०।

अस्तु वाऽदृश्योऽसौ, तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ? प्रथमपक्षे कुम्भकारादेरपि तत्कारणत्वप्रसङ्गः सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। द्वितीयपक्षे तु योगिनामपि तत्कर्तृत्वानुषङ्गः। अथ योगिनां तथाभूतमशेषार्थविषयं विज्ञानं नास्ति तेनाऽयमदोषः; अस्य कुतः[1] तत् सिद्धम् ? सर्वकर्तृत्वाच्चेत्[2], अन्योन्याश्रयः—सर्वज्ञत्वसिद्धौ हि सर्वकर्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति। तृतीयपक्षोऽप्यसाम्प्रतः; अशरीरस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वप्रतिषेधात्। व्यापारवत्त्वमपि अशरीरस्यासम्भाव्यम्; व्यापारो हि कायकृतः, वाक्कृतो वा स्यात् ? उभयमपि अशरीरे न सम्भवत्येव। न च कस्यचिदपि एवंविधा प्रतीतिरस्ति यद् 'वचनतः कायेन वाऽहमीशेनात्र प्रेरितः' इति। व्यापारश्च क्रिया, सा चाऽस्य दुर्घटा। तथाहि—निर्व्यापारः ईश्वरः सर्वगतत्वात् आकाशवत्, सक्रियत्वे चास्य अतादवस्थ्यानुषङ्गादनित्यत्वं स्यात्, स्वावस्थातोऽविचलद्रूपस्यैवार्थस्य नित्यैकरूपतोपपत्तेः। न च परमाणुभिर्व्यभिचारः; तेषामपि परिणामाऽनित्यत्वस्येष्टेः, ईश्वरस्यापि तद्वत्तदिष्टौ अपरबुद्धिमद्धेतुकत्वानुषङ्गाद् अनवस्था, अन्यथा तेनैव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः।

प्रतिकार्यञ्चास्य एकदेशेन, सर्वात्मना वा व्यापारः स्यात् ? एकदेशेन चेत्; तर्हि यावन्तिकार्याणि तावद्भिरेव ईश्वराऽवयवैर्भाव्यम् इति निरंशेश्वरप्रतिज्ञा हीयते[3]। सर्वात्मना व्यापारे यावन्ति कार्याणि तावद्धा ईश्वरस्य भेदप्रसङ्गात् एकेश्वरप्रतिज्ञाक्षतिः। किञ्च, असौ येनैकेन स्वभावेन एकं कार्यं करोति तेनैव तत्स्थित्यादिकं कार्यान्तरञ्च, स्वभावान्तरेण वा ? यदि तेनैव; स्थित्युत्पत्तिविपत्तीनां कार्यान्तराणाञ्च क्रमः वैचित्र्यञ्च न स्यात्। स्वभावभेदे वाऽनित्यत्वम्।

ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वम्, कर्तृत्वम्, अन्यद्वा स्यात् ? ज्ञातृत्वञ्चेत्; तत्किं ज्ञातृत्वमात्रम्, सर्वज्ञातृत्वं वा ? तत्राद्यपक्षे ज्ञातैव असौ स्यान्नेश्वरः, न हि यो यज्जानाति स तत्र 'ईश्वरः' इत्युच्यते अन्यज्ञातृवत्। द्वितीयपक्षेऽपि अस्य सर्वज्ञत्वमेव स्यात् नैश्वर्यम् सुगतादिवत्। अथ कर्तृत्वम्; तर्हि कुम्भकारादीनां बहुप्रकारकार्यकर्तृणामैश्वर्यप्रसङ्गः। नाप्यन्यत्; इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण अन्यस्य ऐश्वर्यनिबन्धनस्य ईश्वरेऽभावात्। अथ तयोरेव तत्र तन्निबन्धनत्वमिष्यते, नन्वत्रापि ताभ्यां क्रोडीकृतं सर्वम्, किञ्चिद्वा ? सर्वस्य क्रोडीकारे युगपत्सर्वमुत्पद्येत्। किञ्चिच्चेत्; तर्हि इच्छाप्रयत्नविषयस्य क्रमिकत्वे कथमेकरूपत्वं तयोः स्यात् ? किञ्च, इष्यमाणार्थावच्छेदेन इच्छोत्पद्यते, न चोत्तरकालभाव्यात्ममनःसंयोगजज्ञानविषयीकारं विना तत्र नियतविषयमात्मानमप्यसौ स्वीकर्तुं समर्थः।

१—तः सिद्धम् आ०। २ "यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं साध्यते, सर्वज्ञत्वाच्च प्रयोक्तृन्तरनिरपेक्षं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन, तदा परस्पराश्रयो दोषः कुतो निवार्येत ?' तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६८। प्रमेयक० पृ० ७८ पू०। सन्मति० टी० पृ० १२८। ३ हीयेत ब०, ज०, भां०। ४ "सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसन्धेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गात् विचित्रत्वानुपपत्तेरिति।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७९। ५ चाऽ—ब०, ज०। ६—विषयीकारम् आ०।

किञ्च, अस्य सिसृक्षासञ्जिहीर्षे किं युगपद् भवतः, क्रमेण वा ? युगपद्भावे सृष्टि-संहारयोः यौगपद्यप्रसङ्गः । क्रमेण उत्पत्तौ कारणं वाच्यम्, कारणापेक्षायाश्च नित्यत्वक्षतिः । अथ नित्यमपि इच्छाप्रयत्नादिकं विचित्रसहकारिसन्निधानात् कार्यवैचित्र्यं विदधाति, ननु ते[2] सहकारिणोऽतदायत्ताः, तदायत्ता वा ? अतदायत्तत्वे तैरेव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः । तदायत्तत्वे तदैव ते कुतो न भवन्ति ? तद्धेतूनामभावादिति चेत्; तेऽपि 'तदायत्ता न वा' इत्यादि- ५
दूषणं तदवस्थम् इत्यनवस्था । किञ्च, एते सहकारिणः तस्योपकारकाः, न वा ? यद्यनुपकारकाः; कथं सहकारिणः अतिप्रसङ्गात् ? उपकारकत्वे अस्य परिणामित्वम् तत्कृतोपकारस्य अतोऽनर्थान्तरत्वात्, अर्थान्तरत्वे 'तस्य' इति व्यपदेशो न स्यात्, तेनाप्युपकारान्तरकरणे अनवस्था ।

किञ्च, ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्मपारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयो- १०
जनोद्देशेन, क्रीडया, निग्रहानुग्रहविधानार्थम्, स्वभावतो[3] वा ? यथारुचि प्रवृत्तौ कदाचिदन्यादृश्यपि सृष्टिः स्यात् । कर्मपारतन्त्र्ये च अस्य स्वातन्त्र्यहानिः, एतदेव हि स्वातन्त्र्यम् ईश्वरत्वं वा यदनन्यमुखप्रेक्षित्वम् । अथ करुणया; तर्हि कारुणिकत्वाद् युगपत् सर्वानपि अभ्युदयेन युञ्ज्यात्, ततो न कश्चिद् दुःखितः स्यात् । अथ 'एषामभ्युदयः स्यात्' इत्यनयैवेच्छया तानि तानि कर्माणि अनुभावयति, सोऽयं प्रक्षालिताऽशुचिमोदकत्यागन्यायः । कारुणिकस्य १५
हि एतदेव कारुणिकत्वम्—यत् 'अन्येषां दुःखलेशोऽपि मा भूत्' इत्यनुसन्धानम् । अथ ईश्वरः किं करोति, पूर्वार्जितैः कर्मभिरेव ते तथा वशीकृता येन दुःखमनुभवन्ति; तर्हि तस्य कः पुरु-

---

१ "स्यादेतत् नेश्वर एव केवलं कारणमपि तु धर्माधर्मादिसहकारिकारणान्तरमपेक्ष्य करोति···तदेतदसम्यक्; यदि हि सहकारिभिः कश्चिदुपकारिभिः (?) कश्चिदुपकारः कर्त्तव्यो भवेत्, तदा तस्य सहकारिणि व्यपेक्षा । यावता नित्यत्वात् परैरनाधेयातिशयस्य न किञ्चित्तस्य सहकारिभिः प्राप्तव्यमस्तीति किमिति तांस्तथाभूतानुपकारिणः सहकारिणोऽपेक्षेत ? किञ्च, येऽपि ते सहकारिणः तेऽपि सर्वे एवेश्वरस्यायत्तजन्मतया नित्यं समवहता एव"·····तत्त्वसं० पं० पृ० ५४ । २ "ननु तेऽपि तज्ज्ञानाद्यायत्तजन्मानः किन्न सर्वदा सन्निधीयन्ते ? अथ नैव ते तदायत्तोत्पत्तयः तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतुरनैकान्तिकः ।" सन्मति० टी० पृ० १२२ । प्रमेयक० पृ० ७९ उ० । ३ "अथायमीश्वरः कुर्वाणः किमर्थं करोति ? लोके हि ये कर्त्तारो भवन्ति ते किञ्चिदुद्दिश्य प्रवर्त्तन्ते इदमाप्स्यामि इदं हास्यामि चेति, न पुनरीश्वरस्य हेयमस्ति दुःखाभावात्, नोपादेयं वशित्वात् । क्रीडार्थमित्येके । एके तावद् ब्रुवते क्रीडार्थमीश्वरः सृजति इति नन्वेतदयुक्तम्; क्रीडा हि नाम रत्यर्थं भवति···न च रत्यर्थी भगवान्···विभूतिख्यापनार्थम् इत्यपरे···एतदपि तादृगेव···किमर्थं तर्हि करोति ? तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्त्तते इत्यदुष्टम् ।" न्यायवा० पृ० ४६३ । न्यायवा० ता० टी० ४।१।२१। न्यायमं० पृ० २०२ । ४ "तथा चापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥५४॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५३ । तत्त्वसं० पृ० ७६ । ५ "अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पाऽस्य जायते । सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥ ५२ ॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५२ । तत्त्वसं० पृ० ७६ । प्रमेयक० पृ० १९ उ० । सन्मति० टी० पृ० १३० । स्या० रत्ना० पृ० ४४७ । ६ एतेषाम् भां० ।

षकारः ? कर्मणामुपभोगेनैव प्रक्षयोपपत्तेः । अदृष्टापेक्षस्य च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया ? कल्पितोऽपि असावदृष्टाधीनश्चेत्, जगदेव तदधीनमस्तु किमनेनान्तर्गडुना ? अथ धर्मादिप्रयोजनमुद्दिश्यायं प्रवर्तते; तर्हि कथमसौ कृतकृत्यः स्यात् तस्य तत्प्रयोजनविरोधात् ? क्रीडासंद्भावे च कथं वीतरागता रथ्यापुरुषवत् ? परमपुरुषश्चेश्वरः 'बाल-ग्रहिलवत् क्रीडति' इति महच्चित्रम् ! निग्रहानुग्रहप्रदत्वेऽपि कथं वीतरागद्वेषता ? तथाहि—रागवान् ईश्वरः, अनुग्रहप्रदत्वात्, राजवत्। तथा, द्वेषवानसौ निग्रहप्रदत्वात् तद्वत् । अथ स्वभावतोऽसौ प्रवर्तते यथा आदित्यः प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशयति, तर्हि चैतन्यस्य सतोऽपि अकिञ्चित्करत्वात् जगतोऽचेतनस्यापि स्वभावतः प्रवृत्तिरस्तु, किमधिष्ठातृपरिकल्पनया ? तस्य अनादौ काले स्वभावेनैव स्थितत्वात् । कथमचेतनस्य देशादिनियमः निष्पन्नेऽपि वा कार्ये प्रवृत्तिर्नस्यात् ? इत्यन्यत्रापि समानम्, नित्यादिस्वभावस्येश्वरस्यापि तद्दोषप्रतिपादनात् ।

बुद्धिमत्त्वञ्चास्य अनित्यया बुद्ध्या, नित्यया वा स्यात् ? न तावन्नित्यया, तन्नित्यत्वस्य प्रतीत्या अनुमानेन च बाधितत्वप्रतिपादनात् । अथ अनित्यया; कुतोऽसौ जायेत—इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्, समाधिविशेषात्, तदुत्थधर्ममाहात्म्यात्, अनुध्यानमात्राद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; अशरीरस्यास्य अन्तःकरणस्य अन्यस्य चेन्द्रियस्यानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, उपपत्तौ वा न सर्वज्ञता तज्जनितज्ञानस्य नियतविषयत्वात् । किञ्च, अचेतनाश्चक्षुरादयः केनचिदधिष्ठितास्तज्ज्ञानं जनयन्ति, अनधिष्ठिता वा ? यद्यनधिष्ठिताः; तदा जगदपि अचेतनाः केनचिदनधिष्ठिताः जनयन्तु अलमधिष्ठातृकल्पनया । अथाधिष्ठिताः; किमधिष्ठात्रन्तरेण, तेनैव वा ? अधिष्ठात्रन्तरेण चेत्; अनवस्था । तेनैव चेत्, चक्रकम्; तथाहि—ज्ञाताः सन्तस्ते प्रेर्यन्ते, प्रेरिताः ज्ञानं जनयन्ति, जनितज्ञानाः ज्ञाता भवन्तीति । समाधिविशेषः अनुध्यानञ्च ज्ञानविशेष एव, तस्य च अद्याप्यसिद्धेः कथं स्वस्मादेव स्वस्योत्पत्तिः ? समाधिविशेषाऽसंभवे च कथं तदुत्थो धर्मस्तत्र संभाव्येत, यतस्तन्माहात्म्याज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् ? अशरीरस्य च समाधिविशेषादिकं मुक्तात्मवद् दुर्घटमेव । अतः कारणाऽसंभवाद् ईश्वरे ज्ञानसद्भावाऽनुपपत्तेः कथं तत्र बुद्धिमत्ता सिद्ध्येत् ? अथ नित्याऽनित्यबुद्धिविशेषानपेक्षया बुद्धिसामान्येन तत्र तद्वत्ता प्रसाध्यते; तदप्यसारम्; द्वितीयविशेषस्याऽसंभवात्, न खलु नित्यो बुद्धिविशेषः कदाचिदप्यनुभूयते, अनित्यस्यैवाऽस्य सर्वदाऽनुभवात् । अतः सिद्ध्यत् तत्सामान्यमनित्यबुद्धिविशेषाधारमेव सिद्ध्येत्, तद्विशेषस्य चेश्वरे कारणाऽसंभवतोऽसंभवात् कथं तदाधारमपि तत्सामान्यं सिद्ध्येत् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चिद् बुद्धिमत्त्वमस्य, तथापि शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः, सर्वं शास्त्रं प्रमाणमेव स्यात् ईश्वरप्रणीतत्वात् तत्प्रणीतप्रसिद्धशास्त्रवत् । प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च ; सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वात्, आदेशविधायिनाञ्च प्रतिलोमाचरणविरोधात् । संसार-

१ "क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ॥ ५६ ॥" मीमांसाश्लो० पृ० ६५३ । तत्त्वसं० पृ० ७७ । २ तत्राद्यः प—ब०, ज०, भां० ।

विलोपश्च ; ईश्वरव्यापारात् पूर्वं तनुकरणाद्यभावतः सकलात्मगुणानां बुद्ध्यादीनामप्यभावात्, नहि तनुकरणाद्यभावे बुद्ध्यादिविशेषगुणाऽभावे च आत्यन्तिकीं शुद्धिमास्कन्दतामात्मनाम् अमुक्तत्वं युक्तमिति। संसारविधाने प्रवृत्तोऽसौ तदभावं विदधाति इति महती प्रेक्षापूर्वकारिता ? ततो[1] यौगोपकल्पितस्येश्वरस्य अखिलजगज्जनकत्वाऽसंभवात् नातः सर्वज्ञतासिद्धिः।

एतेन साङ्ख्यपरिकल्पितस्यापीश्वरस्याऽशेषज्ञता प्रत्युक्ता, जगन्निमित्तकारणत्वेन अस्यां ५
प्रतिज्ञायमानायां प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गाऽविशेषात्।

ननु साङ्ख्यैरीश्वरस्वरूपस्यान्यथा व्यावर्णनात् कथं यौगोपकल्पितेश्वरपक्षोक्तदोषानुषङ्गः ?

ईश्वरस्वरूपवादे सांख्यस्य पूर्वपक्षः—

तथाहि—"*क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।*" [योगसू० १।२४] तत्र "[2]*अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः।*" [योगसू० २।३] [3]कर्माणि शुभाशुभानि, तद्विपाँकाः १०
कर्मफलोपभोगरूपाः, आशँयाः नानाविधतदनुगुणसंस्काराः, तैरपरामृष्टो यः पुरुषविशेषः स ईश्वर इति। न चैवं सर्वमुक्तात्मनामीश्वरत्वप्रसङ्गः तदपरामृष्टत्वाऽविशेषात् इत्यभिधातव्यम्; तेषां सर्वदा बन्धेनाऽपरामृष्टत्वाऽसंभवात्। यो हि सर्वदा बन्धविनिर्मुक्तः क्लेशादिभिरपरामृष्टः स ईश्वरः। न च तदन्ये मुक्तात्मानस्तथाविधाः ; तेषां प्राकृत-वैकारिक-

---

१ ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वसमर्थनपराः ग्रन्थाः—वैशेषिक सू० २।१।१८-१९ । प्रशस्तपादभा० पृ० ४८-४९ । कन्दली पृ० ५४ । व्योमवती पृ० ३०१ । प्रशस्त० किरणा० पृ० ९७ । वैशे० उप० पृ० ६२। न्यायली० पृ० २० । मुक्तावं० दिन० पृ० २३ । न्यायसू०, भाष्य, वा०, वा० ता० टी० ४।१।२० । न्यायमं० पृ० १९४ । न्यायकुसु० पञ्चमस्तवक । तत्खण्डनपराश्चेत्थं द्रष्टव्याः—प्रमाणवा० २।१०—२८ । तत्त्वसं० ईश्वरप० पृ० ४० । मीमांसाश्लो० सम्बन्धाक्षेप० श्लो० ४३ । प्रकरणपं० पृ० १३४ । विधिवि० पृ० २१० । अष्टश०, अष्टसह० पृ० २६८ । श्लोकवा० पृ० ३६० । शास्त्रवा० श्लो० १९४ । शास्त्रवा० टी० पृ० १९४ । आप्तप० कारि० ८ । प्रमेयक० पृ० ७३ उ० । सन्मति० टी० पृ० ९३ । स्या० रत्ना० पृ० ४०६ । प्रमेयरत्नमा० पृ० ६१ । २ "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।" योगसू० २।५ । "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवाऽस्मिता।" पुरुषो दृक्शक्तिः बुद्धिः दर्शनशक्तिः इत्येतयोः एकस्वरूपापत्तिरेवाऽस्मिता क्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोः अत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्प्यते।" योगसू० व्यासभा० २।६ । "सुखानुशयी रागः"। "दुःखानुशयी द्वेषः।" "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।" योगसू० २।७, ८,९ । "पञ्चपर्वा भवत्यविद्या—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति, एत एव स्वसंज्ञाभिः तमो मोहः महामोहः तामिस्रः अन्धतामिस्र इति चित्तमलप्रसङ्गेन अभिधास्यन्ते।" योगद० व्यासभा० १।८ । ३ "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।" योगसू० २।१२ । ४ "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।" योगसू० २।१३ । ५ "तदनुगुणा वासना आशयः।" योगसू० व्यासभा० १।२४ ।